ोध पत्रिका
वर्ष-२५
अंक-१
112754
ाहित्य संस्थान,
जस्थान विद्यापीठ,
उदयपुर.

शोध पत्रिका के बारे में—

१ पत्रिका का प्रकाशन वर्ष में चार बार होता है—[क] जनवरी–मार्च [ख] अप्रेल–जून [ग] जुलाई–सितम्बर [घ] अक्तूबर–दिसम्बर।

२ लेख की पांडुलिपि कागज के एक ओर टंकित या सुपाठ्य लिखी होनी चाहिए।

३ लेख प्राप्ति, स्वीकृति, अस्वीकृति की सूचना एक माह के भीतर दे दी जाती है।

४ लेख प्रकाशित होने पर लेखक को पत्रिका के सम्बन्धित अङ्क की एक प्रति और लेख के बीस अनुमुद्रण दिये जाते हैं।

५ पत्रिका में समीक्षा के लिये पुस्तक की दो प्रतियां आना आवश्यक है।

अतिरिक्त संचालक, प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा, राजस्थान, बीकानेर के परिपत्र [क्रमांक–ई डी बी/स० शि०/साधा०/डी/जी/ १/ विशेष /६५–६६ [दिनांक २२-३-६६ द्वारा] उच्च, उच्चत्तर व बुनियादी शिक्षण–प्रशिक्षण विद्यालयों तथा सार्वजनिक पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत।

शोध पत्रिका
वर्ष २५, अंक १
जनवरी–मार्च, १९७४

परामर्शदाता

डॉ० रघुबीरसिंह
डॉ० दशरथ शर्मा
डॉ० मोतीलाल मेनारिया
श्री रत्नचन्द्र अग्रवाल
श्री अगरचन्द नाहटा

सम्पादक

डॉ० शांति भारद्वाज 'राकेश'
देव कोठारी

पुरातन इतिहास, पुरातत्त्व, साहित्य, भाषा, दर्शन, कला व संस्कृति की त्रैमासिक अनुसंधानिका

इस अंक का मूल्य : पांच रुपया

वार्षिक | देश में– दस रुपया
विदेश में– पन्द्रह रुपया

साहित्य संस्थान
राजस्थान विद्यापीठ,
उदयपुर

विषयानुक्रम

शोध : एक आत्मलोचन

हमारे देश में शोध-कार्य की दशा अत्यन्त शोचनीय है। परिणामस्वरूप वर्तमान में जो भी अनुसंधान कार्य सम्पन्न हो रहे हैं उनमें मौलिकता का अभाव अधिकांश में दृष्टि-गोचर होता है। इस कारण पी-एच. डी. या अन्य माध्यम से किये गये शोध-कार्यों की संख्या और परिणाम तो बढ़ रहा है किन्तु उपयोगिता की दृष्टि से वे प्रायः निर्मूल्य सिद्ध हो रहे हैं।

स्थिति की गंभीरता का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि शोध विषयों के शीर्षक तो आकर्षक होते हैं परन्तु उनकी सामग्री पुनरावृत्ति-दोष से पीड़ित होती है। बीस-तीस पुस्तकें और कुछ पत्र-पत्रिकाएं एकत्रित करके शोध प्रबन्ध को भाषायी फरेब में निबद्ध कर देना अनुसंधान नहीं है। इसी तरह शोध विषय से सम्बन्धित सन्दर्भ पुस्तकों या पत्र-पत्रिकाओं से पाद-टिप्पणियां चुरा कर अपने शोध प्रबन्ध में सम्मिलित कर लेना शोध अथवा सर्वेक्षण कार्य नहीं हैं। ऐसे उदाहरण भी देखने में आते हैं जबकि शोध-कार्य (पी-एच. डी.) मात्र नौकरी प्राप्त करने के लिये शीघ्रता में पूरा कर लिया जाता है अथवा पैसे देकर शोध प्रबन्ध लिखाया जाता है। नौकरी के लिये पी-एच. डी. की डिग्री खरीदने को 'रिसर्च' कह देना क्या 'रिसर्च' का अपमान या अवमानना नहीं है?

प्राचीन व मध्यकालीन साहित्य, इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति पर अनुसंधान करने वाले अनेक ऐसे शोधकर्मी विद्वान् उपलब्ध हो जायेंगे जो हस्तलिखित शोध सामग्री को देखते ही कतराते हैं या पुराभिलेखीय सामग्री को पढ़ने, अर्थ समझने एवं शोध कार्य में उपयोग करने में गड़े मुर्दे उखाड़ना अनुभव करते हैं अथवा अपनी अज्ञानता से उत्पन्न झेंप को मिटाने के लिये तार्किक शक्ति का सहारा लेते हैं। क्या इस प्रकार की मनोवृति वाले विद्वान् अपने विषय के साथ न्याय कर पाते हैं? क्या वे हमारी प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा

व सभ्यता की रक्षा कर पाते हैं ? क्या शोध की आधारभूत सामग्री की उपेक्षा कर डिग्री प्राप्त कर लेना या पुस्तक छपा देना अनुसंधान के क्षेत्र का भ्रष्टाचार नहीं है ? क्या इस प्रकार की साहित्यिक कूटनीति एवं सांस्कृतिक तस्करी से शोध का अवमूल्यन नहीं होता ?

यह सही है कि पुरानी पीढ़ी के कतिपय विद्वान् आज भी अपने शोध-कार्य के प्रति पूर्णत: जागरूक है, लेकिन उनमें भी पारस्परिक उठा-पटक की जो राजनीति चलती है, उसके लिये कौन जिम्मेदार है ? नई पीढ़ी उनका स्थान लेने के लिये क्यों उदासीन है ? क्यों नहीं विश्वविद्यालयों में शोध का स्तर ऊंचा उठ पाता है ? क्या शोध को मात्र एक दुकान समझ लेना इसका कारण नहीं है ? क्या कॉलेज की शिक्षा समाप्त करते ही नौकरी नहीं मिलने के कारण अपरिपक्व मस्तिष्क को शोध की ओर धकेल देना इस शोचनीय स्थिति के लिये उत्तरदायी नहीं है ?

अपवादस्वरूप अगर कोई विद्वान् शोध की आधारभूत सामग्री को आधार बना कर शोध कार्य आरंभ करता है तो क्या उसे वह सामग्री उपलब्ध हो पाती है ? कुंडली मार कर बैठे हुए लोग क्या उन्हें हतोत्साहित नहीं करते ? शोध यात्राओं के दौरान क्या उसे भोजन व निवास की असुविधाओं का सामना नहीं करना पड़ता ? इसके विपरीत भी क्या उसे वांछित सामग्री प्राप्त करने के सम्बधित व्यक्ति के लिये सामने अनुनय-विनय नहीं करनी पड़ती ? क्या इस सामग्री की तस्करी करने वालों से द्वन्द्व मोल नहीं लेना पड़ता ? क्या आर्थिक कठिनाइयां उसे निरूत्साहित नहीं करती ? क्या यह सही नहीं है कि जो साधन-सम्पन्न हैं वे शोध का श्रम करने से कतराते हैं और जिनके पास साधन-सुविधाएं नहीं है, वे शोध जगत से कटे हुए हैं ?

शोध सामग्री का संकलन व सम्पादन करने के बाद उसके प्रकाशन व वितरण की एक बड़ी समस्या और है। यह सही है कि इस प्रकार के प्रकाशनों का मार्केट अत्यल्प है। खून-पसीना एक करने के बाद भी अगर सम्बन्धित व्यक्ति को अपने परिश्रम का पत्रं-पुष्पं भी नहीं प्राप्त होता तो वह क्यों अपने मूल्यवान समय व श्रम को बर्बाद करेगा ? बड़े प्रकाशक कभी-कभी अत्यन्त 'दयालुता" प्रदर्शित करते हुए किसी कृति को प्रकाशित कर भी देते हैं तो उसके लेखक का किस प्रकार आर्थिक शोषण होता है, यह दर्दभरी दास्तान हृदय में शूल की तरह चुभती है।

कतिपय निजी शोध संस्थाएं शोध के क्षेत्र में काफी लम्बे समय से गतिशील है, उनका स्तरीय कार्य भी दिग्सूचक रहा है किन्तु सरकारी कानून-कायदे व नीतियां उन्हें प्रेरणा प्रदान नहीं करती। केन्द्रीय व राज्य सरकारों के शिक्षा मंत्रालय प्रतिवर्ष बजट प्रावधानों में शोध सामग्री के संकलन, सम्पादन व प्रकाशन के लिये अत्यल्प धनराशि का प्रावधान रखती है, क्या इससे शोध-कार्य का उद्धार संभव है ?

राजस्थान में एक स्थिति यह भी है कि यहां की निजी शोध संस्थाओं को माध्यमिक शिक्षा के स्तर की माना गया है और उसी के अनुसार अनुदान दिया जाता है, जबकि शोध संस्थाओं को कॉलिज शिक्षा के स्तर की या इससे भी उच्च स्तर की माना जाना चाहिये और उसी के अनुसार अनुदान भी मिलना चाहिये। ऐसा करने पर ही शोध के स्तर को बनाया रखा जा सकता है।

आज विपुल शोध-सामग्री विभिन्न ग्रन्थ भण्डारों में भरी पड़ी है। अपार सामग्री लोकमुखाश्रित है। अबाध सामग्री हमारे रीति-रिवाजों व परम्पराओं में विद्यमान है। अनेक शिलालेख मन्दिरों, मठों, उपाश्रयों, खेत-खलिहानों, जंगलों व चौराहों पर बिखरे पड़े हैं। ताम्रपत्र, पट्टे-परवाने, पत्रादि अज्ञानता के कारण नष्ट हो रहे हैं। आधुनिक साहित्य व इतिहास की सामग्री बेतरतीब रूप से पड़ी हुई है।

आवश्यकता इस बात की है कि इस अमूल्य आधारभूत सामग्री का सम्पूर्ण भारत में एकरूप रीति-नीति के अनुसार, क्षेत्र व भाषाई भेद को ध्यान में रखते हुए सर्वेक्षण किया जाय, संकलन किया जाय, सम्पादन किया जाय एवं तत्पश्चात् उसका प्रकाशन कर उचित वितरण सुलभ किया जाय।

यही नहीं, शोध-कार्य के परिमाण को बढ़ाने की अपेक्षा उसमें गुण व स्वरूप की उत्कृष्टता पैदा करनी होगी, नकलची आदतों को बदलना होगा, अपरिपक्व मस्तिष्क को शोध की ओर प्रेरित करने की अपेक्षा परिपक्व मेधा को शोध की ओर अग्रसर करना होगा।

ऐसा करने के लिये शोध-कार्य की निश्चित आचार-संहिता बनानी होगी। एम. ए. की शिक्षा प्राप्त करते समय ही शोध की प्रक्रिया व स्वरूप का अध्ययन अनिवार्य करना होगा और शोध-कार्य में मौलिकता, दृष्टि, पकड़, भाषायी दक्षता, प्रस्तुतीकरण की कला की ओर प्रशिक्षित मार्गदर्शन की व्यवस्था करनी होगी।

यह कार्य किसी एक विद्वान् के सामर्थ्य का नहीं है और न ही निजी क्षेत्र में कार्य करने वाली संस्थाओं के बस का है। इसके लिये अखिल भारतवर्षीय स्तर पर सुनियोजित एवं वैज्ञानिक प्रयास करने होंगे। देश के केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय को शोध के महत्त्व तथा उसकी अपरिहार्य स्थिति को गहराई से अनुभव करना होगा। देश की आर्थिक गरीबी हटाने के लिये किये जा रहे प्रयासों के साथ-साथ ही शोध के ज्ञान की गरीबी को भी हटाना होगा। कागजी आदेशों और योजनाओं से यह कठिन कार्य सम्पन्न न होगा। अच्छा तो यह होगा कि केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय के अधीन ही शोध-सर्वेक्षण के कार्य के लिये एक विशेष अनुभाग स्थापित किया जाय अथवा अलग से एक बोर्ड कायम किया जाय। आर्थिक कठिनाई ऐसे

अनुभाग अथवा बोर्ड के समक्ष उपस्थित न हो इस ओर उसी तरह से सतर्क रहना होगा, जिस प्रकार से देश के अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों के लिये सतर्क व सावधान रहा जाता है।

साथ ही यह भी अनिवार्य है कि शोध-कार्य को राजनीतिक स्वार्थों एवं विभिन्न मतवादों से अछूता रखा जाय। सरकार के अधीन अनुभाग या बोर्ड होने का तात्पर्य यह नहीं है कि शोध-कार्य की मूल आत्मा को ही तोड़-मरोड़ दिया जाय।

जब तक ऐसा नहीं होगा भारतीय सभ्यता व संस्कृति का इतिहास सही रूप से कभी भी सामने नहीं आयेगा। साम्प्रदायिक प्रकाशन होते रहेंगे, सामन्तशाही का प्रशस्ति-गान होता रहेगा और भारत की मूल आत्मा भटकती रहेगी।

— सम्पादक

● डॉ० दीनबन्धु पाण्डेय

ध्रुवस्वामिनी

गुप्त राजवंश के शासक स्कन्दगुप्त के भितरी स्तम्भ-लेख के १८३७ई० में प्रकाशन[1] से इतिहासविदों को यह ज्ञात हुआ कि स्कन्दगुप्त के पिता कुमारगुप्त (प्रथम) चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के महादेवी 'ध्रुवदेवी' से उत्पन्न पुत्र थे[2]। साम्राज्ञी 'ध्रुवदेवी' के सम्बन्ध में इतिहासविदों के लिये प्राथमिक सूचना-स्रोत भितरी का स्तम्भ–लेख ही था। इस अभिलेख की प्राप्ति के उपरान्त स्कन्दगुप्त तथा कुमारगुप्त (प्रथम) के क्रमशः विहार एवं बिल्सड अभिलेखों की जानकारी हुई, जिसमें 'ध्रुवदेवी' का उल्लेख है किन्तु भितरी स्तम्भ–लेख से ज्ञात तथ्य के अतिरिक्त ध्रुवदेवी के सम्बन्ध में कोई अधिक सूचना नहीं मिली।[3] १९०३–४ ई० में बसाढ़ (वैशाली) के पुरातात्त्विक उत्खननों में प्राप्त एक मृण्मुद्रा के अभिलेख से चन्द्रगुप्त (द्वितीय) की पत्नी का नाम 'ध्रुवस्वामिनी' ज्ञात हुआ जो गोविन्दगुप्त की माता थी[4]।

बाणभट्ट रचित 'हर्षचरित' पर ९ वीं श० ई० में शङ्करार्य द्वारा लिखी गई टीका में 'ध्रुवदेवी' का उल्लेख चन्द्रगुप्त के भावज (भ्रातृजाया) के रूप में हुआ है। इसी स्रोत से यह भी ज्ञात हुआ था कि 'ध्रुवदेवी' का रूप बनाकर चन्द्रगुप्त ने दूसरे की पत्नी के

---

१ जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल, भाग ६, पृष्ठ १ एवं आगे।

२ ..... स्वयमप्रतिहतः परमभागवतो महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तस्य पुत्रस्तत्पादानुध्यातो महादेव्यां ध्रुवदेव्यांमुत्पन्नः परमभागवतो महाराजाधिर[ा]जश्रीकुमारगुप्तस्तस्य [।*]

३ इन अभिलेखों के सम्बन्ध में जानकारी के लिये द्रष्टव्य, जे० एफ० फ्लीट, कार्पस इंस्क्रिप्शनम इंडिकेरम, भाग ३, अभिलेख संख्या १२ एवं १०, पृष्ठ ४७ एवं आगे, तथा ४२ एवं आगे।

४ महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्त पत्नी महाराजश्रीगोविन्दगुप्त माता महादेवीश्रीध्रुवस्वामिनी, आर्क्योलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट १९०३–४, पृष्ठ १०७।

प्रति कामुक दृष्टि रखने वाले शक शासक की उसके शिविर में जाकर हत्या की[1]। ११ वीं श० ई० के लेखक राजशेखर की कृति 'काव्यमीमांसा' के १९१६ ई० में प्रकाशन के उपरान्त शर्म गुप्त (अथवा सेनगुप्त) नामक शासक द्वारा किसी समय खसों (शकों) से अवरूद्ध होने के कारण शकाधिपति के लिए 'देवी ध्रुवस्वामिनी' के दिये जाने की घटना की जानकारी हुई[2]। इस प्रकार बाणभट्ट एवं शङ्करार्य द्वारा उल्लिखित घटना का तालमेल 'काव्यमीमांसा' में प्राप्त उल्लेख से बैठा। स्पष्ट ही 'काव्यमीमांसा' में उल्लिखित 'देवी ध्रुवस्वामिनी' शङ्करार्य द्वारा उल्लिखित 'ध्रुवदेवी' ही थी जैसा कि घटना-क्रमों की जानकारी के आधार पर कहा जा सकता है। १९२३ ई० में इतिहासकारों को गुप्तकाल के ही लेखक विशाखदत्त के 'देवीचन्द्रगुप्त' नामक नाटक के कुछ अंश अन्य पुस्तकों में उद्धृत किए हुए प्राप्त हुए[3] जिससे यह ज्ञात हुआ कि 'ध्रुवदेवी' चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के अग्रज शासक रामगुप्त की पत्नी थी जिसे वह किसी संधि में शकों को दे रहा था. चन्द्रगुप्त ने 'ध्रुवदेवी' का वेष बना कर शक शासक के पास जाकर उसकी हत्या कर दी तथा वापस आकर उसने रामगुप्त की भी हत्या की तथा 'ध्रुवदेवी' को अपनी पत्नी बना लिया। इस घटना का पुष्टि-संकेत इतिहासकारों को राष्ट्रकूट शासक अमोघवर्ष प्रथम के संजान अभिलेख[4] तथा

---

१ शकानामाचार्यः शकाधिपतिः चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमानः चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवी वेषधारिणा स्त्रीवेषजन परिवृतेन रहसि व्यापादितः। शंकरार्य ने यह टीका हर्षचरित के षष्ठ उच्छ्वास के निम्नोल्लिखित अंश पर की है—अरिपुरे च परकलत्र-कामुकं कामिनी वेशगुप्तश्चन्द्रगुप्तः शकपतिमशातयदिति।

२ दत्वा रूद्धगतिः खसाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीं
यस्मात्खण्डितसाहसो निववृते श्रीशर्मगुप्तो नृपः

काव्यमीमांसा, बड़ौदा, १९१६, पृष्ठ ४७।

३ (क) जर्नल एशियाटिक, भाग २०३, १९२३, पृष्ठ २०१ एवं आगे;
(ख) इण्डियन एण्टिक्वेरी, भाग, ५२, १९२३, पृष्ठ १८३;
(ग) जर्नल आफ दि बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी, भाग २, अंक १, खण्ड १, १९३७, पृष्ठ २४ एवं आगे;
(घ) वही, अंक २, खण्ड १, पृष्ठ ३०७।

४ एपिग्राफिया इण्डिका, भाग १८, १९२५–२६, पृष्ठ २४८, श्लोक ४८।
हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद्देवीं च दीनस्ततो
लक्षं कोटिमलेखयन्कि (त्कि) लं कलौ दाता स गुप्तान्वयः [।]

गोविन्द चतुर्थ के सांगली तथा कैम्बे अभिलेखों[1] से मिला, जहां भाई की हत्या करने वाले एवं उसकी पत्नी को अपनाने वाले एक गुप्त शासक का उल्लेख है। उपर्युक्त कथानक पर आधारित एक कथा 'मजमलुत् तवारीख' नामक फारसी ग्रन्थ में भी प्राप्त होती है[2], जिसमें उल्लिखित बरकमारीस को विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त द्वितीय) से पहचाना गया है। बरकमारीस के भाई का नाम रवाल दिया गया है और कथानक से सम्बन्धित स्त्री का कोई नाम नहीं दिया गया है।

परम्परा में ज्ञात "ध्रुवदेवी कथानक" की ऐतिहासिकता पर रामगुप्त के शासन-काल के अभिलेखों एवं मुद्राओं के साक्ष्य के अभाव में कुछ इतिहासविदों को सन्देह रहा है,[3] किन्तु इस प्रकार के अभाव को ध्यान में रखते हुए भी अधिकांश इतिहासविदों का यह विचार रहा कि "ध्रुवदेवी कथानक" ऐतिहासिक तथ्य समेटे हुए है[4] और अब तो रामगुप्त

---

१ (क) इण्डियन एण्टिक्वेरी, भाग १२, १८८३, पृष्ठ २५०, पंक्ति २३-२४;
(ख) एपिग्राफिया इण्डिका, भाग ७, १९१४-१५, पृष्ठ ३८, श्लोक २२।
सामर्थ्ये सति निन्दितां (ता) प्रविहिता नैवाग्रजे क्रूरता व(ब)न्धुः स्त्री गमनादिभिः कुचरितैरार्वजितं नायशः।
शौचाशौचपराङ्मुखं न च भिया पैशाच्यमङ्गीकृतं
त्यागेनासमसाहसैश्च भुवने यः साहसाङ्को भवत्॥

२ एच० एम० इलियट तथा जे० डाउसन, हिस्ट्री आफ इण्डिया एज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियंस, इलाहाबाद संस्करण, भाग १, पृष्ठ ११० एवं आगे।

३ द्रष्टव्य, एच० सी० राय चौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एंसिएण्ट इण्डिया, कलकत्ता, १९३८, पृष्ठ ४६५, पाद टिप्पणी १।

४ इस मत के प्रमुख प्रस्तावक आर० डी० बनर्जी एवं ए० एस० अल्तेकर आदि रहे हैं, द्रष्टव्य-दि एज आफ इम्पीरियल गुप्ताज, बनारस, १९३३, पृष्ठ २६ एवं आगे; जर्नल आफ दि बिहार एण्ड ओरीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग १४, खण्ड २, १९२८, पृष्ठ २२३ एवं आगे।

की मुद्राओं[१] तथा अभिलेखों[२] की प्राप्ति से इस मत की पुष्टि हो गई है क्योंकि इन प्राप्तियों से रामगुप्त के ऐतिहासिक शासक होने में विवाद नहीं रह गया है। "ध्रुवदेवी कथानक" में कितना सत्यांश है इसका निर्धारण आसान नहीं है। अभी हाल में प्रतिपादित एक मत[३] के अनुसार "ध्रुवदेवी कथानक" की घटना मूलत: समुद्रगुप्त के अग्रज शासक काच के समय की जान पड़ती है क्योंकि समुद्रगुप्त को पराक्रम-शुल्क देकर अपनी पत्नी दत्तदेवी को प्राप्त करने वाले के रूप में उसके एरण अभिलेख में उल्लिखित किया गया है। समुद्रगुप्त का व्यक्तित्व परवर्ती काल में कई प्रकार के भ्रमों के कारण विक्रमादित्य उपाधिधारी चन्द्रगुप्त द्वितीय के व्यक्तित्व में समाहित हो गया था और इस कारण दत्तदेवी से सम्बन्धित घटना कथा-परम्परा में "ध्रुवदेवी" पर आरोपित हो गई।

उपर्युक्त साहित्यिक एवं पुरातात्विक प्राप्तियों में पहले रामगुप्त की और बाद में चन्द्रगुप्त की अंगीकृत पत्नी का नाम 'ध्रुवदेवी,' 'ध्रुवस्वामिनी' तथा 'देवी ध्रुवस्वामिनी' ज्ञात होता है। "ध्रुवदेवी" से सम्बन्धित कथानक ने आधुनिक युग के भी कई साहित्यकारों को आकृष्ट किया है। जयशंकर "प्रसाद" ने "ध्रुवस्वामिनी[४]", राखालदास बंद्योपाध्याय ने "ध्रुवा[५]" तथा कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने "ध्रुवस्वामिनी देवी[६]" नाम से नाटक एवं उपन्यास रचे हैं। जयशंकर "प्रसाद" ने 'ध्रुवस्वामिनी' नाम को इस पात्र के अन्य ज्ञात नाम-रूपों में अधिक स्त्रियोचित माना है।[७]

---

१ (क) जर्नल आफ दि न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी आफ इण्डिया, भाग १२, खण्ड २, १९५०, पृष्ठ १०३ एवं आगे;
(ख) वही, भाग १३, खण्ड २, १९५१, पृष्ठ १२८ एवं आगे;
(ग) वही, भाग १८, खण्ड १, १९५६, पृष्ठ १०८ एवं आगे:
(घ) वही, भाग २३, १९६१, पृष्ठ ३४० एवं आगे;
(ङ) इण्डियन न्युमिस्मैटिक क्रानिकल, भाग ३, १९६४-६५, पृष्ठ १९० एवं आगे तथा खण्ड २, भाग ४, खण्ड १ (एक ही जिल्द में.)

२ जर्नल आफ दि ओरिएण्टल इंस्टीट्यूट: बड़ौदा, भाग १८ अंक ३, १९६९, पृष्ठ २४७ एवं आगे।

३ जर्नल आफ दि न्युमिस्मैटिक सोसाइटी आफ इण्डिया, भाग २८, खण्ड २, १९६६, पृष्ठ १९५ एवं आगे।

४ ध्रुवस्वामिनी, बनारस, वि० सं० १९९०।

५ ध्रुवा, वाराणसी, वि० सं० २०२२।

६ ध्रुवस्वामिनी देवी, प्रयाग, १९४८।

७ उपरि संदर्भित, सूचना, पृष्ठ ८।

भारतीय पुरातत्व विभाग के १९०३-४ की रिपोर्ट के लेखक ने बसाढ़ (वैशाली) की मृण्मुद्रा में उल्लिखित "ध्रुवस्वामिनी" नाम को "ध्रुवदेवी" नाम का ही एक अन्य रूप स्वीकृत करते हुए एक ही व्यक्ति के इस प्रकार के दो भिन्न नाम–रूपों से अभिहित किए जाने की प्रथा का भी सन्दर्भ प्रस्तुत किया है। गुप्त-काल में ही उच्छकल्प के शासक सर्वनाथ के खोह से प्राप्त ताम्र–पत्रों में इस प्रकार के एक ही व्यक्ति के भिन्न नाम-रूप अभिधान का उदाहरण प्राप्त होता है। सर्वनाथ के खोह से प्राप्त एक ताम्र–पत्र में उसके पिता जयनाथ की महादेवी का नाम 'मुरुण्डदेवी' प्राप्त होता।[१] सर्वनाथ के ही उसी स्थान से प्राप्त दो अन्य ताम्र-पत्रों में जयनाथ की पत्नी को 'मुरुण्डस्वामिनी' नाम से अभिहित किया गया है।[२] इस शासक वंश की एक अन्य रानी का नाम भी "स्वामिन्यान्त" हैं[३] किन्तु उसे "देव्यान्त" रूप में भी पुकारा जाता था, यह ज्ञात नहीं है.यद्यपि इस बात की पूरी सम्भावना की जा सकती है। हम यहां विशेष रूप से 'मुरुण्डस्वामिनी" एवं "मुरुण्डदेवी" अभिधानों की ओर ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं। यूनानियों के भारतवर्षीय विवरण[४] तथा भारतीय पौराणिक[५] एवं जैन साहित्य[६] में हमें मुरुण्ड शासकों का उल्लेख प्राप्त है। समुद्रगुप्त की

---

१ जे० एफ० फ्लीट, उपरि संदर्भित, अभिलेख संख्या २८, पृष्ठ १२७, पंक्ति ६

२ वही, अभिलेख संख्या २९ एवं ३१, पृष्ठ १३१, पंक्ति ६ एवं पृष्ठ १३६, पंक्ति ६ क्रमशः।

३ (क) कुमारदेव की महादेवी "जयस्वामिनी",
(ख) वही, अभिलेख संख्या २६, पृष्ठ ११८, पंक्ति ३,
(ग) अभिलेख संख्या २७, पृष्ठ १२२, पंक्ति ३;
(घ) अभिलेख संख्या २८, पृष्ठ १२७ पंक्ति ३;
(ङ) अभिलेख संख्या २९, पृष्ठ १३०, पंक्ति ३,
(च) अभिलेख सं० ३१, पृष्ठ १३६, पंक्ति ३।

४ (क) टालेमी, ज्योग्रेफ़ाक, ७. २. १४, द्रष्टव्य, जे० मैक्रुण्डल, एंशियण्ट इण्डिया एज डेस्क्राइब्ड बाई टालेमी, एस० एन० मजुमदार संपादित, कलकत्ता, १९२७, पृष्ठ २१० एवं आगे।

५ द्रष्टव्य, एफ० ई० पार्जिटर, पुराण टेक्ट्स आफ दि डाइनेस्टीज आफ दि अर्ली एज, आक्सफोर्ड, १९१३, पृष्ठ ७२।

६ (क) मेरुतुंग, प्रबन्धचिन्तामणि, बम्बई, सं० १८८८, पृष्ठ २७

प्रयाग-प्रशस्ति में भी मुरुण्डों का उल्लेख हुआ हैं ।[1] ऐसा जान पड़ता है कि उच्छकल्प के शासक जयनाथ की पत्नी 'मुरुण्डस्वामिनी' मुरुण्ड वंश की राजकुमारी थी । "स्वामिन्यान्त" नामकरण को आधार मानते हुए तथा जयनाथ के समय में उच्छकल्प के शासक वंश तथा मुरुण्डों के आपसी वैवाहिक सम्बन्ध को दृष्टिगत रखते हुए इस बात की सम्भावना जान पड़ती है कि जयनाथ के प्रपितामह कुमारदेव की पत्नी जयस्वामिनी भी मुरुण्डवंश की रही हो । "स्वामिन्यान्त" तथा "देव्यान्त" अभिधान वाली उच्छकल्प के शासकों की मुरुण्डवंशी रानियों की भांति ही बहुत सम्भव है गुप्तवंश की "ध्रुवदेवी" तथा "ध्रुवस्वामिनी" अभिधान वाली साम्राज्ञी मुरुण्ड वंश की राजकुमारी रही हो ।

प्रवक्ता, भारती महाविद्यालय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

(ख) अभिधान चिन्तामणि, अहमदाबाद, सं० २०१३, पृष्ठ २१८

(ग) सिंहासनद्वात्रिंशिका, वेबर संपादित, पृष्ठ २७९ एवं आगे

(घ) प्रभावकचरित, पादलिप्तप्रबन्ध, श्लोक ४४, ५९ एवं ६१

(ङ) आवश्यक बृहद्वृत्ति (द्रष्टव्य, मालवीय कमेमोरेशन वाल्यूम, बनारस, १९३२, पृष्ठ १८४ एवं आगे) ।

१ जे० एफ० फ्लीट, उपरि संदर्भित, अभिलेख संख्या १, पृ० ८, पंक्ति २३ ।

● शंकर गोयल

पृथ्वीराज चौहान (तृतीय) के अन्तिम दिन

तृतीय पृथ्वीराज तराइन की पहली लड़ाई (११९०–९१) जीतने के बावजूद मुहम्मद गोरी के विरुद्ध द्वितीय और अंतिम संघर्ष में हार गया।[1] उसने भागती हुई मुसलमान सेना का पीछा न कर उसे पुनः शक्ति संगृहित करके अपने राज्य पर पुनः आ टूटने का मौका देकर बड़ी भूल की।[2] कदाचित् वह भागी हुई सेना का पीछा कर उसे तहस–नहस करना और घायल शत्रु को पकड़ कर उसको समाप्त कर डालना भारतीय युद्ध प्रणाली और राजपूत–धर्म के विरुद्ध समझता था, किन्तु वह यह नहीं समझ सका कि शत्रु पक्ष की दृष्टि में इस प्रकार की उदारता का कोई मूल्य नहीं था। पृथ्वीराज ने मुहम्मद गोरी को तराइन के मैदान में प्रथम बार पछाड़ कर अपने राज्य और देश को संकट मुक्त मान लिया और भोग–विलास में रत हो गया। यदि 'पृथ्वीराजरासो' में विश्वास किया जाये तो उसने शायद इसी बीच में संयोगिता का अपहरण किया और अजमेर के दुर्ग में उसके साथ अपना सारा समय बिताने लगा।[3] वह रनिवास से बहुत कम बाहर निकलता और राजकीय कर्त्तव्यों की अवहेलना करता था। लक्ष्मीधर के 'विरुद्ध विधि विध्वंस' तथा 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में प्रदत्त परम्परानुसार तो गोरी से अगला युद्ध होने के पूर्व वह अत्यधिक नींद लेने लगा था जिससे उसकी बुद्धि बहुत मन्द हो गई थी। यदि कोई उसे

---

१ विशुद्धानन्द पाठक, उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ८४।

२ मिनहाजुद्दीन स्पष्ट कहता है कि चौहानों ने युद्ध में विजय प्राप्त करके गोरी की सेनाओं को परेशान नहीं किया और वे बिना किसी कष्ट के भली प्रकार अपने देश लौट गई। भारतीय जनश्रुतियां बताती हैं कि पृथ्वीराज ने मुहम्मद गोरी को कई बार पराजित किया और पकड़ा किन्तु प्रत्येक बार राजपूती उदारता के कारण उसे छोड़ दिया, किन्तु मुसलमान साक्ष्य से गोरी पकड़े जाने की बात प्रमाणित नहीं होती। मुहम्मद गोरी के लौट जाने के बाद पृथ्वीराज ने केवल तबरहिन्द को घेर कर वहां के मुसलमान गवर्नर को आत्म–समर्पण के लिये विवश किया था।

३ विशुद्धानन्द पाठक, वही, पृ० ४८५

आवश्यकतावश जगा देता था तो वह अत्यन्त क्रुद्ध हो जाता था।[१] आमलोग और सामन्त गोरी के आक्रमण की आशंका के समय उसके विलासी जीवन व्यतीत करने से अत्यन्त चिन्तित थे।[२] शीघ्र ही दिल्ली भर में कोलाहल मच गया।[३]

दूसरी ओर मुहम्मद गोरी ने अपनी पराजय का बदला लेने के लिए हर प्रकार से तैयारियां कीं। गजनी पहुंच कर उसने उन सब अधिकारियों व सैनिकों को, जो कि रण क्षेत्र से भागे थे, दण्ड दिया और प्रजा के सामने उनको अपमानित करके शहर में घुमाया। स्वयं मुहम्मद गोरी न चैन की नींद सोया और न चैन से बैठा। दुःख और चिन्ता ने उसका साथ नहीं छोड़ा।[४] शीघ्र ही चुने हुए एक लाख बीस हजार अफगान, ताजिक और तुर्क घुड़सवारों के साथ अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित होकर वह भारत की ओर चल पड़ा[५] और दूसरी बार तराइन के मैदान में आ डटा।[६] कुछ भारतीय राजाओं को भी उसने अपनी ओर मिला लिया। ऐसे राजाओं में जम्मू का राजा विजयदेव भी था, जिसने अपने पुत्र नरसिंहदेव को गोरी की ओर से युद्ध करने के लिये भेजा। ज्ञात होता है कि धतैक के राजा ने भी मुहम्मद की सहायता की थी।[७] किन्तु 'पृथ्वीराजरासो' की यह सूचना सही नहीं

---

१ अवस्थी, राजपूत वंश, पृ० ३४८।

२ "बटि आवाज दिल्ली सहर,
चढ्यो साहि सुलितान।"
(देखिये पृथ्वीराजरासो, अन्तिम युद्ध १५)

३ पाठक, पूर्वो०, पृ० ४८५

४ रेवर्टी, तबकाते-नासिरीं, जिल्द १, पृष्ठ ४६४। दशरथ शर्मा, चौहान सम्राट् पृथ्वीराज तृतीय और उनका युग, पृ० ३१

५ कहा जाता है कि अगले वर्ष ही गोरी को सिर पर चढ़ आते देख और अपने महाराज का प्रेम रस में गोते खाते देख चौहान राजपूत सरदार बड़े चिन्तित हुए। उस समय पृथ्वीराज के अन्तरंग मित्र कवि चन्दवरदाई ने निम्न पंक्तियां लिख पृथ्वीराज के पास महलों में भेजी:—
'तं गोरी संग रत्तियां। ता घर गोरी तक्कियां।'
(देखिये, पृथ्वीराज रासो, अन्तिम युद्ध, ३९)।

६ रेवर्टी, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० ४६६-६७

७ हम्मीर महाकाव्य, इ० ए०, जिल्द ८, पृ० ६०

प्रतीत होती कि गहड़वाल राजा जयचन्द छिपे-छिपे गोरी से पत्र-व्यवहार कर रहा था।[१] जो भी हो, मुहम्मद के आ जाने के बाद पृथ्वीराज भी तीन लाख घोड़ों तथा तीन हजार हाथियों के अतिरिक्त बहुत पदातियों से सज्जित होकर तराइन पहुंच गया।[२] भारतीय साक्ष्य उसकी सेना की संख्या बहुत कम बताते हैं क्योंकि वह एक साथ कई मोर्चों पर लड़ रहा था।[३] पृथ्वीराज के पास लगभग १५० सामन्त थे, जो गंगाजल की शपथ लेकर जीतने अथवा मर-मिटने के लिये कृत-संकल्प थे। किन्तु उसका सबसे बड़ा प्रतिद्वन्द्वी जयचन्द अपने अपमान का घाव धोता रहा और युद्ध से अलग रहा। उसी प्रकार जैसे ११७८ में पृथ्वीराज गुजरात के चालुक्यों की सहायता करने से विरत रहा था। लेकिन पृथ्वीराज भयभीत नहीं था। उसने गोरी को एक पत्र लिखा जिसमें यह कहा गया था कि यदि वह गजनी लौट जायगा तो राजपूत सेना उसको किसी प्रकार का नुकसान नहीं होने देगी। किन्तु मुहम्मद गोरी उससे भी अधिक चालाक निकला। उसने यह प्रस्ताव अपने बड़े भाई के पास भेजने का बहाना और युद्धविराम की याचना करके पृथ्वीराज को धोखे में डाल दिया। अत: पृथ्वीराज शिथिल पड़ गया और हिन्दू सेनाएँ भी युद्ध विराम का पालन करती हुई निश्चित सी हो गयीं। गोरी ने अपनी सामने की सेना को तो नहीं हटाया बल्कि पीछे की पंक्तियों को युद्ध के लिये किसी अन्य सुविधाजनक स्थान के लिए हटाने लगा। इसके बाद वह एक दिन हिन्दू शिविर पर धोखे से ऐसे समय पर टूट पड़ा, जब सूर्य भी नहीं उगा था और सभी हिन्दू सैनिक अपनी प्रात: कालीन क्रियाओं में लगे हुए थे। उस समय स्वयं पृथ्वीराज तो सोया ही हुआ था।[४] इस प्रकार युद्ध के लिये तैयार न होने के कारण सारी हिन्दू सेना तितर-बितर हो गयी। अपराह्न में लगभग ३ बजे मुहम्मद गोरी ने अपना अन्तिम और कठोरतम प्रहार किया। हिन्दुओं में भगदड़ मच गई और उसके लगभग २ लाख सिपाही मारे गये। पृथ्वीराज का सर्वप्रथम सहायक गोविन्दराज लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ। मुहम्मद गोरी ने आगे बढ़कर अजमेर को लूटा, उसका काफी बड़ा भाग नष्ट कर दिया और मंदिरों को खण्डित कर दिया। वहाँ भी हजारों सैनिक मारे गये।[५] मुस्लिम सेनाएं वहाँ से चारों ओर बढ़कर चौहान राज्य के अनेक बड़े-बड़े नगरों में प्रविष्ठ हो गयीं।

पृथ्वीराज की मृत्यु से संबंधित अनेक धारणाएं प्रचलित हैं। ऐसा कहा जाता है कि जब वह युद्ध में अपनी सेना की पराजय होती देखकर घोड़े पर चढ़ कर भागा, तब

---

१ विशुद्धानन्द पाठक, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ ४८६.

२ ब्रिग्स, तारिखे-फिरश्ता, जिल्द १, पृष्ठ १७५.

३ देखिये, रासोसार, पृष्ठ ४१५.

४ ब्रिग्स, जिल्द १, पृष्ठ १७६; इलियट एण्ड डाउसन, जिल्द २, पृष्ठ २००; तबकाते नासिरी, रेवर्टी, जिल्द १, पृष्ठ ४६८; प्रचिद्न, पृष्ठ १४४;

५ इलियट एण्ड डाउसन, पूर्वो०, जिल्द २, पृष्ठ २१५.

उसका पीछा किया गया और उसे सरस्वती (हरियाना के हिसार जनपद के अन्तर्गत सिरसा नामक स्थान) के समीप पकड़ लिया गया। सुल्तान उसको अजमेर ले गया, जहां उसका वध कर दिया गया। 'तारीखे नासिरी' के लेखक मिनहाज-उस-सिराज के अनुसार 'पृथ्वीराज को कैद कर लिया गया और उसे दोजख भेजा गया' लेकिन चन्दबरदाई के अनुसार पृथ्वीराज को गजनी ले जाया गया और मुहम्मद गोरी की हत्या कर देने के कारण वहां उसका वध कर दिया गया। मिनहाज ने यह वर्णन तुलाक के सरदार मुइन्नुद्दीन ऊशी से सुना था। कुछ अन्य लेखकों का विचार है कि अजमेर के किले के चित्र कक्ष में सूरों द्वारा मारे जाते हुए मुसलमानों के चित्रों को देखकर मुहम्मद गोरी अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उसने पृथ्वीराज को मरवा डाला।[1] किन्तु मुस्लिम साक्ष्य पृथ्वीराज के मन में मुस्लिम धर्म के प्रति घृणा एवं कैदी हो जाने के बाद भी उसके द्वारा षड़यन्त्र किए जाने की चर्चा करते हैं, जिनके कारण वह मार डाला गया।[2] 'विरुद्ध-विधि विध्वंस' के लेखक लक्ष्मीधर ने लिखा है कि तराइन के दूसरे युद्ध में पृथ्वीराज तुरुष्कों द्वारा मारा गया था, क्योंकि निद्रा व्यसन से उसकी बुद्धि धूमिल हो गयी थी और वह जीवित होने पर भी मृत के समान हो गया था। फरिश्ता ने लिखा है कि युद्ध पूर्व की रात राजपूतों ने आनन्द मनाने में व्यतीत की, जिसके फलस्वरूप जिस समय आक्रमण हुआ, थकी हुई सेना और पृथ्वीराज दोनों सो रहे थे। किन्तु अब ऐसा विश्वास किया जाता है कि युद्ध समाप्त होने के उपरान्त पृथ्वीराज ने कदाचित विवश होकर गोरी की आधीनता स्वीकार कर ली थी। इसके प्रमाणस्वरूप दिल्ली से टंकित 'मुहम्मद-बिनसाम' के उस सिक्के का साक्ष्य प्रस्तुत किया जाता है, जिसमें पृथ्वीराज का भी नाम लिखा है।[3] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी पराजय के बाद पृथ्वीराज सुल्तान के अधीन राज्य करने को सहमत हो गया था। हसन निजामी ने लिखा है कि एक षड़यन्त्र के आरोप में सुल्तान ने पृथ्वीराज के सिर को काटने की आज्ञा दी थी।[4] 'पृथ्वीराज प्रबंध' में लिखा है कि जहां पृथ्वीराज ठहराया गया था, उसके सामने के स्थान पर ही सुल्तान का दरबार लगता था। इससे पृथ्वीराज को पीड़ा होती थी। ऐसा भी कहा गया था कि पृथ्वीराज का मुख्यमंत्री विश्वासघाती था किन्तु पृथ्वीराज को यह ज्ञात नहीं था। उसने एक बार पृथ्वीराज से कहा कि स्वामी भाग्य में ऐसा ही बदा था, अब क्या किया जायेगा। पृथ्वीराज ने उत्तर दिया कि यदि तुम मेरा धनुष–बाण दे दो तो मैं सुल्तान गोरी को मार डालूं। वह सहमत हो गया, किन्तु उसने सुल्तान के पास जाकर सब बातें बता दी। गोरी ने उस जगह अपनी एक धातु-निर्मित मूर्ति रखवा दी। उसके

---

१ प्रबन्ध चिन्तामणि, पृष्ठ १४५।

२ इलियट एण्ड डाउसन, पूर्वनिर्दिष्ट जिल्द २, पृष्ठ २१५, ब्रिग्स, जिल्द १, पृष्ठ ११७

३ टामस, क्रानिकल आव दि पठान किंग्स आफ देल्ही, पृ० १७–१८।

४ दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डायनस्टीज, पृष्ठ ८७, टि० ८१।

बाद मंत्री ने जाकर पृथ्वीराज को धनुष-बाण दे दिया। पृथ्वीराज ने यह बाण चलाया और मूर्ति दो टुकड़े होकर गिर गई। पृथ्वीराज ने यह कहते हुए धनुष को फेंक दिया कि मेरा काम अभी पूरा नहीं हुआ। मुहम्मद गोरी के बदले कोई दूसरा मारा गया है। इस घटना से गोरी ने क्रोधित होकर पृथ्वीराज को एक गड्डे में फैंकवा दिया और उस पर पत्थरों की अविराम वर्षा की गई। 'पृथ्वीराज रासो', 'सुर्जन चरित' और 'आईने अकबरी' में इससे भी अधिक अतिशयोक्तिपूर्ण कहानियां दी गई हैं।

'पृथ्वीराज रासो' में पृथ्वीराज के अंधा बनाने की कथा दी गई है परन्तु इसे दशरथ शर्मा सही नहीं मानते। सन् ११९३ ई० का एक पृथ्वीराज का सिक्का तारागढ़ (अजमेर) से प्राप्त हुआ है जिससे यह स्पष्ट होता है कि तराइन के युद्ध के बाद भी मोहम्मद गोरी और पृथ्वीराज के संबंध अच्छे थे। 'प्रबंध कोष' में लिखा है कि मुहम्मद गोरी पृथ्वीराज को उसका राज्य लौटाना चाहता था। यह ग्रन्थ समकालीन है। अतः यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि पृथ्वीराज तराइन की दूसरी लड़ाई के बाद भी जिन्दा था। आजकल अधिकांश विद्वान् उसे अजमेर ले जाने की परम्परा को स्वीकार करते हैं।[1] इसका समर्थन 'ताजुल मआसिर' से भी होता है। इसका लेखक हसन निजामी गोरी का समकालीन था। वह बताता है कि गोरी पृथ्वीराज को अजमेर ले गया था किन्तु वहां उसे राजद्रोही पाकर मरवा डाला। उसके बाद उसका राज्य उसके पुत्र गोविन्दराज को दिया गया। हसन निजामी पृथ्वीराज के भाई हरिराज द्वारा चौहान शक्ति के पुनरुद्धार का वर्णन भी करता है। अतः उसका वर्णन सत्य के निकट लगता है।

जोधपुर विश्वविद्यालय
जोधपुर,

---

१ **दशरथ शर्मा, वही, पृष्ठ ८७।**

● बापूलाल श्रांजना

संस्कृत नाटकों में शैव-परिवार[1]

संस्कृत नाटकों में धर्म एवं दर्शन के प्रमुख बिन्दुओं का अध्ययन किसी ने किया हो यह देखने में नहीं आया। किसी ने विशेष नाटककार के सम्बन्ध में धर्म एवं दर्शन सम्बन्धी मान्यताओं का यत्र-तत्र उल्लेख किया है, तो किसी ने युग-विशेष की संस्कृति का विवेचन करते हुए तत्कालीन देवी-देवताओं का जो जिक्र किया है, उसमें संस्कृत नाटककारों का भी यत्र-तत्र उल्लेख मिल जाता है। प्रमुख रूप से इस क्षेत्र में दो पुस्तकें आंशिक प्रकाश डालती है।[2]

संस्कृत नाटकों में देवताओं के उल्लेख विभिन्न प्रसंगों में प्राप्त होते हैं तथा उनकी पूजा-अर्चना के प्रयोजन भी भिन्न-भिन्न हैं। सबसे अधिक देवताओं का उल्लेख ग्रन्थ के मंगलाचरण और धार्मिक अनुष्ठानों के अवसरों पर किया गया है। भास से लेकर राजशेखर तक नाटकों में जिन देव-देवियों का उल्लेख हुआ है, उनके नाम है-अग्नि, इन्द्र, सूर्य, वरूण, यम, रूद्र-शिव, विष्णु, ब्रह्मा, प्रजापति, बृहस्पति, स्कन्द गणेश, कुबेर, चन्द्रमा, कामदेव, बलराम, गृहदेवता, नगरदेवता, वनदेवता, उद्यान देवता, देवियाँ, देव सामान्य, पृथ्वी, सरस्वती, लक्ष्मी, शची, पार्वती (गौरी, अम्बिका, उमा शिव के साथ) कात्यायनी, सप्त अम्बिकाएं, विन्ध्यनिलया गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, नागराज, विद्याधर, सिद्ध, सिद्धांगनाएं, अाप्सराएं या सुरांगनाएँ नागाङ्गनाएँ, रोहिणी आदि। यहाँ तक कि गंगा, यमुना और अन्य नदियाँ भी अपने दिव्य स्वरूप को लेकर आयी हैं। शेष, जयन्त, लोकपालों का व दिक्पालों का उल्लेख मिलता है। ब्रह्मत्त्व का भी यत्र-तत्र उल्लेख है। राम, कृष्ण, बुद्ध और हनुमान-तत्संबधित कथा-प्रसंगों में अपने पूर्ण स्वरूप में भासमान दिखाई देते है।[3]

---

१ आॅल इण्डिया आरियण्टल कांफ्रेंस के २६ वें अधिवेशन (उज्जैन में आयोजित) पर पठित निबन्ध।

२ (क) डॉ० भगवतशरण उपाध्याय-कालीदास का भारत, भाग २

(ख) चित्रा शर्मा-संस्कृत नाटकों में समाज-चित्रण।

३ द्रष्टव्य-लेखक का शोध-प्रबन्ध 'संस्कृत नाटकों में धार्मिक तत्व'

संस्कृत नाटकों में रुद्र-शिव का स्वरूप

हिन्दू त्रिमूर्ति में ब्रह्मा, विष्णु के साथ शिव आते हैं। संस्कृत नाटककारों ने वैदिक रुद्र का शिव के साथ एकीकरण किया है। आलोच्य नाटकों में शिव परमदेवता के रूप में आए हैं। अभिधाएं या विरुद जो उनके लिए दिए गए हैं, उनसे उनका सर्वशक्तिमान होना अभिव्यक्त हो जाता है। अभिज्ञान शाकुन्तल, अनर्घराघव, विक्रमोर्वशीय और प्रियदर्शिका में शिव को 'अष्टमूर्ति'[१] का विरुद दिया गया है। इससे उनकी महानता व प्रभूत गुणसंपन्नता का परिचय मिलता है। देवता रुद्र के आठ भिन्न-भिन्न व्यक्त रूप थे और इनकी दृश्य आकृतियों के आठ प्रकार थे—रुद्र, भव, शर्व, ईशान, पशुपति, भूम, उग्र और महादेव। शतपथ व सांख्यायन में अग्नि के भिन्न-भिन्न आठ रूप कहे गए हैं।[२] अभिज्ञान शाकुन्तल में कालिदास जल, अग्नि, होता, सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी और वायु इन आठ प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले अष्टमूर्ति शिव की वंदना मिलती है।[३] इसी प्रसंग में अभिज्ञान शाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र, महावीर चरित में आया ईश,[४] अभिज्ञान शाकुन्तल व मृच्छकटिक में आया ईश्वर[५], अनर्घराघव में आया महेश्वर[६], परमेश्वर[७] व जगतपति और विद्धशालभञ्जिका का देवदेव[८] विरुद भी उल्लेखनीय है। अभिज्ञान शाकुन्तल के भरतवाक्य में शिव को 'परागत शक्ति आत्म भूः' कहकर ऐसी कृपा करने को कहा गया है, जिससे फिर जन्म न लेना पड़े।[९] विक्रमोर्वशीय के मंगलाचरण में शिव का ही ईश्वर नाम सटीक और सच्चा बतलाया है, जिस नाम से दूसरे देवों को नहीं पुकारा जा सकता है। सच्ची भक्ति से मिलने वाले शिव से सब तरह के कल्याण की कामना की गई है। वेदान्तियों का वह अकेला पुरुष है। पृथ्वी व आकाश में रमा रहने पर भी उन सबसे अलग बना रहता है।[१०]

---

१ (क) अभिज्ञान शाकुन्तल १.१, (ख) अनर्घराघव ३.५४, (ग) विक्रमोर्वशीय १.१, (घ) प्रियदर्शिका १.२

२ भगवतशरण उपाध्याय-कालिदास का भारत, पृ० १४२

३ अभिज्ञान शाकुन्तल १.१

४ (क) वही, १.१. (ख) महावीर चरित १.१

५ (क) अभिज्ञान शाकुन्तल ४.६७ (ख) मृच्छकटिक १.११

६ अनर्घराघव ३.३२

७ वही, ३.५४, ७.६७

८ विद्धशालभञ्जिका १.१

९ अभिज्ञान शाकुन्तल ७.३५

१० विक्रमोर्वशीय १.१

इन विशेषणों को पौराणिक व औपनिषदिक विचारधारा से प्रभावित माना जा सकता है। वायु व ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार समस्त जगत शिव का स्वरूप है, शिव को महादेव कहा गया है।[१] महेश्वर[२] व देवदेव[३] की उपाधियों से विभूषित किया गया है। उपनिषदों में शिव के महत्त्व एवं प्रभाव का अपूर्व वर्णन हुआ है।[४] विश्व का अधिपति व देवताओं का भी द्रष्टा कहा गया है।[५] अनेकशः शिव का उल्लेख परमात्म तत्त्व के रूप में हुआ है।[६]

वैदिक परम्परा से प्रभावित स्थल : शिव का भयंकर स्वरूप

वैदिक एवं पौराणिक वृत्तों में प्राप्त रुद्र के भयंकर स्वरूप का उल्लेख संस्कृत नाटककार बड़ी ही रुचि से करते हैं। शिव को काल[७], महाकाल[८], महाकालनाथ[९], त्रिलोक्यव्ययनाटिकानयनट[१०] भूतेश[११] और भूतनाथ[१२] जैसे विरुद संस्कृत नाटककारों ने दिए हैं। ये विरुद भी वैदिक व पौराणिक परम्परा से सुसंबद्ध रहे है। ऋग्वेद में उनके पुरुषघातक व गोघातक शस्त्रों की चर्चा की गई है।[१३] पुराणों में उन्हें उग्ररूपधर क्रोधागार[१४] अतिभैरव[१५], क्रूर व विभत्सरूप वाला कहा गया है।[१६]

---

१ (क) वायु पुराण ५.४१, २७.१६ (ख) ब्रह्माण्ड पुराण २.१०.१७,२.९.७५
(ग) विष्णु पुराण १.८.७ (घ) मत्स्य पुराण २५०,५५
(ङ) नारायणराव सिद्धेश्वरी–पौराणिक धर्म एवं समाज, पृ० २९

२ विष्णु पुराण १.९.९६

३ मत्स्य पुराण २५०,५५

४ (क) छान्दोग्य उपनिषद् ३.७.४ (ख) बृ. उप. ३.९.४
(ग) महानारायण उपनिषद् १३.२ (घ) श्वेता. उप. ३.२.४

५ श्वेता–उपनि० ३.४

६ वही. १.१०

७ कर्पूरमंजरी ४.१९

८ अविमारक ३.११

९ अनर्घराघव, ४७५

१० वही. ७.११

११ मालतीमाधव ११

१२ अनर्घराघव, पृ० ४५२

१३ ऋग्वेद १.११४.१०

१४ वायु पुराण–२४–२४७, २४–२५९

१५ वही, २४–२५९

१६ वही, ९७–१७८

संस्कृत नाटककारों ने सब जड़-चेतन के सृजन–संहार के कारणभूत शिव से मंगलाचरण किए हैं। अनर्घराघव में त्रिलोक के संहार अभिनय में नट, महाकल्प में भुवन को जलाने वाले या चतुर्दश भुवन को ग्रास बनाने वाले शिव के रूप का पुनः पुनः कथन हुआ है।[1]

पाशुपत संप्रदाय व शिव

शैव मत के पाशुपत सम्प्रदाय से प्रभावित स्थल भी संस्कृत नाटकों में आए हैं। जिसका महत्त्व ईस्वी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में था। नाटककारों ने अप्रत्यक्ष रूप से शिव की अपनी अभिधाओं से इस ओर संकेत किए है।[2] पशुपति वह देव है जो दृढ़ भक्ति व ध्यान से सरलता से प्राप्त किया जा सकता है।[3] पाशुपतास्त्र प्राप्त करने की आकांक्षा अर्जुन को रही है, जिसका संकेत दूतघटोत्कच में भी आया है।[4] खण्डपरशु शिव का अभिधान महावीर चरित में हैं।[5] हजारों वर्षों तक शिष्य रहने व ससैन्य कार्तिकेय को परास्त करने पर शिव द्वारा परशुराम को 'परशु' देने की बात भी मिलती है।[6] इस समस्त पद्धति के ४ पाद है-विद्या, क्रिया, योग और कार्य तथा तीन सिद्धान्त पति, पशु और पाश।[7] इसकी छाया यत्र–तत्र संस्कृत नाटकों में देखी जा सकती है। विक्रमोर्वशीय में शिव को प्राणायाम साधकर हृदय में खोजने के लिए कहा है।[8] मृच्छकटिक में शिव की पर्यङ्क नामक विशेष योगासन द्वारा ब्रह्म में लगी समाधि का उल्लेख है।[9] मालतीमाधव में शक्तिनाथ को सोलह इडा आदि नाभिमण्डन के मध्य सन्निहित स्वरूप होकर, उनके जानने वालों के हृदय में आकार को स्थापित कर, अणिमा आदि भोग सिद्धियों को देने वाले स्थिर चित उपासकों से ढूंढे जाते हुए, ज्ञान–इच्छा–क्रिया रूप अथवा ब्राह्मी आदि आठ शक्तियों से व्याप्त हैं-कालत्रय में भी लोकोत्तर प्रकार से रहने वाला कहा है।[10] अनर्घराघव में भी शिव का

---

१ अनर्घराघव ७. १११, ११२, ११३

२ भगवतशरण उपाध्याय, वही, पृ० १४५–४६

३ विक्रमोवर्शीय १.१

४ दूतघटोत्कच १.२२

५ महावीर चरित, ३.३५

६ वही, पृ. ८६, ३.३४

७ भगवतशरण उपाध्याय, वही, पृ.१४६

८ विक्रमोवर्शीय १.११

९ मृच्छकटिक १.११

१० मालतीमाधव ५.१

पशुपति विरूद आया है ।[1] इस तरह के वृत्तान्तों को भी वैदिक व पौराणिक परम्परा से ही संबंधित माना जाना चाहिए । यथा, मालतीमाधव में शिव को शूलपाणि कहा गया है ।[2] उधर पुराणों में भी भूतपिशाचों के अधिपति शिव को शूलपाणि कहा गया है ।[3] अनर्घराघव में पिनाकपाणि[4] और महावीर चरित में पिनाकी[5] जैसे अभिधान दिए गए हैं । अथर्ववेद में भी रूद्र को धनुषधारी कहा गया है ।[6] शिव के धनुष को ब्रह्मा ने त्रिभुवनविजयी देवों के तेज को एकत्रित करके बनाया है जिसमें बाण भगवान विष्णु, मौर्वी शेषनाग एवं लक्ष्य त्रिपुर बन चुके है ।[7] राम के द्वारा शिवधनुष भंग किए जाने पर उसकी ध्वनि त्रिभुवन में व्याप्त हो जाती है ।

समुद्र मंथन के प्रसंग में उनके कालकूट विष के पान का उल्लेख मिलता है जिसमें उनकी गर्दन नीलवर्ण की हो गई । संस्कृत नाटकों में भी शिव को नीललोहित[8] और नीलकण्ठ[9] उपाधि से विभूषित किया गया है । ये दोनों विरूद भी वैदिक एवं पौराणिक परम्परा से संबंधित हैं । अथर्ववेद में शिव को लालपीठवाला व कृष्णोदर कहा गया है ।[10] पुराण में भी नीलकण्ठ कहा है ।[11]

इन सबके अतिरिक्त ललाट लोचन[12], त्रिनेत्र[13] और विरूपाक्ष[14] जैसे संबोधन विशेष रूप से उग्ररूप रूद्र से ही संबंधित रहे हैं । उधर अथर्ववेद में पहली बार सहस्राक्ष विशेषण

---

१ अनर्घराघव ७.३६
२ मालतीमाधव १.२
३ (क) वायु पुराण ६६.२८९ (ख) ब्रह्माण्ड पुराण ३.४११
४ अनर्घराघव ४५३
५ महावीर चरित २.३६
६ अथर्ववेद ११.२.६
७ अनर्घराघव ३.३२, ३.५४
८ (क) अभिज्ञान शाकुन्तल ७.३५ (ख) महावीर चरित, पृ० ८९
९ (क) मालतीमाधव ५.२.३, (ख) मृच्छकटिक १.२ (ग) अनर्घराघव ७.१०५ (घ) कर्पूरमंजूरी १३९
१० अथर्ववेद ११. १. ७-८
११ (क) विष्णु पुराण १. ८. २ (ख) वायु पुराण ३.१.३२, १०.५०
१२ अनर्घराघव ७.५३, ३.३८,
१३ वही
१४ विद्धशालभञ्जिका १.२

रूद्र (शिव) के वर्धमान प्रभाव का सूचक माना जा सकता है।[1] पुराणों में शिव को सामान्यत: त्रिनेत्र या विरूपाक्ष कहा गया है।[२] संस्कृत नाटकों में त्रिपुरदहन वृत्त को भी सुरूचि से ग्रहण किया गया है। त्रिपुरदहन प्रसंग से संबन्ध रखने वाले अभिधान है- त्रिपुरारि[3], त्रिपुरहर[४], त्रिपुरविजयी[५] और त्र्यम्बक।[६] अनर्घराघव में त्रिपुरदहन का वर्णन भी हैं।[७]

अनर्घराघवा में ही शिव के कैलासरूप पुराना वासस्थान नष्ट नहीं करने और प्रलयकाल में कपालपाणि बनने वाले शिव के वासस्थान वाराणसी का भी उल्लेख है।[८] शिव को इससे संबंधित पदवियों से भी विभूषित किया गया है। गिरीश,[९] गिरिन्द्र, केलासनिकेतन[१०] ऐसे ही अभिधान है। त्र्यम्बक होम में भी उन्हें यज्ञ भाग देने के उपरान्त मूजवत पर्वत की ओर जाने को कहा है। वहां भी रूद्र को गिरित्र, गिरिशय, गिरिचर, कहा है। उत्तरवैदिक साहित्य में शिव गिरि कानन के देवता के रूप में आए हैं[११]

उग्र एवं सौम्य रूपों का समन्वय

आलोच्य नाटकों में शिव के उग्र एवं सौम्य स्वरुप का समन्वय करने वाले अभिधान मिलते हैं, जो नाटककाल में रहे शिव के स्वरूप पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। वे हैं कपाली[१२]

---

१ अथर्ववेद ११. २. २. ७

२ (क) नारायणराव, वही, उद्धृत पाद टिप्पणी

(ख) विष्णु पुराण १९

३ अनर्घराघव ३.४१

४ वही ७.११७

५ मुद्राराक्षस १.२

६ मालतीमाधव ५.२३

७ अनर्घराघव ७.११४

८ वही, ७.१२१

९ (क) वही, ३.३२, ३.५२, ७.४७

(ख) कर्पूरमंजरी १.३

१० अनर्घराघव ७.१२०

११ वाजसनेय संहिता १.६०

१२ अनर्घराघव ७.५२
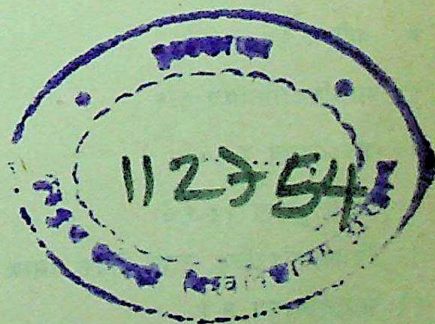
कपालपाणि[1], खट्वाङ्गपाणि[2], धूर्जटी[3], चन्द्रचूड़[4], एणाङ्कचूडामणी[5], तारकेश्वरकिशोर-शेखर[6] शशधरखेखर[7], भूताङ्गभूषण[8], कृतिवासस[9] और श्मशानवासी।[10]

वाजसनेय संहिता व पुराणों में भी शिव चर्मधारी कहे गए हैं। समुद्र मंथन के प्रसंग में चन्द्रमा को ग्रहण करने वाले शिव को महेश्वर कहा गया है।[11] अथर्ववेदीय युग में संभवत: शिव मृत्यु के देवता रहे हैं। उनके भयंकर विकराल श्वानों का उल्लेख हुआ है। रुद्र व मृत्यु का संबंध पिशाचों से उनके सम्बन्ध में भी संकेतित है। मुण्डमाल भैरव से रुद्र का सम्बन्ध उनके कपाली, श्मशानवासी विरूदों पर भी प्रकाश डालते हैं।[12]

संस्कृत नाटकों के मंगलविधानों में और कहीं-कहीं इतर स्थलों पर भी शिव के रौद्र एवं सौम्य रूपों का सुन्दर समन्वय किया गया है। मालतीमाधव के मंगलाचरण में शिव की ऐसी जटाओं से अभिरक्षा की कामना की गई है, जो (जटाएँ) नरकपाल से व्याप्त गिरते गंगाजल से युक्त, भालस्थित लोचनानल से मिश्रित कांतिवाली, केतकी पुष्प के अग्रभाग के संदेह की विषयीभूत, सुन्दर चन्द्र से युक्त, सर्पलताकार रूपमण्डलाकार माला से बंधी हुई हैं।[13] अनर्घराघव में चन्द्रचूड शिव के प्रसंग को अत्यन्त सुरूचि से प्रस्तुत किया गया है। महादेव के सिर स्थित चन्द्र किरणें सूर्य के हाथ में रहने वाले कमल को भी

---

१ अनर्घराघव ७.१२०

२ वही, ७.५३

३ वही, ७.५५

४ वही, ३.३५

५ वही, ७.११२

६ वही, ७.३४

७ वही, पृ० ४७७

८ वही ७.३५

९ मालविकाग्निमित्र १.१

१० अनर्घराघव ४.३०

११ विष्णु पुराण १६.६७

१२ विजयबहादुरसिंह, उत्तर वैदिक समाज और संस्कृति, पृ० २२७-२८

१३ मालतीमाधव १.१

संकुचित कर देती है ।[१] इस चन्द्रमा से चन्द्रकांत मणियाँ पिघलकर जल बन जाती है और पार्वती पुत्र रूप में वृक्षों को पालती-पोषती है ।[२] सिंह-नख के समान कुटिल चन्द्रकला से भयभीत हरिण समीप नहीं आता और हरिण रूप कलंक से मुक्त चन्द्रकला सुन्दर लगती है ।[३] चन्द्रमा मस्तक पर धारण कर महादेव इच्छानुसार रात्रि का निर्माण कर पिशाचों को प्रसन्न करते हैं ।[४] भूषणनाग जटाजूट बांधते समय परिश्रान्त होकर चन्द्रकिरण चूसकर निष्कलंक कर देते हैं । उसे पुनः तृतीयनयन पर उलटाया जाता है, जिससे चूसा हुआ तेज पुनः प्राप्त हो जाय ।[५]

अनर्घराघव में ही आये शिव के कामारि[६] व स्मरारि[७] अभिधान उनके प्रसिद्ध पौराणिक वृत्त कामदहन पर प्रकाश डालते हैं । शिव ने महाकल्प में भुवनमण्डल को जलाने वाले नयन का प्रसार रोकने के लिए ही सन्दर्भ को दग्ध किया ।[८] यह उल्लेखनीय हैं कि विद्धशालभञ्जिका का देवदेव शंकर को भी जीतने वाले कामदेव की श्रेष्ठता कही गयी है ।[९]

अर्द्धनारीश्वर :

संपूर्ण नाटक साहित्य में शिव का अर्द्धनारीश्वर किंवा आत्मना द्वितीय[१०] होने का स्वरूप सर्वाधिक स्तुत्य रहा है । पार्वतीरमण,[११] पार्वतीजीमितेश्वर,[१२] उमादयित[१३] भवानीपति[१४] जैसे विरूदों से बार-बार विभूषित किया गया है । सशक्ति[१५] व शक्तिनाथ[१६]

---

१ अनर्घराघव ७.४५
२ वही ७.४८
३ वही, ७.५१
४ वही, ७.५२
५ वही, ७.५३
६ वही, ७.११२
७ वही, ७.१२६
८ वही, ७.११२
९ विद्धशालभञ्जिका १.१
१० अनर्घराघव ७.३६, ७.३३
११ वही, ७.६५
१२ वही, ७.४८४
१३ कर्पूरमंजरी १.२४
१४ अनर्घराघव ७.६५
१५ प्रतिज्ञा. १.१
१६ मालतीमाधव ५.१

जैसे अभिधान शिव-पार्वती के पति-पत्नी को लेकर आए हैं। औषधिप्रस्थ में महादेव के सांप डरकर छिप गए। पार्वती निर्भय बैठी रही और महादेव पार्वती का पाणिग्रहण कर सके।[१] अर्द्धनारीश्वर का विप्रलम्भ भी संभोग–स्वरूप ही हुआ करता है और विप्रलम्भ भेद असत्य हो जाता है।[२] स्वच्छन्द रूप में एक स्तन है, दोनों भाग में मस्तक पर चन्द्रमा है। दाँए कन्धे पर सर्पराज रूप यज्ञोपवीत है– ऐसे अर्द्धनारीश्वर अर्द्धाङ्ग में संसार को जलाने वाले ज्योतिर्युक्त नयन, आधे में विश्वसंहार को देखने से दया के आँसू, इन दोनों के परस्पर मिलने से तृतीय नेत्र में सिमसिमाहट उत्पन्न हुआ करती है।[३] पार्वती द्वारा आधा विभाजित कर लिए जाने पर संकीर्ण गंगा द्विगुण गभीर होकर बहती है।[४] महादेव की गले की छाया पड़ने से सर्प फणमणि आच्छादित होने पर पार्वती निर्भय होकर शिव का कण्ठालिगन कर लेती है। प्रलयकाल में ब्रह्मा का सारा शरीर नष्ट होने पर केवल कपाल रह जाता है, जिसे शिवधारण करते है।[५] कहीं पार्वती के संदेह कटाक्षों से गंगा की अभि-रक्षा में आकुल शिव का वाक्छल (लास्य) करना पड़ता है,[६] तो कहीं पार्वती के ईर्ष्या व क्रोध को शांत करने के लिए, शिव को बार-बार पार्वती के पैरों पर गिरकर चन्द्रकला रूपी सीप से चन्द्रिका रूपी मोती से युक्त अर्घ्य चरणों में देते है[७] तो कहीं चन्द्रकला से विभूषित संभोग की अभिलाषा वाले शिव-पार्वती देवताओं के प्रिय कहे गए है।[८] विवाह काल में ही पार्वती स्वीय चरणनख स्वरूप चन्द्रमा रूप दर्पण में महादेव के सिर स्थित चन्द्र को देखकर ईर्ष्यायुक्त हो जाती है। विवाह–धूम से आंखे व्याकुल, हर स्थित चन्द्रिका से आह्लादित, उत्सुकतावश वर को देखती है, पर ब्रह्मा को सामने देखकर लज्जित और शिव के स्पर्श से रोमाञ्चित हो जाती है।[९] कहीं आराधना में उपस्थित पार्वती शिव के द्वारा सस्पृह नेत्र देह पर डालने से लज्जा, स्वेद, रोमाञ्च व कम्प आदि भावों से युक्त

---

१ अनर्घराघव ७.३४

२ वही, ७.३७

३ वही, ७.३८

४ वही, ७.११८

५ वही, ११२

६ मुद्राराक्षस १.१

७ कर्पूरमंजरी १.४

८ वही १.३

९ प्रियदर्शिका १.१

होकर पार्वती संभाली हुई कुसुमाञ्जली बीच में ही छोड़ देती है।[1] विद्धशालभञ्जिका शिव के भयंकर उपकरणों, सर्पों के विष और भूतगण से पार्वती की अभिरक्षार्थ (पार्वती को) क्रमश: औषधियों, मणियों व मंत्राक्षर से युक्त किया गया है[2] और भरतवाक्य में कहा गया है कि जब तक शिव का वामाङ्ग स्तनों से स्तवकित है, कानों की सीपी में चाटने योग्य सज्जनों की मधुर सूक्तियां अमर रहे।[3]

नटेश्वर

अनर्घराघव में आया क्रीड़ान्[4] उपमान मुद्राराक्षस के मंगलाचरण शिव के ऐसे ताण्डव का स्मरण किया गया है, जो निरन्तर सीमाओं को ध्यान में रखकर किया गया है–चरणाघात की स्वच्छन्दता से कहीं रसातल में नहीं पहुंच जाय–ऐसी संभावना से बचते बचते। हाथों की उच्छृंखलता कहीं लोकान्तर को शीर्ण न कर दे– भावभंगिमाओं और भुजाओं को संकोच से ही प्रकट करते हुए। लक्ष्य वस्तुओं पर भीषण अग्निकण उगलती नजर न टिकाते हुए, कहीं सब कुछ जलकर खाक न हो जाय।[5] इसी तरह कहीं नृत्यारम्भ में ही शिव के शरीर की वृद्धि देखते ही डर कर गौरी का वामार्ध अलग जा बैठता है और एक ही चरण वाले शिव भयंकर रूप धारण करते हैं।[6] कहीं शिव के ऐसे ताण्डव का उल्लेख है जिसमें नन्दी के हाथों ताडित परवावज में मेघध्वनि की भ्रांति से आए हुए कुमार के मयूर को देखकर सर्पराज वासुकी, गणेशजी की सूंड में आनंदपूर्वक घुसने से दिशाओं को शब्दायमान करने वाले चीत्कारशब्दयुक्त गणेशजी का मुख कम्पन होता है।[7] ताण्डव नृत्य से निवृत होने पर भी सर्पराज को दिशाओं में घूमता देखकर उनकी नृत्य निवृत्ति का विश्वास नहीं होता।[8] नृत्यरत शिव का कण्ठदेश प्रलयान्धकार में विलीन हो जाता है।[9]

---

१ रत्नावली १.१

२ विद्धशालभञ्जिका १.२

३ वही, ४.२७

४ अनर्घराघव ७.१०५

५ मुद्राराक्षस १०२

६ अनर्घराघव ७.१०३

७ मालतीमाधव १.१

८ अनर्घराघव ७.१०४

९ वही ७.१०५

कहीं उनके नृत्य में घूमने लगने पर सारा संसार ही घूमने लगता है और महाभैरवी को पता ही नहीं चलता कि सिर अलग नाच रहा है और धड़ अलग नाच रहा है।[१]

अट्टहास

मुद्राराक्षस में शरदऋतु के वर्णन के प्रसंग में शिव के अट्टहास का आभास करवाया गया है।[२] रत्नावली के मंगल विधान में दक्ष यज्ञ के विनाश के प्रसंग में शिव के अट्टहास का स्मरण किया गया है।[३]

सौम्य एवं मंगल स्वरूप:

शिव,[४] शम्भू,[५] विभू[६] आदि अभिधान रूद्र–शिव के बदले हुए सौम्य एवं मंगल स्वरूप का विस्तार किए हुए है। पुराणों में भी उनके जगत का आनंदकारक,[७] शंकर, शम्भू व शिव अभिधान आए हैं।[८] वाजसनेय संहिता में भी उन्हें एक स्थल पर सुमंगल एवं शिव कहा है।[९]

संस्कृत नाटकों में अनेकशः शिव के लिए हर[१०] का विरूद भवभूति के महावीर चरित के 'भूतकरूणाशान्तात्मान:'[११] जैसे दिव्य, सौम्य एवं पुनीत स्वरूप को लेकर उपस्थित किया गया है।

---

१ वही, ७.१०५

२ मुद्राराक्षस ३.२०

३ रत्नावली १ ३

४ (क) मृच्छकटिक १.४१ (ख) प्रति० पृ० ७४
(ग) प्रियदर्शिका १.२ (घ) रत्नावली १.२, १०३।

५ (क) म. च २.३३ (ख) मृच्छकटिक १.१, १.४१
(ग) रत्नावली १.१ (घ) अनर्घराघव ३.३

६ (क) मुद्राराक्षस १.१ (ख) अनर्घराघव ७.५०

७ मत्स्य पुराण ९३.६५

८ (क) विष्णु पुराण २. ८. ११५ (ख) मत्स्य पुराण १. १. ४५

९ वाजसनेय संहिता १६.१

१० (क) अभिषेक, १.३ (ख) दूतघटोत्कच १.२२ (ग) म. च. २.३३
(घ) मृच्छकटिक, ६.२७ (ङ) अनर्घराघव ७.११८ (च) प्रियदर्शिका, १.१
(छ) रत्नावली ४.११ (ज) अनर्घराघव ७.१५, ७.१११

११ म. च. २८.२

स्कन्द

युद्धदेव व देवताओं के सेनानी स्कन्द[१] ही हैं, जिन्हें कुमार,[२] कार्तिकेय,[३] षण्मुख[४] और योगन्धरायण[५] जैसे अभिधान दिए गए हैं। कुमार का वाहन मयूर है।[६] प्रतिज्ञा-योगन्धरायण के मंगलाचरण में कार्तिकेय का ही स्मरण किया गया है। मृच्छकटिक में शर्विलक वरदानी कार्तिकेय को नमस्कार कर अपने चौर्यकर्म में प्रवृत्त होता है।[७] पुराणों में उनके शरकटों के बीच जन्म लेने की कहानी भी बहुत चली है।

गणेश :

मालतीमाधव के मंगलाचरण में गणेश की वन्दना मिलती है।[८] वहां इन्हें 'वैनायक' कहा गया है। प्रतिज्ञा० में उन्हें 'ब्रह्मचारी' कहा गया है।[९]

गण

शिव के गणों का भी अनेक स्थलों में उल्लेख है।[१०]

पार्वती

पार्वती के संबंध की पर्याप्त चर्चा ऊपर की जा चुकी है। संस्कृत नाटककारों ने पार्वती के भी उमा,[११] पार्वती,[१२] गौरी,[१३] देवी,[१४] भवानी[१५] शिवा,[१६] भगवती,[१७]

---

१ अनर्घराघव ७.४८
२ (क) मालतीमाधव १.२ (ख) प्रियदर्शिका १.२
३ (क) म. च. ८८ (ख) मृच्छकटिक २०३
४ अनर्घराघव ७.४८
५ प्रतिज्ञा १.१
६ मालतीमाधव १.६
७ मृच्छकटिक २०३
८ मालतीमाधव १.७२
९ प्रतिज्ञा, पृ० ७४
१० (क) रत्नावली, १०३ (ख) प्रियदर्शिका १.२
११ प्रियदर्शिका १.२
१२ अनर्घराघव ७.१२२. ७.३४
१३ (क) कर्पूरमंजरी. पृ० ४२ (ख) अनर्घराघव ७.३५
(ग) मृच्छकटिक १.२ (घ) नागानन्द १.१२
(ङ) प्रियदर्शिका १.१ (च) अनर्घराघव ७.४८
१४ (क) मृच्छकटिक ६.२७ (ख) रत्नावली १.३
(ग) मुद्राराक्षस १.१
१५ (क) विद्धशा. भारतवाक्य (ख) म. च. २८.२
१६ रत्नावली १.२
१७ नागानन्द ५.२६

गिरिजा,[1] गिरिसुता,[2] शैलसुता,[3] अद्रिसुता,[4] गिरिन्द्रसुता,[5] चण्डी,[6] शक्ति,[7] रक्तचामुण्डा, विन्ध्यनिलया आदि कई अभिधान शिव की तरह ही दिए हैं, जो उनकी शक्ति व स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं। महाकाल शिव की संहारकारिणी शक्ति–काली है। उसका एकीकरण उमा के साथ नहीं किया जा सकता। वैसे कहीं–कहीं नाटककारों ने ऐसा किया भी है। 'काली' शिव के विवाह के पूर्व दिव्य माताओं के पीछे अनुगमन करती, उनके गणों में उसका स्पष्ट वर्णन हुआ है।[8] नागानन्द में भगवती गौरी को अभिलाषा से भी अधिक वर देने वाली शरणागतों के कष्ट दूर करने वाली और विद्याधरों की कुलदेवी कहा है।[9] मालतीमाधव में करालदेवी की योग–उपासना की चर्चा आई है।[10] मृच्छकटिक में देवी के शुम्भ–निशुम्भ के वध का भी उल्लेख है।[11]

इस विवेचन से स्पष्ट है संस्कृत नाटककारों ने देव समुदाय में शिव को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। रूद्र शिव से संबंधित अनेक उद्धरण यह व्यक्त कर देते हैं। उनकी ऋग्वैदिक, उत्तरवैदिक, पौराणिक और औपनिषदिक स्थिति में एक ओर तो उत्तरोत्तर काल में शिव के स्वरूप का समन्वय होता गया है, दूसरी ओर उनके स्वरूप की स्थिति में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आता गया है। संस्कृत नाटकों के काल तक उनके स्वरूप को पूर्ण निखार के साथ उभरा हुआ पाते हैं। तत्कालीन साहित्य एवं कला के अवशेषों से भी उसकी पुष्टि हुई है। कालिदास के समय में बहुसंख्यक मन्दिर शिव को समर्पित थे। उज्जयिनी का महाकाल नामक ज्योर्लिग, दूसरा बनारस का विश्वनाथ और गोकर्ण के

---

१ रत्नावली १.१

२ कर्पूरमंजरी १.४

३ विक्रमोवर्शीय ४.६६

४ विद्धशा० १.३

५ कर्पूरमंजरी १.३

६ म. च. २.३५

७ (क) प्रतिज्ञा १.१ (ख) म. च. ५.१

८ भगवतशरण उपाध्याय, वही, पृ० १४६

९ नागानन्द ५.२६

१० मालतीमाधव ५.२

११ मृच्छकटिक ६.२७

मन्दिर का उल्लेख कालिदास करते हैं। शिव स्वरूप के बहुसंख्यक नमूने भास्कर्य–कला में उकेरे गये हैं। भास्कर्य–कला में षडानन को मयूर पर आरोहण किए गए उकेरा गया है। कालिदास ने आकृति का अंकन किया है व गुप्तकालीन शिल्पियों ने मूर्तरूप दिया है।[1] त्रिवेन्द्रम की कला में शिव-पार्वती की हाथी दांत की मूर्तियाँ प्रदर्शित हैं। शिव के बाईं ओर पार्वती और दाहिनी ओर गणेश उकेरे गए हैं।[2] अजमेर संग्रहालय की शिव–पार्वती की मूर्तियों के निम्न भाग में गणेश की मूर्ति है।[3] यह मूर्ति शैशव अवस्था की है। यह निर्विवाद है कि स्कन्द पूजा प्रथम शती ई० में प्रचलित थी। तत्कालीन मुद्राओं पर स्कन्द, महासेन और कुमार जैसे नामों के साथ स्कन्द का आकार अंकित किया गया है।[4]

अनुसंधाता,
संस्कृत विभाग,
उदयपुर विश्वविद्यालय,
उदयपुर (राज०)

---

१ भगवतशरण उपाध्याय, वही पृ० १४२–१४७

२ गोपीनाथ, एलिमेण्टस् ऑव हिन्दू इक्नोग्राफी, पृ० १३६–३७, फलक २५, भाग २, खण्ड १

३ वही, फलक २६, चित्र २

४ (क) जे. बी. आर. ए. एस., खण्ड २०, पृ० ३८५

(ख) भण्डारकर, वही, पृ० २१५

डॉ० होतचन्द

भित्ति-चित्रों का संरक्षण

भित्ति-चित्रों का राजस्थानी इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुगलकालीन व राजपूतकालीन चित्रकला के साथ-साथ भित्ति-चित्रों के उदाहरण कई ऐतिहासिक स्मारकों पर प्राप्त होते हैं। इनमें वैराठ के मुगल द्वार, आमेर के महल, भारमल की छतरी, मकदूमशाह का मकबरा व राजस्थान के अन्य स्थान मुख्य हैं। ये भित्ति-चित्र समय, कलाकार व शासकों की रूचि के आधार पर भिन्न-भिन्न पद्धतियों से बने हुए हैं। इनमें तैल-चित्र, स्याह कलम के चित्र, पत्थरों पर चित्र, फ्रेस्को-सेक्को, फ्रेस्को-बोनो व टेम्प्रा आदि भित्ति-चित्रों के नमूने विद्यमान हैं। आमेर महल के सौलहवीं शताब्दि के बने सबसे पुराने भाग में, जो कि मानसिंह महल के नाम से जाना जाता है, दीवारों पर चूने की सफेदी से ढंके चित्रों के चिन्ह भी मिले हैं। ये भित्ति-चित्र किन्हीं कारणोंवश सफेदी द्वारा ढके हुए हैं। ऐतिहासिक सूत्रों से इन जिज्ञासाओं का समुचित समाधान नहीं मिलता कि ये भित्ति-चित्र क्या प्रदर्शित करते हैं तथा ये किस समय के हैं? वे क्यों सफेदी से ढक दिये गये तथा सुरक्षा व संरक्षण की दृष्टि में किस अवस्था में हैं? अत: इन बातों का उत्तर जानने के लिए तथा पुरातात्विक विश्लेषण की दृष्टि से इनको सफेदी की सतह से निकल कर रासायनिक संरक्षण करना परमावश्यक है। भित्ति-चित्रकला के अज्ञात व कलात्मक नमूनों को सविस्तृत जानने की जिज्ञासा तथा उसे इतिहास व कला की शृंखला में जोड़ने की दृष्टि से इस कार्य का अत्यधिक महत्त्व है।

सवाई मानसिंह प्रथम (सन् १५९०) के महल में दीवारों पर बने हुए चित्रों की स्थिति व विवरण उन्हें सफेदी की परतों से निकालने पर ही ज्ञात हो सकते हैं। ये भित्ति चित्र बाह्यतौर से चूने के प्लास्टर में ढके होने के कारण दर्शकों के हाथ व मैल आदि से तो बचे रहे हैं, परन्तु गीले चूने (सफेदी) की पोताई में इनके रंगों को अवश्य प्रभावित किया होगा। सफेदी के पूर्व चित्रों की अवस्था, प्लास्टर पर रंगों की सतह तथा चित्रों पर प्रकृति व मौसम का प्रभाव एवं इस परिप्रेक्ष्य में सफेदी करने के कारण आदि मुख्य बातें ध्यान में लाने योग्य हैं।

भित्ति-चित्र मुख्यत: तीन विधियों द्वारा निर्मित किये जाते हैं- (१) फ्रेस्को (२) टेम्प्रा व (३) तैल चित्र। फ्रेस्को विधि में किसी प्रकार के माध्यम की आवश्यकता

नहीं होती है। गीले प्लास्टर पर चित्र का ड्राइंग बनाकर रंगों को चूने के पानी में घिसकर लगाया जाता है। इस विधि में प्लास्टर में लगा हुआ चूना कैल्शियम कार्बोनेट में परिवर्तित हो जाता है तथा रंग प्लास्टर में भीतर तक चले जाते हैं। इस विधि से बने भित्ति-चित्र अधिक स्थाई होते हैं। टेम्प्रा विधि में रंगों को गोंद आदि में मिलाकर सूखे प्लास्टर पर लगाया जाता है। तैल चित्रों में पूर्णतः लिनसीड या केस्टर आयल में रंगों को घिसकर लगाया जाता है। इस प्रकार इन भित्ति–चित्रों के ऊपर चूने की सफेदी लगाने से कोई रासायनिक-क्रिया तो संभव नहीं, लेकिन भौतिक-क्रिया का प्रभाव अवश्य पड़ता है। सफेदी के चूने में गोंद, गुड़ आदि मिलाकर गीला लेप लगाने से चित्रों की ऊपरी सतह पर भौतिक क्रियाएं प्रारम्भ हो जाती हैं, यथा रंग का कैल्शियम हाइड्रोक्साईड पर चूषण, सूखने की क्रिया, हाइड्रोक्साईड का कार्बनडाई आक्साईड से कार्बोनिशन आदि। सफेदी की सूखी परत जो कि समय के प्रभाव से ग्रस्त है शीघ्र ही रासायनिक-क्रिया द्वारा समाप्त नहीं की जा सकती, जब तक कि किसी अम्ल से रासायनिक-क्रिया न की जावे, अन्यथा कार्बनडाइ आक्साइड युक्त पानी से कार्बोनेटेड चूने पर बहुत ही कम प्रभाव पड़ता है। अतः इस सफेदी को यांत्रिक विधि द्वारा निकालकर यथावश्यक चित्रों को संरक्षण व परिरक्षण देकर सुरक्षित किया जा सकता है। इस विधि में चूने की ऊपरी सतह को कुछ नमी देकर ढीला किया जा सकता है जिसे बाद में किसी चाकू या स्केलपल की सहायता से धीरे–धीरे हटाकर चित्रों को बाहर स्पष्ट किया जा सकता है। चूंकि सफेदी या चूने की सतह चित्रों की सतह से किसी माध्यम या निबन्धन शक्ति द्वारा जुड़ी हुई न होकर सिर्फ भौतिक कारणों से पपड़ी के रूप में जमी हुई होती है, अतः चित्रों की सुदृढ़ स्थिति में इन्हें बिना अधिक नुकसान पहुंचाए, इसी विधि से निकाला जा सकता है। चित्रों में रंगों की स्थिति अगर सफेदी के पूर्व क्षीण अवस्था में प्लास्टर से जुड़ी हुई है तो सफेदी की क्रिया से रंगों पर चूने की निबंधित विशेषताओं के होते हुए भी, रंगों की तह पर गीलेपन व दबाव का विपरीत प्रभाव पड़ता है। तथापि, सफेदी की परत को निकलते समय ऐसी संक्षारित अवस्था को बहुत ही धैर्य व परिरक्षण-क्रियाओं द्वारा बचाया जा सकता है।

मानसिंह महल के निचले, दाहिने व ऊपरी दाहिने भाग में भित्ति–चित्रों को उपर्युक्त विधि द्वारा चूने सफेदी की परतों के अन्दर से निकाला गया। चित्रों की स्थिति का अनुमान सफेदी की परत हटाते समय ही ज्ञात होता है तथा उसे उचित परिरक्षण देकर ही कार्य सम्भव हो सकता है। इस महल के निचले भाग में करीब साढ़े तीन गुणा साढ़े तीन ($3\frac{1}{2} \times 3\frac{1}{2}$) फीट वर्गाकार के दो चित्र सफेदी की परत को हटाकर निकाले गये तथा उचित संरक्षण देकर उन्हें सुरक्षित किया गया। ये सत्रहवीं शताब्दि के समय के श्रीकृष्ण की रासलीला के दो चित्र हैं। दाहिने चित्र में श्रीकृष्ण को चार गोपियों व दो गायों के साथ पेड़ के नीचे खड़े हुए तथा चिड़ियाओं का पेड़ों पर बैठे हुए दिखाया है। बायें चित्र में श्रीकृष्ण व गोपियों

को उसी अवस्था में दिखाया है। इसमें हरा, काला, अम्बर, सफेद (चूना) रंग प्रयोग में लाये गये हैं।

उपरोक्त के अतिरिक्त शैव सन्दर्भ के भी चित्र निकाले गये हैं। इसमें गणेश, भैरव दुर्गा आदि सात आकृतियां हैं जिन्हें बड़ी सावधानी से निकाला गया है तथा उचित संरक्षण द्वारा सुरक्षित किया जा चुका है। यह भित्ति-चित्र लगभग साढे तेरह फीट लम्बा व ३ फीट चौड़ा है। इसमें हरा, सफेद (चूना), हल्का लाल व अम्बर रंगों को प्रयोग में लाया गया है। यह चित्र, पूजा के कमरे की विशेषता को साकार किये हुए हैं। यह भित्ति-चित्र ऊपरी चित्रों से पूर्व का माना जा सकता है।

ये चित्र जयपुर फ्रेस्को विधि से बनाये गए हैं। गीले प्लास्टर पर लाल या काली मिट्टी के रंग से रेखाचित्र खींचकर उन पर रंग भरे गये हैं। ये रंग भरे प्लास्टर सूखने पर करीब तीन सूत अन्दर चले जाते हैं। मुख्यत: मिट्टी के रंग ही प्रयोग में लाये गये हैं। सफेदी निकालने पर चित्रों की दीवार पर कई जगह प्लास्टर क्षरित व टूट गया है, जिसका नये प्लास्टर द्वारा उपचार किया गया तथा उन पर रंगों को इस प्रकार प्रयोग में लाया गया ताकि उस भाग को देखने पर पता चल जाये कि वह संरक्षण के समय या बाद में किया गया है। संरक्षण-उपचार के लिए एक विशेष प्रकार का प्लास्टर, जिसमें केसीन, जयपुर के पत्थर का पाउडर, चूना तथा मोनीकोल मिलाकर, हल्का व गाढ़ा दोनों स्थिति में प्रयोग में लाया गया।

कला व पुरातत्त्व के क्षेत्र में रासायनिक संरक्षण का यह एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। प्राचीन भित्ति-चित्रों के अवशेष पुराने आमेर में भी मिलते हैं। अत: वैज्ञानिक तरीके से उचित संरक्षण का कार्य वहां भी अपेक्षित है।

पुरारसायनवेत्ता,
पुरातत्त्व संग्रहालय,
राजस्थान, जयपुर

● कविराज राजेन्द्रप्रकाश आ० भटनागर

सुश्रुत-टीकाकार-डल्हरण : ऐतिहासिक मूल्यांकन

आत्मपरिचय-अन्त:साक्ष्य

सुश्रुतसंहिता के टीकाकार के रूप में डल्हण की प्रसिद्धि है । डल्हण ने सुश्रुतसंहिता पर अपनी टीका 'निबन्धसंग्रह' के प्रारम्भ में अपना परिचय विस्तारपूर्वक लिखा है, जो इस प्रकार हैं–

"समस्तजनपदतिलके श्रीभादानकदेशे नगरीवरमथुरासमीपे अङ्कोलानामकं वैद्यस्थानमस्ति । यत्र सौरवंशजा: ब्राह्मणा: समस्तभूमिपतिमान्या अश्विनीकुमारसमाना: पार्वणचन्द्ररुचियश: प्रसाधितदिङ्मण्डला वैद्या अभूवन् । तदन्वये गोविन्दनामा चिकित्सक-शिरोमणिरभूत्, ततस्तत्पुत्रो भिषकशिरोमुकुट–मणिर्जयपाल: समजनि, तत्तनयश्च समस्तशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो भरतपाल: संजात:, तत्पुत्र: स्वकुलनभस्तलचन्द्रमा विवेकवृहस्पति: श्रीसहपालदेवनृपतिवल्लभ: श्रीडल्हण: समभूत् । तेन श्रीजेज्जटं टीकाकारं, श्रीगयदासभास्करौ च पञ्जिकाकारौ श्रीमाधवब्रह्मदेवादीन् टिप्पणकारांश्चोपजीव्य आयुर्वेदशास्त्रसुश्रुतव्याख्यानाय निबन्धसंग्रह: क्रियते । यद्यपि सुश्रुतोपरि जेज्जटादिभिष्टीका रचिता:, तथाऽपि तासां कुशाग्रीयधियामभिगम्यत्वादल्पमेधसामनुग्रहाय सुश्रुतं व्याख्यातुकामस्य मम प्रयास: सफल: ।"

इस विवरण से ज्ञात होता है कि डल्हण सर्वत्र प्रसिद्ध "मथुरा" (उत्तर प्रदेश) नगरी के समीप "भादानक" नामक प्रदेशान्तर्गत "अंकोला" नामक स्थान के निवासी थे। अंकोला को इन्होंने "वैद्यस्थान" कहा है, जिसका तात्पर्य मेरे मत से इतना ही है कि वह स्थान उनके सुप्रसिद्ध वैद्य–परिवार के कारण अधिक प्रसिद्ध था ।

डल्हण ब्राह्मण जातीय 'सौरवंश' में उत्पन्न हुए थे। अपने वंश की परम्परा को उन्होंने इस प्रकार निर्दिष्ट किया है ।

गोविन्द (प्रपितामह)
|
जयपाल (पितामह)
|
भरतपाल (पिता)
|
डल्हण (स्वयम्)

ये सभी ख्यातनाम और उच्चकोटि के चिकित्सक थे और उन्हें समकालीन स्थानीय राजाओं से सम्मान प्राप्त हुआ था।

डल्हण ने अपने आश्रयदाता राजा का नाम 'सहपालदेव' बताया है, जिनके वह प्रीतिपात्र (वल्लभ) थे। इस राजा का अन्य नाम 'साहल' भी था और वह 'भादानक' प्रदेश का राजा था, ऐसा डल्हण के निम्न पद्य से ज्ञात होता है–

"सद्बुद्धेः प्रसवः पदं सुयशसः सद्वैद्यवन्द्यः श्रियामावासः सुकृती क्रियासु निपुणः श्रीडल्लनाख्योभिषक्। श्रीभादानकनाथसाहलनृपस्यातीव यो वल्लभः शास्त्रं तस्य निबन्धसंग्रह इति ख्यातं धरित्रीतले॥"

(सु० उत्तरतंत्र, अध्याय २६ की टीका के अंत में)

श्रीगुरुपद शर्मा हालदार के अनुसार–"डल्हण के पिता भरतपाल को सहपालदेव के पिता राजा नृपालदेव का राज्याश्रय प्राप्त था। वे उसके सभापण्डित और चिकित्सक थे।"[1]

ईसवीय १० वीं–११ वीं शती में "पाल" नामक राजाओं का शासन न केवल बंगाल में, अपितु समस्त भारत में विद्यमान था।[2]

निम्न पंक्तियों में हम डल्हण द्वारा प्रदत्त उपर्युक्त परिचय का कुछ विस्तार से विश्लेषण करेंगे।

स्थान–डल्हण का आश्रयदाता राजा सहपालदेव भादानकदेश का शासक था। यह नरेश कौन था? इस विषय में म० म० गणनाथ सेन का मत[3] है कि सहपालदेव भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध महीपाल राजा, जिसका उसी प्रदेश (भादानक) में या कहीं दूसरी जगह

---

१ गुरुपद हालदार, वृद्धत्रयी, पृ० २०१

2 Vincent Smith, Oxford History of India, pp. 186 to 190.

३ "एष च नृपतिर्भारतेतिहास प्रसिद्धस्य महीपालाख्य–चन्द्रशेखरनरपतेस्तत्रैव प्रदेशेऽन्यत्र च कृतराजस्य पूर्वज इत्युनुमीयते, यतस्तस्यैव समये (ख्रिस्तीयैकादश–शतकारम्भे) गजनीपतिमहमूदेन बहुसहस्रसेनाधिपेन सप्तदशकृत्वो विलुण्टिता विध्वस्ताश्च समहामारं प्रभासपत्तन (सोमनाथ)–देहली–मथुरादिप्रदेशा –इत्यैतिहासिको निर्णयः। न च सम्प्रवृत्ते तादृशविप्लवे सम्भवति निबन्धसंग्रहवद्–ग्रंथस्य निर्माणम्।"
(सेन; भानुमती टीका सहित प्रकाशित सुश्रुतसंहिता (सूत्रस्थान) का "उपोद्घात" पृ० ६)

राज्य था, का पूर्वज था। क्योंकि महीपाल के समय में (ई० की ११ वीं शती के प्रारम्भ में) गज़नी के शासक महमूद ने विशाल सेना लेकर सोमनाथ, दिल्ली, मथुरा आदि प्रदेशों पर १७ बार आक्रमण किया और उन्हें लूटा तथा विध्वंस किया एवं वहां भीषण मारकाट की। ऐसे विप्लव के समय में "निबन्ध संग्रह" जैसे ग्रन्थ की रचना संभव नहीं थी।

अत: स्पष्ट है कि सहपालदेव का अस्तित्व महीपाल से पूर्ववर्ती था और डल्हण का भी यही स्थान और काल प्रमाणित होता है।

इसी संदर्भ में गणनाथ सेन ने 'डल्हण' नाम के विषय में भी विचार किया है। मथुरा प्रदेश का निवासी होने के कारण "डल्लन" नाम समीचीन है। क्योंकि उस क्षेत्र (मथुरा समीपवर्ती क्षेत्र में) आज भी 'डालन' नाम का प्रचार मिलता है। कल्हण की समानता वाला 'डल्हण' नाम काश्मीरवासियों में भी प्रचलित है।[1]

'भादानक' क्षेत्र को कुछ आधुनिक विद्वान् 'भदावर' नामक प्रदेश मानते हैं, जो मथुरा से ८५ मील दूर है। श्री आचार्य गौरकृष्ण गोस्वामी शास्त्री का मत है[2] कि "इतना स्पष्टत: निर्देश मथुरा का होते हुए भी 'सहपालदेवनृपतिवल्लभः' पद के केवल 'पाल' नाम पर ही बंगाल के पालवंशीय राजाश्रय के रूप में, जबकि उत्तरप्रदेश में भी शिशुपाल, रामपाल आदि नाम होते हैं, को बिना विचारते हुए इनकी जन्मभूमि कोई बंगाल कहता है, तो दूसरा पक्ष 'भादानक' नाम पर उत्तरप्रदेशस्थ बाह (आगरा) तहसील के 'भदावर' को; किन्तु वस्तुस्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। बंगाल मथुरा से १००० मील दूर और भदावर ८५ मील दूर फिर उसकी समीपता कहां रही? वास्तव में यह 'भादानक' देश ब्रजमण्डल के मुख्यतम केंद्र मथुरा से २० मील और आगरा से १५ मील दूर आगरा मथुरा सीमान्त प्रदेश में यमुना के किनारे आज भी बड़ी, बीच (मंझली), लोहरी (छोटी) आदि पाटी के रूप में १२ 'भदान' का अस्तित्व मिलता है। आगरा-मथुरा राजपथ पर रूनकुता (आगरा से १० मील) से पूर्वोत्तर दिशा में ५ मील आगे ऋषिश्रृंगी का आश्रम (सीगना) है। इससे ४ मील उत्तर वर्तमान 'भदान' है। 'भदान' से ६ मील आगे 'अंकोला' (कोयला) ग्राम है, जो मथुरा से ८ मील आगे महावन के सामने यमुना के दाहिने किनारे पर स्थित है।"

इससे भिन्न मान्यता डॉ० दशरथ शर्मा ने व्यक्त की है। उनके मतानुसार प्राचीन

---

१ सेन, वही, पृ० ९ पर, पादटिप्पणी क्र० २।

२ आचार्य गौरकृष्ण गोस्वामी, सचित्र आयुर्वेद, अप्रेल ६६, पृ० ८७०

'भादानक' का अपभ्रंश रूप 'बयाना' है।[१] उनके इस मन्तव्य-स्थापना का मूल आधार 'राजशेखर' की काव्यमीमांसा है, "जिसमें अपभ्रंश भाषा का प्रयोग होता था, ऐसे प्रदेशों में मरू, टक्क और भादानक–प्रदेशों का समावेश होता है।" भादानकों का जनपद भारत में प्रसिद्ध रहा है। यह राज्य शाकम्भरी के चौहानों की सीमा से लगा हुआ था और अजमेर के चौहानों की सीमा से लगा हुआ था तथा अजमेर के चौहान राजा विग्रहराज चतुर्थ ने भादानकों पर विजय प्राप्त की थी (वि. सं. १२२६ से पूर्व)। बाद में भी यह राज्य चौहान साम्राज्य का अंग बना रहा।

'भादानक' विषयक अन्य मान्यताएं इस प्रकार हैं–श्री नंदलाल डे ने बिहार प्रांत में भागलपुर से ८ मील दूर 'भदरिया' को भादानक माना है।[२] परंतु 'मरू' और 'टक्क' के साथ काव्यमीमांसा में उल्लेख होने से यह कोई पश्चिमी क्षेत्र ही ज्ञात होता है।

'काव्यमीमांसा' (तृतीय संस्करण) के संपादक श्री रामस्वामी शास्त्री ने भादानक को 'शतद्रु' (सतलज) और 'बिनशन' (पंजाब में सरहिंद के पास) के बीच होना बताया है। महाभारत के सभापर्व में 'भाटधान' प्रदेश का उल्लेख मिलता है। अतः शास्त्री ने इस 'भाटधान' (पंजाब) को ही भादानक स्वीकार किया है।[3]

श्री नरोत्तमदास स्वामी के अनुसार "जोधपुर राज्य के उत्तरी भाग में पहले खीची चौहानों का राज्य था। इसकी स्थापना ख्यातों के अनुसार माणकराव ने की थी जिससे खीची शाखा का आरंभ हुआ (मुहणोत नैणसी की ख्यात, हिन्दी, प्रथम खंड, पृ० १८४ १८५)। इन खींचियों के राजा का एक भाग भादाण कहलाता था। भादाण में माणक-

---

१ "Incidentally the location of the Bhadanaka kingdom clears up the mystery of the name Bayana. No phonetic rule would change Sripatha into Bayana. Nor is the place mentioned as Bayana by any early non-Muslim writer. Obviously it is Bhadanaka, the Apabhramsa form of which is Bhayanaya that has turned into the Bayana of Muslim writers. In a language and a script which make no fine distinction between BA and BHA. Such a change would be the easiest and most natural thing to occur."
–Dr. Dasharatha Sharma, Rajasthan through the ages, Vol. I, P p. 23-24

२ N. L. Dey, Geographical Dictionary of Ancient and Medieval India.

३ काव्यमीमांसा, तृतीय संस्करण (१९३४, परिशिष्ट १, पृ० ३०१)

राव ने दुर्ग बनवाकर अपनी राजधानी स्थापित की थी । (मु० नै० ख्यात; हि. प्र०भाग, पृ० १८५) । भादाणे का गांव अब भी वहां विद्यमान है । अनेक प्राचीन जैन कृतियों में जैनसाधुओं के भ्रमण-वृत्तान्त आदि के प्रसंगों में, जगह-जगह इसका उल्लेख मिलता है (उदाहरणार्थं "गुर्वावली"-हस्तलिखित प्रति, उ० श्री क्षमाकल्याणजी के ज्ञान भंडार में, जिसमें पृथ्वीराज चौहान के समकालीन जैनाचार्य श्री जिनपतिसूरि के प्रसंग में कई बार इसका उल्लेख हुआ है) । क्या यह प्राचीन भादाणा प्रदेश ही राजशेखर का भादाणक है ?"[1]

त्रिभुवनगिरि के समीप होने से वर्तमान बयाना को भादानक स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है । भादानकों के स्थान निर्धारण का सबसे प्राचीन संदर्भ 'काव्यमीमांसा' के एकमात्र पद्य में मिलता है । जिसमें भाषा-भाषियों का उल्लेख करते हुए उन्हें (भादानकों को) मरु और टक्क के निवासियों के साथ एक ही वर्ग में रखा गया है ।[2] भादानक को वर्तमान बयाना स्वीकार करने पर डल्हण का निवासस्थान भी वर्तमान राजस्थान में निश्चित् होता है क्योंकि बयाना, भरतपुर जिले में एक तहसील है और बड़ी रेलवे लाइन का एक मुख्य स्टेशन है । फिर भी, इस स्थान का प्राचीन ब्रजमंडल में अंतर्भाव होता है और वहां ब्रजभाषा ही प्रचलित है । अतः श्री गोस्वामीजी का यह कथन ठीक ही प्रतीत होता है-

"त्रयोदश शताब्दि में प्रचलित ब्रजभाषा की तात्त्विक शैली का विवेचन करने से भी ज्ञात होता है कि ब्रजभूमि में जन्म लेने के कारण डल्हण स्वाभाविक ब्रजभाषी थे। उन्होंने अपनी व्याख्या में शुद्ध ब्रजभाषा के अनेक शब्दों का प्रचुरता से प्रयोग किया है । जहां ब्रजभाषा के शब्द उचित रूप से नहीं मिल पाए, वहां ब्रजभाषा के स्वरूप की रक्षा करते हुए उनका संस्कृतीकरण करने में भी वे नहीं चूके । और तो और, उन्होंने अपने नाम का भी संस्कृतीकरण कर लिया । वास्तव में उनका नाम डालचंद्र था । पिता भरतपाल ने अपने ज्येष्ठपुत्र डालचंद्र का नाम सर्वसाधारण की भाषा में 'डल्ला' रखा, डल्हण ने इसकी अनुरूपता तथा पिता की अनुज्ञा को बिगाड़ा नहीं, प्रत्युत 'डल्ला' नाम को 'डल्हण' (ड्ल्हण) के संस्कृतीकरण के रूप में अक्षुण्ण रखा । निबन्धसंग्रह व्याख्या में संग्रहीत प्रायः ५०० ब्रजभाषा के प्रचलित शब्दों का मैंने संग्रह किया है ।[3]"

---

१ नरोत्तमदास स्वामी, "भादाणक", राजस्थानी, (राजस्थान रिसर्च सोसाइटी, कलकत्ता), भाग ३, अंक २, अक्टूबर १९३९, पृ० ५१-५२

२ काव्यमीमांसा- (गायकवाड ओरियन्टल सीरिज, नंबर १), तृतीय संस्करण (१९३४), पृ० ५१

"गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः ।
सापभ्रंश-प्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक-भादाणकाद्याश्च ॥"

३ आचार्य गौरकृष्ण गोस्वामी शास्त्री, 'सुश्रुत का एक विस्मृत टीकाकार डल्हण', सचित्र आयुर्वेद, अप्रैल ६६, पृ० ८७१ ।

डल्हण ने अपने समकालीन व आश्रयदाता, भादानक के शासक का नाम सहपालदेव लिखा है। यह पृथ्वीराज तृतीय (चौहान शासक, दिल्ली नरेश, जिसे मुहम्मद गौरी ने ई० सन् ११९२ में परास्त किया था, का समकालीन भादानक नरेश 'सहनपालदेव' ही था, जिसका उल्लेख भरतपुर राज्य के आघाटपुर के शिलालेख में मिलता है और जो हरिपाल का उत्तराधिकारी था।[1] पृथ्वीराज द्वारा सहनपालदेव ई० ११८२ के पूर्व पराजित हुआ था।

श्री चंद्रदान चारण ने लिखा है–"पृथ्वीराज के समय भादानकों की शक्ति भी महत्त्वपूर्ण थी। दिल्ली के उत्तरी–पश्चिमी भाग पर इनका अधिकार था। वर्तमान रेवाड़ी तहसील, भिवानी और भूतपूर्व अलवर रियासत का कुछ भाग भादानक प्रदेश के अंतर्गत था। संभवत: विग्रहराज चतुर्थ का भादानकों से संघर्ष हुआ हो, पर पृथ्वीराज के साथ युद्ध में वे पूर्ण पराजित हो गये। यह युद्ध वि० सं० १२३९ से पूर्व ही हुआ होगा क्योंकि जिनपति-सूरि ने इसी संवत् में दो पद्यों की रचना भादानकों पर पृथ्वीराज की विजय की प्रशंसा करते हुए की। ये भादानक उन तंवरों से भिन्न हैं जिनका दिल्ली पर अधिकार था।"[2]

काल–म० म० गणनाथ सेन ने डल्हण का काल ईसवी सन् की दसवीं शताब्दि का अंत माना है। इस विषय में उन्होंने जो हेतु प्रस्तावित किये हैं, वे निम्न हैं–

प्रथम, डल्हण का समकालीन राजा सहपालदेव था। वह महीपाल का पूर्वज था। महीपाल के समय में (ईस्वी ११ वीं शती के आरंभ में) गज़नी के शासक महमूद ने भारत के दिल्ली, मथुरा आदि स्थानों को १७ बार पदाक्रान्त किया और लूटा। इस विप्लव के समय में 'निबंधसंग्रह' जैसे ग्रंथ की रचना संभव नहीं थी। अत: डल्हण का समय इससे पहले काज्ञात होता है।

द्वितीय, बंगाल के शासक नयपाल के समय में होने वाले सुप्रसिद्ध चक्रपाणिदत्त का उल्लेख डल्हण ने नहीं किया है, जबकि उसने अपनी टीका की रचना करते समय अपने पूर्व की टीकाओं और व्याख्या ग्रंथों का संकलन किया था। अत: डल्हण का चक्रपाणि से पूर्ववर्ती होना सूचित होता है।

तृतीय, चक्रपाणि द्वारा स्वीकृत सुश्रुत के मूलपाठ डल्हण द्वारा बताये गये पाठों से अनेक स्थानों पर भिन्न हैं।

---

१ Dr. Dasharatha sharma, Rajasthan through the Ages, Vol. I, p. 23

२ चंद्रदान चारण, "पृथ्वीराज चौहान के समय उत्तरी भारत की राजनैतिक स्थिति", शोध पत्रिका, वर्ष १२, अंक २, दिसंबर १९६०, पृ० ७९ तथा डॉ० दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ७४

चतुर्थ, डल्हण ने कहीं पर भी चक्रपाणि का उल्लेख नहीं किया है। डल्हण ने चक्रपाणि का उल्लेख सु० उ० अ० ४९, श्लोक १९ की टीका में किया है। डल्हण लिखता है–

"पंचमूली महतीति चन्द्रिकाकारः, स्वल्पेति चक्रपाणिः"– यह नाममात्र का उल्लेख एक ही बार चक्रपाणि का मिलता है। यह प्रक्षिप्त के समान लगता है, क्योंकि वहीं पर 'पंचमूलीकृतां' इसके दो अर्थ डल्हण ने पहले ही बताये हैं। पहले कहीं पर भी चक्रपाणि का नामोल्लेख नहीं किया है और फिर ग्रंथांत में एक ही बार यह उल्लेख मिलता है। हमारा मत है कि यह टिप्पणी पत्र के सिरे पर लिखी हुई थी, जिसे बाद में किसी ने छपवाते समय ग्रंथ में शामिल करली है।' (टिप्पणी में गणनाथ सेन)।

इस प्रकार श्री सेन ने डल्हण द्वारा चक्रपाणि के नामोल्लेख को (सु० उ० अ० ४९।१९ पर) संदिग्ध व प्रक्षिप्त माना है।

पंचम, नामतः निर्देश न करते हुए भी चक्रपाणि ने डल्हण के मत का खंडन अपनी टीका (भानुमती) में किया है। "अहं हि धन्वन्तरिरादिदेवः" (सु० सू० १) श्लोक की टीका में चक्रपाणि ने 'आदिदेवः शंकरः" इत्यादि डल्हणमत को 'परमत', 'इति केचित्' के रूप में उद्धृत करके उसका खंडन भी किया है। (डल्हण का मत– "आदिदेवः शंकरः, अन्ये तु आदिदेवा ब्रह्मादयः।" चक्रपाणि का संदर्भ– "आदिदेवत्वेन शंकरत्वं केचिद्वदन्ति, शंकरत्वेन च सर्वज्ञतया सिद्धायामपीन्द्रादायुर्वेदश्रवणं गुरुपूर्वक्रमपालनार्थमिति वदन्ति।")

इसी प्रकार चक्रपाणि ने चरकटीका के आरंभ में लिड्विधि के प्रसंग में डल्हणमत का उल्लेख और खंडन किया है। परंतु वहां पर भी डल्हण का नाम निर्दिष्ट नहीं किया है।

इसी संदर्भ में, गणनाथ सेन ने प्रत्यक्षशारीर, उपोद्घात में दिये गये अपने– "डल्हण की चक्रपाणि से समसामयिकता अथवा किंचित् पूर्वकालिकता होना"[2] इस मत में भी संशोधन कर लेने का स्पष्टीकरण किया है।

अतः ईसा की ग्यारहवीं शती के शेषार्ध में होने वाले चक्रपाणि से डल्हण का पूर्ववर्ती होना निश्चित् होता है।[2]

श्री गुरुपद शर्मा हालदार महोदय ने ए० बी० कीथ के मत का अनुसरण करते हुए डल्हण का काल ई० १३ वीं शती ही माना है। अपने मत के प्रमाणार्थ निम्न तथ्य उल्लेखित किये हैं. उनका सार नीचे दिया जाता है[3] —

---

१ गणनाथ सेन, प्रत्यक्षशारीर, प्र० भा० उपोद्घात, पृ० ५७.

२ गणनाथ सेन, भानुमतीटीकासहित, प्रकाशित सुश्रुत संहिता (सूत्रस्थान) का उपोद्घात, पृ० ९–१०।

३ गुरुपद हालदार, वृद्धत्रयी, पृ० २०१–२

निबन्धसंग्रह व्याख्या के प्रारंभ में जेज्जट, गयदास, भास्कर, श्रीमाधव, ब्रह्मदेव आदि का नाम है और उनके ग्रंथों का अवलोकन कर व्याख्या लिखने का प्रतिज्ञावचन है।

(१) जेज्जट ९ वीं शती में हुआ था।

(२) न्यायचंद्रिका (बृहत्पंजिका) कार गयदास नयपाल के पिता, दशम–एकादश शती में होने वाले, महाराज महीपाल के अंतरंग वैद्य थे।

(३) सुश्रुतपंजिकाकार भास्करभट्ट ११ वीं शती में धाराधिपति भोजदेव की सभा में थे।

(४) श्रीमाधव और ब्रह्मदेव नामक दोनों टिप्पणकार ११ वीं शती में हुए थे।

(५) ११ वीं–१२ वीं शती में हुए और सुश्रुतसंहिता के व्याख्याकार तथा बंगाल के विषपाडा ग्राम के निवासी गयी (शारीर १।१) और मेदिनीकोषकार मेदिनीकर के नामों का उल्लेख भी डल्हण ने किया है।

(६) १२ वीं शती में हुए महाराज लक्ष्मणसेन के सभासद हलायुध (ब्राह्मण सर्व्वस्वादि के कर्त्ता) का नाम भी डल्हण को परिज्ञात था।

श्री गौरकृष्ण गोस्वामी, शास्त्री ने भी डल्हण का काल ई० १३ वीं शती माना है–

"निबन्धसंग्रह व्याख्या में डल्हण द्वारा 'चक्रपाणि' (११ वीं शती) तथा वंगदत्त (१३ वीं शती) का समुल्लेख होने से ज्ञात होता है कि डल्हण का आविर्भावकाल १३ वीं शती का मध्यभाग है।"[1]

'संस्कृत साहित्य का इतिहास' में जाह्नवीचरण भौमिक ने डल्हण को चक्रपाणि से पूर्ववर्ती मानते हुए उनका काल ई० १०–११ वीं शती बताया है।

आचार्य यादवजी त्रिकमजी ने भी डल्हण का काल ई० ११ वीं शताब्दि स्वीकार किया है।[2]

ध्यानपूर्वक देखने से उपर्युक्त सभी मत निराधार और काल्पनिक प्रतीत होते हैं। वास्तविकता यह है कि डल्हण का समसामयिक और आश्रयदाता राजा 'सहपालदेव' था। यादवजी द्वारा सम्पादित और निर्णयसागर प्रेस बंबई से प्रकाशित सुश्रुतसंहिता की निबंध संग्रह टीका में 'सहपालदेव' नाम मिलता है। परन्तु नृपेन्द्रनाथसेन गुप्त और बलाइचन्द्रसेन गुप्त द्वारा कलकत्ता से प्रकाशित निबंधसंग्रह की टीका में 'सहनपालदेव' नाम दिया हुआ है। श्री गणनाथ सेन ने भी 'प्रत्यक्षशारीर' के 'उपोद्घात' (पृ० ९) में 'सहनपालदेव' ही लिखा

१　गोस्वामी, वही, सचित्र आयुर्वेद, पृ. २०१-२

२　स्वसंपादित, सु० सं०, निर्णयसागरप्रेस, बंबई, उपोद्घात, पृ० २१.

है । जैसाकि हमने ऊपर उल्लेख किया है-प्राचीन भरतपुर राज्य (राजस्थान) के अघाटपुर से प्राप्त शिलालेख में 'साहनपाल' (या सहनपाल) का उल्लेख मिलता है । यह भादानक का शासक था और दिल्ली के इतिहास प्रसिद्ध शासक पृथ्वीराज चौहान तृतीय का समकालीन था । अतः सहनपाल का काल ई० १२ वीं शती का अंतिम चरण होना प्रमाणित होता है । सम्भवतः सहनपाल का पूर्वज हरिपाल था जिसका शासनकाल ई० ११७० पर्यन्त होना ज्ञात होता है । "ताज उल-मासिर" नामक ग्रंथ (हसन निजामीकृत) से ज्ञात होता है कि मुहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज चौहान को ई० ११९२ में तराइन के द्वितीय युद्ध में पराजित करने के बाद ई० ११९६ में त्रिभुवनगिरि के भादानक शासक कुवरपाल द्वितीय को परास्त किया था । अतः हरिपाल और कुंवरपाल का मध्यवर्ती होने से सहनपाल का शासनकाल ई० सन् ११७० से ११९५ के मध्य लगभग होना ज्ञात होता है ।

इस प्रकार भादानकनरेश साहनपाल या सहनपाल का काल ई० १२ वीं शती का शेषार्ध सुनिश्चित रूप से ज्ञात होता है ।[1]

अतः समकालिक डल्हण का भी यही काल प्रमाणित होता है । संभवतः डल्हण ने चक्रपाणि की सुश्रुत पर भानुमती टीका को देर से देखा हो, अतः उसने निबंधसंग्रह हेतु संकलित किये ग्रंथों में, प्रारम्भ में, उसका उल्लेख नहीं किया । यही कारण है कि उपजीव्य ग्रंथों की सूची में उसने चक्रपाणि का उल्लेख नहीं किया हो । परन्तु बाद में, उत्तरतन्त्र अ० ४९ के श्लोक १९ की टीका में चक्रपाणि के मत का उल्लेख किया है । इस एकमात्र उल्लेख से ही डल्हण से चक्रपाणि की पूर्वकालिकता संदिग्ध नहीं माननी चाहिए, जैसाकि गणनाथसेन ने स्वीकार किया है । अतः निश्चित रूप से डल्हण से चक्रपाणि पूर्ववर्ती था ।

सारांश में, डल्हण का काल ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर ईस्वी बारहवीं शती का शेषार्ध प्रमाणित होता है ।

कृतियाँ-डल्हण की एकमात्र कृति 'निबन्ध संग्रह' नामक टीका है जो सुश्रुत संहिता पर लिखी हुई है । यही एकमात्र व्याख्या है जो संपूर्ण सुश्रुत संहिता पर मिलती है और जिसने डल्हण का नाम अमर कर दिया है ।

डल्हण ने अनेक टीका ग्रंथों (प्रायः अपने से पूर्ववर्ती सभी व्याख्या ग्रंथों (का आश्रय लेकर अपनी टीका लिखी थी । अतः उसने इसका नाम 'निबंधसंग्रह' रखा था ।

टीका के प्रारम्भ में डल्हण ने अपने प्रमुख आधारभूत ग्रन्थों का उल्लेख इस प्रकार किया है-

---

१ डॉ० दशरथ शर्मा, राजस्थान थ्रू द एजेज, भाग १, पृ० २३

"तेन (डल्हणेन) श्रीजज्जटं टीकाकारं, श्रीगयदासभास्करौ च पंजिकाकारौ, श्रीमाधवब्रह्मदेवादीन् टिप्पणकारांश्चौपजीव्य, आयुर्वेदशास्त्रसुश्रुतव्याख्यानायनिबंधसंग्रह क्रियते ।"

सुश्रुत संहिता पर लिखे हुए जेज्जट की 'टीका', गयदास और भास्कर की 'पंजिकाएं', माधव और ब्रह्मदेव आदि के 'टिप्पण ग्रंथ' का आश्रय लेकर डल्हण ने सुश्रुत की व्याख्या के लिए 'निबंधसंग्रह' का प्रणयन किया था ।

इनके अतिरिक्त टीका ग्रंथ के अंतरंग अध्ययन से ज्ञात होता है कि डल्हण ने लक्ष्मण (टिप्पणकार), गूढपदभंगटिप्पण, सुवीर, सुधीर, सुकीर, नंदी, वाराह, कार्तिक (कार्तिककुंड), वंगदत्त, चक्रपाणि–इन सुश्रुत–टीकाकारों के ग्रंथों का अध्ययन किया था और उनके मतों एवं नामों का उसने उल्लेख भी किया है ।

सुश्रुत संहिता पर डल्हण की टीका निबंधसंग्रह सर्वमान्य ग्रंथ है और इसका सर्वत्र प्रचलन है । इसके प्रकाशित दो संस्करण मिलते हैं—

(१) यादवजी त्रिकमजी आचार्य द्वारा संपादित एवं निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित ।

(२) कविराज नृपेन्द्रनाथ सेनगुप्त और कविराज बलाइचंद्र सेनगुप्त द्वारा संपादित और सी० के० सेन एण्ड कम्पनी लिमिटेड, कलकत्ता से प्रकाशित ।

निबंधसंग्रह व्याख्या में प्रमाणस्वरूप उद्धृत ग्रंथों और ग्रंथकारों के नाम निम्नानुसार हैं—

संहिता, तंत्रग्रंथ, तंत्रकार तथा प्रतिसंस्कर्ता

१ भोज
२ काश्यप
३ भद्रशौनक
४ भालुकि
५ चरक–कायचिकित्सातंत्रकार ।
६ भेड–कायचिकित्सातंत्रकार ।
७ जातूकर्ण–कायचिकित्सातंत्र ।
८ वृद्धवाग्भट
९ विदेह–(शालाक्यतंत्रकार)
१० कुमारतंत्र
११ वृद्धकाश्यप
१२ भदन्त नागार्जुनाचार्य
१३ वाग्भट
१४ विश्वामित्र
१५ वैतरण– शल्यतंत्रकार
१६ वृद्धसुश्रुत– " "
१७ क्षारपाणि– काय चि० तंत्रकार
१८ लघुवाग्भट
१९ अग्निवेश–काय चि० तंत्रकार
२० पराशर– " " "
२१ हारीत– काय चि० तंत्रकार
२२ निमि– शालाक्यतंत्रकार

२३ दृढ़बल– चरकप्रतिसंस्कर्ता
२४ कृष्णात्रेय– काय चि० तंत्रकार
२५ उशना:
२६ सावित्र (तंत्र)
२७ नागार्जुन–सुश्रुतप्रतिसंस्कर्ता
२८ आलम्बायन
२९ कराल
३० पार्वतक
३१ जीवक
३२ बन्धक
३३ सात्यकि-शालाक्यतंत्रकार
३४ वृद्धभोज
३५ काश्यपीयतंत्र

व्याख्याकार (टीकाकार)

१ पंजिकाकार– सुश्रुतव्याख्याकार
२ भास्कर– सुश्रुतव्याख्याकार
३ श्रीमाधव– सुश्रुतव्याख्याकार ।
४ लक्ष्मणटिप्पणक– " "
५ जेज्जट– चरक–सुश्रुत व्याख्याकार
६ गयदास– सुश्रुतव्याख्याकार
७ ब्रह्मदेव– सुश्रुतव्याख्याकार ।
८ भट्टार हरिचन्द्र– चरक व्याख्याकार
९ न्यायचंद्रिका– सुश्रुतव्याख्या ।
१० महापंजिका– " "
११ बृहत्पंजिका– " "
१२ लघुपंजिका– " "
१३ सुवीर– सुश्रुतव्याख्याकार
१४ सुधीर– " "
१५ गूढपदभंगटिप्पण– सुश्रुतव्याख्या
१६ वंगदत्त– सुश्रुतव्याख्याकार
१७ सुवीर– " "
१८ नन्दि– " "
१९ वराह– " "
२० श्रीपति
२१ कार्तिकाचार्य-सुश्रुतव्याख्याकार
२२ चंद्रनंदन–
२३ सुकीर–सुश्रुतव्याख्याकार
२४ चक्रपाणि-चरक-सुश्रुतव्याख्याकार
२५ चंद्रिकाकार (गयदास)
सुश्रुतव्याख्याकार
२६ कार्तिककुंड– सुश्रुतव्याख्याकार ।

अन्य या विकीर्ण

१ मनु– मनुस्मृतिकार
२ अमरकोष :
३ व्यास भट्टारक
४ नलमत
५ सांख्यकारिका

–प्राध्यापक,
मदनमोहन मालवीय आयुर्वेद,
महाविद्यालय, उदयपुर (राज०)

● श्रीमती सरोज शर्मा

बूंदी की बोली में निपातीय प्रयोग

बूंदी की बोली 'हाड़ौती' राजस्थान के मध्य-पूर्वी क्षेत्र कोटा, बूंदी एवं उनके आस-पास बोली जाती है। उसके बोलने वाले हाड़ा राजपूत एवं उनके प्रशासित क्षेत्र रहे हैं। हाड़ाओं से संबंधित होने के कारण ही इसका नाम हाड़ौती पड़ा।

इस लेख के लिये सामग्री-संकलन टेपरिकार्डर द्वारा बूंदी के निकटवर्ती ग्रामों (तालेड़ा, दोलाड़ा, रामगंज) से, स्थानीय मानचित्र के सर्वेक्षण के उपरान्त उन स्थानों से किया गया है जहाँ बोली बाह्य प्रभाव से अप्रभावित थीं। सूचक के रूप में वहां के स्थानीय पुरुष एवं स्त्रियों को लिया गया है।

सामग्री-संकलनोपरान्त ६,००० कार्डों की सहायता से विश्लेष्य बोली की सम्पूर्ण वाक्य-संरचना (वाक्य, उपवाक्य, वाक्यांश) का विश्लेषण किया गया है।

उसके बाद इस लेख में बूंदी की बोली के निपातीय प्रयोगों पर प्रकाश डाला गया है।

१. निपात

भाषा में व्यक्ति बहुत से ऐसे तत्त्वों का प्रयोग करता है जो स्वयं सार्थक नहीं होते लेकिन वक्ता के कथन को बल और निजीपन देते हैं। निपात भी ऐसे तत्त्वों में से हैं। निपात वे मुक्त रूप हैं जिनका व्याकरणिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं, परन्तु अन्य शब्दों के साथ इनकी सार्थकता है।

बूंदी की बोली में निपातों की संख्या ज्यादा नहीं है परन्तु जो भी निपात है उनका प्रयोग अत्यधिक है। कहीं-कहीं तो एक-एक वाक्य में २-३ निपात तक पाए गये हैं यथा:—

१. वा भरताईं एक दो दन **तो** चड़ी ने चुगो छो **न** वच्याताईं।

२. आपण **तो** गांव का पटैल छ **न** जो राजा का कँवर केई परकम्मा देणी पड़गी।

विश्लेष्य बोली के प्रमुख निपात त, तोऽऽ या तौ, न, बस, बलेई, बई, बी, ई और बर हैं जिनका विवरण निम्नलिखित है:-

१.०. त, तोऽऽ, तौ—

ये तीनों निपात वैकल्पिक स्थिति में हैं जो आग्रह, निश्चय और अवधारण को प्रगट करते हैं। कहीं-कहीं ऐसा भी प्रतीत होता है कि ये ग्रामीण अभिव्यक्ति के ठहराव को द्योतित करते हैं, विशेषकर तोऽऽ की स्थिति में।

यथा:- या तौ वाही छ।

ऊन तोऽऽ खा खूर अर सन्दाई घर में घाटो ई घाटो करद्या।

कहीं-कहीं ये समय द्योतक का भी काम करते हैं-

यथा:- थे मूळी बेचवा जाओ त जद बी थाके नजरायो अई ल्याजो।

बूंदी की बोली में इस निपात का प्रयोग संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, कृदन्त और क्रिया-विशेषण के साथ मिला है।

१.१. संज्ञा के साथ—

संज्ञा के दोनों भेदों (परसर्ग रहित और परसर्ग सहित) के साथ तौ या त का प्रयोग मिला है।

१.१.१. परसर्ग रहित संज्ञा के साथ-

ए बोयड़ियां तौ उखेडनी पड़गी राजो अर राणी तौ सूतों।

१.१.२. परसर्ग सहित संज्ञा के साथ-

चड़ी ने तो बागो खोळ दियो। बेटा की बू न त् चौका पटरा देडर चावळ चढ़ा द्या।

१.२. सर्वनाम के साथ-

सर्वनामो में पुरुषवाचक सर्वनाम के साथ इस निपात का प्रयोग अधिक मिला है।

१.२.१ पुरुषवाचक सर्वनाम—

इसके तीनों भेदों के साथ तो या त का प्रयोग मिला है।

१.२.१.१. उत्तम पुरुष के साथ-

१. मूं तो या के साथ मेल अर पीछे मरुंगी क।

२. पटेलन म्हान, त सूझई न।

१.२.१.२. मध्यपुरुष के साथ-

तून तो बरी करी म्हारी साथ मां

१.२.१.३. अन्य पुरुष के साथ-

लालजीशाव एक शांप लाया छ ऊनै तौ सामांळार वा तो झट नवट अर ऊई गले ग्या।

१.३. **क्रिया के साथ–**

इस प्रकार के वाक्यों की संख्या सामग्री में कम ही है यथा–

१. यूं मरजाऊं तौ तू ग्रौर चड़ी ले ग्राइगो।

२. लायो छ तो ग्रापण डागळा पै फेंक दो।

१.४ **कृदन्त के साथ–**

रचना की दृष्टि से केवल एक कृदन्त के साथ ही तो का प्रयोग मिला हैं।

१.४.१. क्रियार्थक संज्ञा के साथ–

दूसरी शादी करवा में तो मेरे बोत दुःख ग्रायगा।

१.५. **क्रिया-विशेषण के साथ–**

इसके कई भेदों के साथ तो या तौ का प्रयोग मिला है।

१.५.१. विधिवाचक के साथ–

जिशानमई तो वा घणा गरीब छ।

१.५.२. परिमाणवाचक के साथ–

चड़ी खूब तौ खावै ग्रर खूब मस्त रै।

१.५.३. समयवाचक के साथ–

गोड़ो चाइजै म्हारे ताईं ग्रब तो।

१.५.४. स्थानवाचक के साथ–

यां तो चुग्गा चुग लेगा ग्रर यां का याईं ग्रापणा बच्चा हो जाउगा।

१.५.५. शर्तवाचक के साथ–

जब तो मूं जाऊंगी ना तो ना जाऊं ऊ का मैला में।

२. न–

ग्रध्ययन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकला कि 'न' का प्रयोग इस बोली में ग्रधिकतर पुष्टि के लिये ही किया गया है लेकिन ग्राग्रह के लिये भी कहीं–कहीं इसका प्रयोग हुग्रा है।

२.१. पुष्टि के लिये–

(१) वा पड़ौसन छ न चमटी में दूध ग्रर चावळ ले ग्राई।

(२) वा गी न तो वा पड़ौसन बोली।

२.२. ग्राग्रह के लिये–

भंगड़ सूं खी क तू झाड़ा करेगी न तो ऊ की ग्राख्यां में टीकरा गड़ार दीजै जद वा मुरदान हो जाउगा।

३. बस–

सम्पूर्ण सामग्री में एक वाक्य इस प्रकार का प्राप्य है यथा–

चड़ो तो बस चड़िया में जा खेल्यो।

४. बलेई–

इस निपात का प्रयोग भी अतिन्यून है यथा–

ऊन खी बलेई तू हजार रूप्या ले लीजे पर वाके ताई खतम कर दीजे।

५. बई–

बूंदी की बोली में इस प्रकार का एक वाक्य ही मिला है–

यथा–अच्छा बई, तुम्हारी क्या कहावत है।

६. बी–

हिन्दी का 'भी' बूंदी में 'बी' रूप में उच्चरित होता है। इसका कारण यह है कि बूंदी में महाप्राण सघोष व्यंजनों को अल्पप्राण सघोष बोलने की विशेष प्रवृत्ति है। बूंदी में 'बी' का प्रयोग संज्ञा, सर्वनाम और क्रिया–विशेषण के साथ मिला है। यह समुच्चयात्मक कार्य करता है।

६.१. संज्ञा के साथ–

संज्ञा में 'बी' का प्रयोग सदैव परसर्ग रहित संज्ञा के साथ ही मिला है।

यथा–१. अस्या में राजो बी चलेग्यो अर वंगी बी चलोग्यो।

२. कँवरशाव बी मैला में ग्या।

६.२. सर्वनाम के साथ–

सर्वनामों में पुरषवाचक सर्वनाम व अनिश्चयवाचक सर्वनाम के साथ इस निपात का प्रयोग मिला है।

६.२.१. पुरुषवाचक सर्वनाम के साथ–

इसके तीनों भेदों के साथ 'बी' का प्रयोग मिला है।

६.२.१.१. उत्तम पुरुष के साथ–

म्हें बी नोतूंगी गुरोज्जी माराज नें।

६.२.१.२. मध्यम पुरुष के साथ–

थे बी अशान करो।

६.२.१.३ अन्य पुरुष के साथ–

वा सूं बी न बीती।

६.२.२. अनिश्चयवाचक सर्वनाम के साथ–

दवाळी क रोज कांई के बी दिया न जुप्या।

६.३. क्रिया–विशेषण के साथ–

संरचना की दृष्टि से क्रिया–विशेषण के साथ 'बी' का प्रयोग निम्नलिखित रूप में मिला है।

यथा–१ सबके ताईं ऊनें रुप्या देद्यो तो बी कांई ने खांई बी न कर्या।

२ वा मोट्यार जबान छी तो बी ऊ क सन्तान न झल्या।

७. ई–

बूंदी का 'ई' निपात हिन्दी का 'ही' निपात ही है। 'ही' को 'ई' रूप में बोलने का कारण बूंदी भाषियों में महाप्राणत्व का अभाव ही है। इस निपात का प्रयोग इस बोली में सर्वाधिक है। 'ई' निपात की भूमिका 'बी' के विपरीत है। निश्चय एवं बल देने के लिये इसका प्रयोग किया जाता है। कहीं-कहीं यह 'ऊ' रूप में भी बोला जाता है।

यथा–वान् तो मजाऊ आग्यो।

विश्लेष्य बोली में 'ई' का प्रयोग संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, कृदन्त और क्रिया-विशेषण के साथ मिलता है।

७.१. संज्ञा के साथ–

संज्ञा के दोनों रूपों (परसर्ग रहित व परसर्ग सहित) के साथ 'ई' का प्रयोग मिला है।

७.१.१. परसर्ग रहित संज्ञा के साथ–

म्हारी तो आल आख्यांईं थोड़ी-थोड़ी फूटी छ।

७.१.२. परसर्ग सहित संज्ञा के साथ–

मन म ई पील्यो ऊन तो। कोई-कोई इसान छो या बरात मेंई जी न की।

७.२. सर्वनाम के साथ–

इसके लगभग सभी भेदों के साथ 'ई' का प्रयोग मिला है।

७.२.१. पुरुषवाचक सर्वनाम के साथ–

इसके तीनों भेदों के साथ 'ई' का प्रयोग मिला है।

७.२.१.१. उत्तम पुरुष के साथ–

मूंईं ले जाउगो गाड़ी देला न हाँकर।

७.२.१.२. मध्यम पुरुष के साथ–

थांको बाट थां सूईं आयो।

७.२.१.३. अन्य पुरुष के साथ–

या तो वाई छ।

७.२.२. निजवाचक सर्वनाम के साथ–

आप ईं तो दुख आउगो।

७.२.३. निश्चयवाचक सर्वनाम के साथ–

गुरोश्यो बेटो नोंत्यो जिमें बेई जगमग करग्यो छ।

७.२.४. संबंधवाचक सर्वनाम के साथ–

जिशूं भारी सूं पिताजी फाणी पीवें वोई सूं आप पीजो।

७.३. **विशेषण के साथ–**

विशेषण के साथ भी 'ई' कई रूपों में प्राप्त है।

७.३.१. गुणवाचक के साथ–

ऊनें, फरमाई क कालोई तो बेस अर कामळो अर ऊक ताई दियो जावो देश नकाळो।

७.३.२. परिमाणवाचक के साथ–

अब थारा सबई परवार नें जमादै।

७.३.३. संख्यावाचक के साथ–

१. या तो चार छा अब या दोई रेग्या।

२. साहूकार को अर वंगी को दून्योंई बाएला छा।

७.४. **कृदन्त के साथ–**

कृदन्तों के साथ बल दयोतक 'ई' का प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिला है। इनमें सर्वाधिक प्रयोग तात्कालिक कृदन्तों के साथ है। अन्य कृदन्तों के साथ इसका प्रयोग न्यून है।

७.४.१. तात्कालिक कृदन्त के साथ–

१. ऊनें खाताई तो मोडा आउगा।

२. राणी मरताईं तो अच्छा-अच्छा ठिकाणा का समाचार आवा लाग्या।

७.४.२. क्रियार्थक संज्ञा के साथ–

१. जो सदाई करम सड़वाई लाग्यो।

२. अब अस्या करता-करता दस बारा दिन होबा मेंई आया।

७.४.३. वर्तमानकालिक कृदन्त के साथ–

दो तीन होग्या ऊनें आताईं तो वा राणी क छ।

७.४.४. अपूर्ण क्रिया दयोतक के साथ–

अस्या करता करताईं वान् तो चन्ता लागी ई बात की।

७.४.५. पूर्वकालिक कृदन्त के साथ–

बाप के भेलेई तो भोजन जीम्या अर बाप की झारी सूंई फाणी पिया।

७.५. **क्रिया-विशेषण के साथ–**

इसके कई भेदों के साथ 'ई' का प्रयोग मिला है।

७.५.१. विधिवाचक के साथ–

जो आगली टूटचा जिशाईं टूटजे, पाछली जशी मत टूटजे।

७.५.२. समयवाचक के साथ–

ईन तो भोजन फैली ई खाल्यो।

७.५.३. स्थानवाचक के साथ–
यां का यांई आपणा बच्चा पैदा हो जाउगा ।

७.५.४. तात्कालिकता बोधक के साथ–
जस्याईं मग्यो जस्याईं ऊन खी ।

८. बर–

संपूर्ण सामग्री में केवल एक स्थान पर इसका प्रयोग मिला है ।
यथा–

गुरोज्जी माराज चुटकी बर चावल लाया डोकरी गोडे ।

–आर-२५, रवीन्द्र निवास,
वनस्थली विद्यापीठ,
वनस्थली (राजस्थान)

● प्रो० सुशीलकुमार सुल्लेरे

कालंजर की अद्वितीय भैरव मूर्ति

कालंजर भारतवर्ष के सुविख्यात स्थानों में से एक है। कालंजर वर्तमान उत्तर प्रदेश के बांदा जिले से ३५ मील दूरी पर स्थित हैं। कालंजर को पुरातनकाल से महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।[1] इसका नाम "कालंजराद्रि" अथवा "कालंजरगिरि" स्वयं भगवान शिव से उद्भूत है, जो "काल" अथवा 'समय" के रूप में प्रत्येक वस्तु के क्षय (जार) और जो इस कारण समस्त वस्तुओं के विनाशक एवं काल देवता है।[2] इस प्रकार से शिव और कालंजर का अनादि काल से सम्बन्ध है। पुराणों के अनुसार शिवजी ने इस स्थान पर काल को जीर्ण किया, इस कारण से भविष्य में इसका नाम "कालंजर" पड़ा होगा।[3] विलसन[4] एवं कनिंगम[5] के अनुसार वेदों में "कालंजर" का उल्लेख "तपस्या स्थान" के रूप में हुआ है। इस प्रकार से कालंजर को भारतवर्ष के प्राचीन शैव साधना में रखा जा सकता है। महाभारत[6] एवं पुराणों[7] में कालंजर का उल्लेख तीर्थों के अन्तर्गत हुआ है। वामन पुराण में कालंजर को नीलकंठ का अधिवास कहा गया है।[8]

भैरव को शिव का पुत्र कहा गया है, कभी-कभी वीरभद्र के सदृश्य ही शिव का अवतार भी कहा गया है।[9] "कालंजर" स्वयं भगवान शिव का नाम है। इस कारण से

---

१ क० आ० स० रि०, भाग २१, पृ० २१

२ (i) वही, पृ० २२

३ (i) तत्र कालं जरिस्यसि तदा गिरिवरोत्तम्। तेन कालंजरो नाम भविष्यति स पर्वतः॥
(ii) वायु पु० २३।१०४, (iii) लिंग पु० २४।१०६, (iv) कूर्म पु० ३६।३५-३८

४ विलसन : संस्कृत डिक्शनरी, पृ० २१६–२१७

५ क० आ० स० रि०, भाग २१, पृ० ९१

६ महाभारत, पूना (आरण्यक पर्व) ३. ८३, ५३–५४, ३.८५.१५
(अनुशासन पर्व) १३.२६.३३

७ (i) वायु पु०, ७७।९३, (ii) पद्म पुराण, १३२।६२–६३, १६६।१३–१४, २३७।६-४
७ (iii) लिंग पु० २४।१०९ आदि।

८ वामन पुराण–९०·२७

९ एडवर्ड मूरः दी हिन्दू पेन्थन, पृ० १०५

यहां पर भैरव मूर्तियों का निर्माण हुआ है। यहां पर भैरव की अनेक मूर्तियां हैं, लेकिन वर्तमान भैरव मूर्ति आकार की दृष्टि से अद्वितीय है। कालंजर की यह भैरव मूर्ति कालंजर दुर्ग में नीलकंठ मंदिर के निकट स्वर्गारोहण कुण्ड के दाहिनी ओर स्थित है। यह शैलोत्कीर्ण मूर्ति कालंजर की दीर्घाकार मूर्ति है। इसकी ऊंचाई लगभग ३० फीट है तथा चौड़ाई १७ फीट है। इसके अठारह हाथ हैं। इसके वक्ष प्रान्त में नर मुण्डों की माला है। भाल पर चन्द्र एवं त्रिनेत्र हैं। कानों में सर्पों के कुण्डल, बाहुओं में सर्पों के वलय एवं गले में सर्प लिपटे हुए हैं, इस मूर्ति के हाथों में विविध आयुध हैं जिनमें प्रमुख तलवार और रक्त पात्र (खप्पर) है। इसके पार्श्व में काली की मूर्ति है। यह काल-भैरव मूर्ति आकार, शिल्प-कौशल की दृष्टि से अद्वितीय है। शिल्प शास्त्रों में १८ भुजी भैरव प्रतिमा का उल्लेख नहीं मिलता है, इस प्रकार से यह अनोखी है। कालंजर की इस अद्वितीय भैरव मूर्ति का उल्लेख अबुल फज़ल ने भी किया है। वह इस भैरव मूर्ति को १८ हाथ ऊंचा बतलाता है।[1] कालंजर की यह दीर्घकाय भैरव मूर्ति भारतवर्ष की दीर्घाकार भैरव मूर्ति कही जा सकती है।

अध्यक्ष,
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं
पुरातत्व विभाग,
शासकीय विज्ञान महाविद्यालय,
रायपुर (मध्यप्रदेश)

---

१ आइने अकबरी, भाग २, पृ० २९

● फणीलाल चक्रवर्ती
● रामवल्लभ सोमानी

मेवाड़ शैली का प्राचीनतम (वि०सं० १२८६ का) रेखांकन

मेवाड़ चित्रशैली की अब तक ज्ञात प्राचीनतम कृति 'श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र चूर्णि' है। यह वि० सं० १३१७ की आहड़ में चित्रित प्रति है, जो इस समय बोस्टन संग्रहालय में है।

इससे भी प्राचीन ३ आकृतियां वि० सं० १२८६ के शिलालेख सहित समिद्धेश्वर मंदिर चित्तौड़ के स्तम्भ पर रेखाङ्कित की गई है। इनका वर्णन इस प्रकार हैः—

सभा मंडप के दक्षिणी ओर के वि.सं. १२८६ के लेख के नीचे स्तंभ पर

स्त्री आकृति

स्त्री की आकृति अपभ्रंश शैली के चित्रों में अंकित नारियों की आकृति से मिलती हुई है। इसके सवाचश्म चहरा बना है। एक आंख बाहर निकली हुई बताई गई है। माथे पर बालों का हल्का अंकन है। पीछे बालों का जुड़ा बना हुआ है। गले में कंठी बनी है। कंधे पर दुपट्टा डाले हुये हैं जिसके नीचे के दोनों भाग चौड़े और लटकते हुए बतलाये गये हैं। यह हंलगा पहने हुये है जिस पर आड़ी रेखा और बिन्दुओं से सुन्दर अलंकरण हो रहा है हाथों और पैरों में कड़े बने हैं।

पुरुष आकृति

पुरुष आकृति में छोटा सा अन्तर है। इसमें कानों में कुंडल नहीं होकर खाली हैं। दाढ़ी बनी है। धोती लम्बी पहने हुये बताया गया है।

---

१ यह लेख पुरातत्त्व व संग्रहालय विभाग के कार्यकर्त्ताओं के चितौड़गढ़ सर्वेक्षण के दौरान तैयार किया गया है, जिसमें विभाग के सर्व श्री गोपीलाल लोढ़ा, गोपीचंद सेवक तथा सुरजसिंह राठौड़ का सहयोग प्राप्त हुआ है।

इस स्तम्भ पर पुरुष आकृति के ऊपर निम्नांकित शिलालेख खुदा हुआ है:-

(१) संवत् १२८६ वर्षे श्रावण सु १ र वौ
(२) श्री समवेश्वर देव पादात्त सूत्र० श्री
(३) धर पुत्र सूत्र' अपतुक: सदा प्रण
(४) मति

सभा मंडप के दूसरे स्तम्भ के नीचे

इसी मंदिर के सभा मंडप के एक अन्य स्तम्भ पर वि० सं० १२८६ के शिलालेख के नीचे पुरुष आकृति खुदी है। इसके चेहरे का भाग अब खंडित हो गया है। शेष भाग वस्त्र, दुपट्टा आदि सब उपरोक्त पुरुष आकृति से मिलता है।

इसके ऊपर के शिलालेख का अंश इस प्रकार है:-

(१) सवत् १२८६ वरीपे श्री समर्ध
(२) स्वर दे द्वरे (देवगृहे) प्रणमुत सूत्र आल पुत्र
(३) × माऊकी
(४) न इ ता

इन तीनों आकृतियों को हम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानते है। ये तीनों सूत्रधारों से सम्बन्धित है। ये सूत्रधार देवोपासना के निमित आते हुये वर्णित किये गये हैं। इसलिए इनका अंकन हूवहू अपभ्रंश शैली के चित्रों में अंकित आकृतियों से मिलता है। सूत्रधार खोदने वाले निसंदेह अच्छे कुशल कारीगर रहे होगे जिन्होंने ऐसी अच्छी आकृतियां पत्थर पर केवल रेखा द्वारा बनाई है।

इस प्रकार इन आकृतियों से हम 'श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र चूर्णि' से भी पहले मेवाड़ में चित्रकला की परम्परा रख सकते हैं। क्योंकि ये आकृतियां हुवहु वैसी ही है जैसी कि अपभ्रंश चित्रशैली की।

फणीलाल चक्रवर्ती
अधीक्षक
पुरातत्त्व विभाग,
उदयपुर मंडल, उदयपुर

रामवल्लभ सोमानी
कानूनगो भवन,
कल्याणजी का रास्ता,
जयपुर (राज०)

● श्रीमती पुष्पा शर्मा

चक्रपाणि मिश्र कृत 'राज्याभिषेक पद्धतिः'

मेवाड़ प्रदेश में शासकों के राज्याभिषेक की विशिष्ट परम्परा रही है। इस परम्परा के बारे में कर्नल जेम्स टॉड[1], मेजर के० डी० इर्सकिन[2], कविराजा श्यामलदास[3], डॉ० गौरीशंकर हीराचंद ओझा[4] एवं नाथूलाल भागीरथ व्यास[5] ने संक्षिप्त रुप से प्रकाश डाला है।

किन्तु चक्रपाणि मिश्र कृत 'राज्याभिषेक पद्धतिः' एक ऐसा ग्रन्थ है,[6] जिस ओर अभी तक विद्वानों का ध्यान नहीं गया है। अपने अनुसंधान कार्य के दौरान इस ग्रन्थ को देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ।[7] इसमें विविध धार्मिक ग्रन्थों के आधार पर राज्याभिषेक पद्धति का विशद वर्णन किया गया है। ऐसे ग्रन्थों के प्रणयन की मेवाड़ में परम्परा रही है और ऐसी मान्यता है कि राज्याभिषेक के समय विविध धार्मिक ग्रन्थों के आधार पर ऐसे ग्रन्थों का निर्माण प्रायः किया जाता था ताकि राज्याभिषेक के सम्पूर्ण कार्यक्रम एवं समस्त विधि-विधानों में क्रम-बद्धता रहे। इस तरह के ग्रन्थों का बाद में समय-समय पर पुनर्लेखन भी होता रहता था। 'राज्याभिषेक पद्धतिः' ऐसा ही एक हस्तलिखित ग्रन्थ है[8],

---

1 Annals and Antiquities of Rajasthan, vol. I, p 177 (Calcutta edition)

2 Rajputana Gazetteers, vol. II, A, p 228

३ वीर विनोद, जिल्द १, पृ० २९१

४ उदयपुर राज्य का इतिहास, जि० २, पृ० ५९५-९६

५ शोध पत्रिका, वर्ष ६, अंक १, पृ० ३१-४४

६ द्रष्टव्य-राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर, हस्तलिखित ग्रंथ सं० २२६ (संस्कृत)

७ इस सहयोग के लिये मैं प्रतिष्ठान के प्रभारी डॉ० ब्रजमोहन जावलिया के प्रति आभारी हूं।

८ इस ग्रन्थ की राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर में ही दो प्रतियां क्रमशः २२६ व २२८ (संस्कृत) और उपलब्ध है।

जिसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

ग्रन्थ का नाम—	राज्याभिषेक पद्धतिः
लेखक—	चक्रपाणि मिश्र
रचनाकाल—	विक्रम की १७ वीं शताब्दी
पुनर्लेखनकाल—	वि. सं. १७३८ आश्विन कृष्णा, रविवार
ग्रन्थ के कुल पत्र—	३५ (पैंतीस)
आकार—	९" × ५"

प्रस्तुत ग्रंथ का प्रारम्भ निम्न पंक्तियों से हुआ है—**श्री रामायनमः ॥ राज्याभिषेक पद्धति लिखयते ॥ राघवेन्द्र प्रणम्याहं सर्व कामार्थ सिद्धये ग्रंथानालो ( ) भूपानामाभिषेक विधि ब्रुवे** ....

इसके पश्चात् ही आगामी पंक्तियों में चक्रपाणि मिश्र ने सामविधि के अनुसार (अर्थात् जो विधि सामवेद से उद्धृत की गयी है, उससे) राज्याभिषेक से पूर्व निम्न तैयारी करना आवश्यक बताया है।

सबसे पहले व्रीही, यव, तिल, माष, दधि, मधु, सुमन, जातरुप (सोना), यशस्वी नदियों का जल (गंगा जमुना आदि) लेकर उनमें समुद्र का जल मिलाया जाय। इसके पश्चात् आहुति उदकर (अमरा के वृक्ष से) छींटें दिये जाय। फिर भद्रासन लगाकर व्याघ्र-चर्म (बाघ की खाल) के लोम वाले भाग पर बैठ कर जीवन्ती के गोश्रृंगाकेश (गाय के सींग में) शुद्ध जल से छींटे दिये जाय।

विद्वान् लेखक आगे लिखता है कि जिसका राज्याभिषेक किया जाना हो उसके सबसे पहले आंख व कान पवित्र जल से धोये जाय। सबसे पहले ऐसा करने का तात्पर्य यह बताया है कि शासक को प्रारम्भ में ही बता दिया जाये कि उसके नेत्र अपनी प्रजा के हितों को सदैव देखते रहे जिससे कि वह उसकी रक्षा कर सके। मन्त्रोचार द्वारा कानों को स्पर्श कराने का तात्पर्य है कि राजा सर्व साधारण की पुकार न्याय पूर्वक सुनता रहे। इसके पश्चात् मन्त्रोचारण के तुमुल घोष के साथ शंख व चक्र का नाद करते हुए पुनः स्पर्श किया जाय। इस प्रसंग में लेखक ने यह दर्शाना चाहा है कि शासक प्रशंसापरक गीतों को सुनते हुए राज्य कल्याण से विमुख न रहे। तत्पश्चात् अग्नि प्रज्वलित की जाये और मन्त्रोचार के साथ ही शासक की भुजा और नाभि का स्पर्श किया जाय। तात्पर्य यह है कि वाडवाग्नि की ज्वाला के सदृश्य कीर्ति शोभित रहे और भुजबल से यह ज्वाला निरन्तर बढ़ती रहे। अर्थात् कीर्ति फैलती रहे। फिर बिल्वपत्र से सोलह बार मंत्रोचार किया जाना लिखा है। जिसका तात्पर्य है कि शासक भी सोलह कलाओं से परिपूर्ण हो। लेखक ने उपरोक्त वर्णन विष्णुधर्मोतर पुराण से संग्रहीत किया है और इसके साथ ही अन्य धर्म ग्रंथों के समान प्रत्येक क्रिया-कलाप का वर्णन संवाद के रुप दर्शाया है। मुख्य संवाद पुष्कर, युधिष्ठर और नारद आदि के हैं।

आगे चक्रपाणि मिश्र लिखते हैं कि सत्तारूढ़ शासक की मृत्यु होने पर उसकी अन्तिम क्रियाओं की समाप्ति के साथ ही भावी शासक को तत्काल स्नान कराया जाय। तत्पश्चात् नये शासक का जयघोष किया जाये और इसके साथ ही बन्दियों को छोड़ दिया जाये। अभयघोष किया जाय। इस वर्णन के साथ-साथ चक्रपाणि मिश्र ने यह भी निर्दिष्ट किया है कि निम्नलिखित अवसरों पर राज्याभिषेक स्थगित कर दिया जाय-चैत्र मास में, अधिक मास में, जब देव सो रहे हों, जब कर्ण नक्षत्र चल रहा हो तथा तृतीया, चतुर्थी, नवमी और चतुर्दशी को भी राज्याभिषेक वर्जित बताया है। पुन: मिश्रजी लिखते हैं कि यदि राज्याभिषेक वैष्णव नक्षत्र, पुष्य नक्षत्र, हस्त नक्षत्र और रोहिणी नक्षत्र में किया जाय तो बहुत शुभ रहता है। इन सब बातों का ध्यान रखते हुए शासनाधिकारी को अग्नि वेदी के पास लाया जाय। ब्राह्मणों द्वारा राजसूय मंत्र पढ़ाया जाय। इसके पश्चात् शासनाधिकारी आसन पर बैठे और तब शासनाधिकारी को पुन: सौ छेद वाले पात्र से, जिसमें स्वास्थ्यवर्धक औषधियां मिश्रित हो, स्नान कराया जाय। उसके कमर-पट्टा बांधा जाय और गाय, बैल, हाथी और घोड़ों का पूजन किया जाय। पूजन की समाप्ति पर राजा सबसे पहले प्रतिहार (द्वाररक्षक) को देखें। तत्पश्चात् अमात्य को (दीवान को), और फिर नगर के गणमान्य व्यक्तियों, पुजारी, व्यापारी व अन्यों को देखें। इसके पश्चात् स्वर्ण जड़ित घोड़े, गाय, बछडे आदि का दान करे। पुन: लेखक पुराणों और स्मृतियों के आधार पर वर्णन करता है कि पश्चिम में जो वेदी हो वह पाच हाथ और पांच सूत की हो। वेदी तक पैदल जाया जाय। परन्तु यह ध्यान रखा जाय कि वह वेदी चालीस कदम से दूर न हो। इसके पश्चात् लेखक ने रत्नकोष, ज्योतिष शास्त्र और राज्यवल्भाग्रंथ आदि के आधार पर लिखा है कि इन सब क्रियाओं की सम्पन्नता पर चंवर डुलाया जाय और राजा को खड़ग हस्त दिया जाय। लेखक ने खड़ग का माप-दण्ड भी दिया है।

लेखक ने इसके पश्चात् 'गर्ग संहिता,' 'हेमाद्री का वर्तखण्ड' 'रुपनारायण ग्रंथ' आदि से लिये गये मंगला-चरण दिये हैं। "विष्णुधर्मोत्तर" पुराण से ली गई विभिन्न देवताओं की स्थिति और स्तुति दी गयी है, जिनका गायन करना चाहिये। स्तुति गायन के पश्चात हाथियों को स्नान कराना चाहिये और तब अर्धांगिनी को राजा के समीप बैठना चाहिये। इसके साथ-साथ ही उपदेशों की प्रक्रिया आरम्भ की जानी चाहिये। ऋषियों और उनकी शिक्षाओं की महत्ता बतायी जानी चाहिये और इसकी समाप्ति पर इतिहास, वेद, पर्वत्, नदियों, पुराणों, उपनिषदों, गायत्री मंत्र, देवियों, राजन्यों और देवताओं की महत्ता बतायी जानी चाहिये। इसके पश्चात् युद्ध सम्बन्धी शिक्षा दी जानी चाहिये और इन सब क्रियाओं की समाप्ति के साथ ही पुरोहित और सम्बन्धियों के द्वारा टीका किया जाना चाहिये तथा गजारोहण, अश्वारोहण, रथारोहण के साथ शासक की सवारी निकाली जानी चाहिये और भेंट में न्योछावर जारी रहना चाहिये।

विद्वान् लेखक चक्रपाणि मिश्र ने अपने ग्रंथ की समाप्ति निम्नलिखित पंक्तियों के साथ की है--**इति श्री नाना पुराण वेद स्मृति ग्रंथेभ्यः सार मुद्धेत्य मिश्र श्री चक्रपाणिऽऽना**

विरचिता राज्याभिषेक पद्धति सम्पूर्णः सम्वत १७३८ आसोज वदी दीतवारे ।। नरहरदास वैष्णवेन लिख्यते ।। लेखक पाठक्योः शुभमस्तु ।।

ऐ पद्धति पुरोहितजी श्री गरीबदासाय समर्पितः पुरोहितः माधवेन लिखायिता रामपरा ग्राम मध्ये ।।

अर्थात् अनेक पुराण वेद और स्मृति ग्रंथों के सार को उद्धृत करके चक्रपाणि मिश्र द्वारा विरचित राज्याभिषेक पद्धति सम्पूर्ण हुई । वि० सम्वत् १७३८ आसोज वदी रविवार को जिसे नरहरदास वैष्णव ने पुनः प्रतिलिपि किया और यह इच्छा प्रकट की कि लेखक और पाठकों दोनों का भला हो । पुरोहित माधव ने जिसको पुनः प्रतिलिपिबद्ध किया और रामपुरा गांव में पुरोहित गरीबदासजी को समर्पित किया ।

द्वारा:—जिला पुरालेख कार्यालय,
उदयपुर (राजस्थान)

● डॉ० महावीरप्रसाद शर्मा

कोटपूतली में प्राप्त 'नृसिंहावतार' की मूर्ति

भारतीय मूर्तिकला के इतिहास में राजस्थान की मूर्तिकला का अपना विशेष स्थान है। यह बात पिछले वर्षों में हुई खोज एवं खुदाई से सिद्ध हो चुकी है। इन दिनों अनेक महत्त्वपूर्ण कलाकृतियाँ प्रकाश में आई हैं। फिर भी अनेक ऐसे अछूते क्षेत्र पड़े हैं, जहाँ उत्खनन की अपेक्षा है। ऐसे क्षेत्रों में कोटपूतली क्षेत्रीय अमांई गाँव भी एक है। कहा जाता है कि प्राचीनकाल में अमांई गाँव के स्थान पर अमरावती नाम की अत्यन्त वैभव सम्पन्न नगरी थी। विराट नगर (वैराठ), भाब्रू और अमरावती पौराणिक काल से ही प्रसिद्ध नगर रहे हैं। विराट और भाब्रू में प्राप्त हुए अशोकीय अभिलेखों के प्राप्त होने पर बौद्ध-कालीन इतिहास पर भी प्रकाश पड़ता है। किन्तु अभी तक अमरावती नगरी के सम्बन्ध में कोई जानकारी प्रकाश में नहीं आई है। पिछले दिनों प्रस्तुत लेखक जब इस क्षेत्र में गया तो वहाँ लोगों से अनेक महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई। इनमें से एक जानकारी भगवान 'नृसिंहावतार' की मूर्ति के सम्बन्ध में भी मिली, जिसका विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

नृसिंहावतार भगवान विष्णु का चौथा अवतार था। गीत गोविन्दकार ने नृसिंहावतार की पूजा में निम्नलिखित बात कही है—

तव कर कमल वरे नखमद्भुत शृंगं दलित हिरण्यकश्यपु तनु भृंगम्। केशव धृत नरहरि रूप, जय जगदीश हरे।

यह सर्व विदित है कि दैत्यराज हिरण्याकश्यप का वध करने हेतु एवं भक्त प्रह्लाद की रक्षार्थ भगवान विष्णु ने नृसिंहावतार लिया था। इसी नृसिंहावतार की जो मूर्ति अमांई गांव [कोटपुतली-जयपुर से २५ मील दक्षिण] में प्राप्त हुई थी, पिछले ७० वर्षों से कोटपूतली के लक्ष्मीदासजी का मंदिर (बड़ा मंदिर) के आंगन में प्रतिष्ठित है। कहा जाता है कि ७० वर्ष पहले आमांई गाँव के कुछ कृषक अपने खेत की ऊंची-नीची भूमि को समतल कर रहे थे कि जमीन से प्राचीन बर्तनों के टुकड़े, सिक्के एवं उक्त मूर्ति निकली। प्रस्तुत लेखक को सिक्के देखने का अवसर नहीं मिला, किन्तु अब भी यदा-कदा कोई खुदाई का कार्य होता है तो वहाँ बड़ी--बड़ी पक्की ईंटे एवं बर्तनों के टुकड़े निकलते रहते हैं।

'नृसिंहावतार' की यह मूर्ति अत्यन्त प्राचीन लगती है। कोई समय-सूचक चिह्न नहीं होने के कारण इसकी प्राचीनता की सीमा नहीं बांधी जा सकती। किन्तु वर्तमान कोटपूतली नगर भी अमांई से आये लोगों द्वारा ६०० वर्ष पहले आबाद हुआ था। अतः

यह तो निश्चित् है कि यह मूर्ति इससे प्राचीन है। इसके सही समय का निर्धारण विद्वान् लोग ही कर सकते हैं। यह मूर्ति ३० इंच चौड़े, ३५ इंच लम्बे एवं १५ इंच मोटे प्रस्तर फलक पर उत्कीर्ण है। इस फलक के एक ओर ही मूर्ति उत्कीर्ण है, बाकी पत्थर साफ है। 'नृसिंहावतार' की मूर्ति के बाएँ एवं दाएँ दो चामरधारणियाँ भी उत्कीर्ण है। शेष प्रस्तर-फलक सुन्दर ढंग से तक्षण किया गया है। 'नृसिंहावतार' की चतुर्भुजी मूर्ति कला का सुन्दर नमूना कही जा सकती है। इस मूर्ति का आकार ११ इंच ऊंचा एवं ६½ इंच चौड़ा है। मूर्ति के ऊपर २० इंच का शिरोवेष्टन दिखाया गया है जो प्राय: कुषाण या शुंगकालीन मूर्तियों पर पाया जाता है। इसमें भगवान नृसिंह, हिरण्याकश्यप, को अपने अंक में डालकर दोनों हाथों के नखों से उसका वक्षस्थल फाड़ते दिखाये गये हैं। दो हाथ ऊपर उठाये हुए हैं, जिनमें दाएँ हाथ में शंख एवं बाएँ हाथ में चक्र दिखाया गया है। नृसिंह भगवान का मुख खुला हुआ, जिह्वा बाहर की ओर निकली हुई, आँखें गोल, मोटी एव नाक चपटा दिखाया गया है। दोनों कान ऊपर की ओर उठे हुए हैं। हिरण्याकश्यप की आँखें फटी हुई, हाथ लटके हुए, शरीर बेबस एवं पैर मुड़े हुए दिखाये गये हैं। भगवान नृसिंह के पैरों के नीचे भी एक राक्षस दबा हुआ दिखाया गया है। यह राक्षस संभवत: हिरण्याकश्यप का कोई चर होगा, जो उसकी रक्षार्थ आया होगा। मूर्ति के दोनों ओर दो स्तम्भ भी उत्कीर्ण हैं जिससे ऐसा प्रकट होता है मानो हिरण्याकश्यप के महल में ही उसका वध हुआ है। इस प्रकार यह मूर्ति नृसिंहावतार सम्पूर्ण आख्यान को प्रस्तुत कर देती है।

भगवान नृसिंह की मूर्ति के दाएँ–बाएँ दो चामरधारणियाँ भी उत्कीर्ण हैं। चामरधारणियों का आकार क्रमश: ११ इंच लम्बा एवं ६ इंच चौड़ा है। इन दोनों मूर्तियों के ऊपर भी बीस इंच लम्बा शिरोवेष्टन है। दांई ओर की चामरधारिणी का बायां हाथ बाईं जंघा पर टिका है तथा दायां हाथ उठा हुआ है जिसमें चमर धारण कर रखा है। बांई ओर की चामरधारिणी का बांया हाथ सीधा है तथा दाएं उठे हुए हाथ में चामर धारण कर रखा है। दोनों ही चामरधारिणियाँ प्रसन्न मुद्रा में अंकित हैं। दोनों की आँखें गोल एवं आयत हैं, गर्दन छोटी है, एवं उरोज गोलाकार एवं उभरे हुए दिखाए गये हैं। कानों में गोलाकार आभूषण एवं सिर पर छोटे–छोटे मुकुट हैं। नाभी गोल एवं गंभीर है। कटि प्रदेश अति क्षीण एवं करघनी संयुक्त दिखाया गया है। नितम्ब प्रदेश भारी एवं उभरे हुए हैं। कटि–प्रदेश से नीचे अधोवस्त्र पहने हुए दिखाया गया है। इस प्रकार दोनों ही मूर्तियाँ अत्यधिक सुन्दर एवं कला के उत्कृष्ट उदाहरण कही जा सकती हैं।

नृसिंह–भक्ति का प्रचार इस क्षेत्र में आज भी बहुत है। हो सकता है प्राचीनकाल में यहाँ नृसिंह–पूजा का प्रचार रहा हो। इस ओर शोध–प्रज्ञों को ध्यान देना चाहिए। हो सकता है अन्य महत्त्वपूर्ण जानकारी प्रकाश में आजाये।

प्राध्यापक, हिन्दी–विभाग,
राजकीय महाविद्यालय, कोटपूतली (राज०)

● रवीन्द्रकुमार शर्मा

महकमा बुतायात के कतिपय अभिलेख

अनुसंधान के सन्दर्भ में मुझे राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर में जयपुर राज्य के 'महकमा बुतायात' के अभिलेखों के अवलोकन का अवसर प्राप्त हुआ। बीकानेर अभिलेखागार में बुतायात महकमे की लगभग १६१ गठ्ठर (Bundles) की सामग्री सुरक्षित है, जो वि० सं० १७६४ से वि० सं० १८९३ तक की है। महकमा बुतायात के ये अमूल्य अभिलेख पीले रंग के नोटबुक के समान छोटे-२ पृष्ठों में, जो कभी सफेद रंग के रहे होंगे, में इतिहास सम्बन्धी अमूल्य निधि सुरक्षित है। बुतायात के ये अभिलेख तत्कालीन जयपुर राज्य की शासन पद्धति के निम्न पहलुओं पर अच्छा प्रकाश डालते हैं– पैदल[1], अश्व[2], गज और ऊँट[3], सेना का प्रबन्ध, उन पर होने वाला खर्च, सैनिकों का वेतन[4], वेशभूषा, अस्त्र-शस्त्रों के नाम व प्रकार[5], प्रसिद्ध हाथियों व ऊँटों के नाम, हाथियों व ऊँटों पर प्रयुक्त होने वाली तोपें व बन्दूकें,[6] ऊंटों व हाथियों को दी जाने वाली खाद्य सामग्री[7] आदि। महकमा बुतायात के कुछ महत्त्वपूर्ण अभिलेखों का अविकल मूलपाठ इस प्रकार है—

---

१ संवत् १७८९ माघ वदी ४ जयपुर अभिलेख पत्र, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर।

२ वही, अभिलेख पत्र, माघ वदी ६।

३ संवत् १८४३ का अभिलेख पत्र।

४ संवत् १७८९ का अभिलेख पत्र।

५ संवत् १७६७ का अभिलेख पत्र।

६ ये अस्त्र-शस्त्र आजकल जयपुर के सिटी पैलेस के महाराजा सवाई मानसिंह द्वितीय म्यूजियम के शस्त्रागार में एम० जे० एम० १२, एम० जे० एम० २, एम० जे० एम० ६२ तथा एम० जे० एम० ८ पर सुरक्षित है जो मैंने अपनी शोध यात्रा में स्वयं देखे हैं।

७ संवत् १७८६ मि० सावण सुदी ७ बीसपतवार का अभिलेख।

[१]

राम

रोजनामौ बुतायात

सवाई महाराजा ईश्वरसिंघजी

संवत् १७९७ मिती सावण सुदी ७ बीसपतवार

फीलषानौ ....

जमा जंजीर हथणी गजरम्भा

हाथी राममनोहर, हाथी रामप्रसाद हथणी लिछमी तिका दिया

दरोगा फीलषाना नै ६० रु०

सही
मोहर

महाराजा जयपुर

[२]

राम

रोजनामौ बुतायात

सवाई महाराजा ईश्वरसिंघजी

संवत १७९९ मिती जेठ बदी ३ सनिसवार

पुराक फीलषानों-----

३ जी		दाणों १॥ ६॥	रातीव १॥
चावल १॥		आटो १॥।	घांड मू ऽ६
घी १।		ज. १	
सुन्दर गज		सुन्दरगज	
१		१	
सुन्दर मोहन		सुन्दर मोहन	
१		१	
ज १७३	गज ११४	गज १४	गज १४
गाजर १॥	मुली ३॥	मीरच १॥	

सही
मोहर

महाराजा जयपुर

[३]

राम

रोजनामौ वुतायात

सरुपसींघजी

संवत १८८८ मिती माह बदी ४ सुक्रवार

षुराक पीलषानौ	दाणों	पांड	घी
३ गज	१॥	३	५
दाल	हलद	घाणी	
।॥	४	१॥	

दरोगो ल्यायो

सही मोहर — महाराजा जयपुर

[४]

तबलक न० ४ संवत् १७९६

अनवान मुतफरीक--महकमा वुतायात

फतह दोलत

गज रम्भा

सुरेन्द्र

मोहन

सुन्दर गज

सुन्दर मोहन

सही मोहर — महाराजा जयपुर

[५]

राम
रोजनामौ बुतायात
सवाई महाराजा ईश्वरसिंघजी
तबलक न० ४ संवत् १७९७ मि० सावण

जंबुरा ४८
हथनाल १७
भाले २१
तलवार १९
गोली सीसा की ७४॥
गोली आजंबुरा ४५, ८८
जमा करया छै

सही
दरोगा फीलषाना

| सही मोहर | महाराजा जयपुर |

इसी प्रकार के बहुत से अभिलेख राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर में सुरक्षित है जो जयपुर राज्य के प्रशासन पर विशद और अच्छा प्रकाश डालते हैं।

ई ३५/११५३, रानी बाजार,
बीकानेर (राजस्थान)

● अगरचन्द नाहटा

'सहजरामचन्द्रिका' सम्बन्धी विशेष ज्ञातव्य

डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित का "केशवदासकृत कविप्रिया की टीकायें" नामक एक लेख पूना विद्यापीठ पत्रिका नं० ३७ और सम्मेलन पत्रिका के साहित्य, संस्कृति, भाषा विशेषांक में प्रकाशित हुआ है। लेख को पढ़ने पर कई बातें संशोधनीय लगी। अतः इस लेख में कविप्रिया की सहजरामचन्द्रिका टीका के सम्बन्ध में डॉ० दीक्षित ने जो बातें लिखी हैं उनकी भ्रान्तियों का संशोधन प्रस्तुत किया जा रहा है—

डॉ० दीक्षित ने लिखा है कि सहजरामचन्द्रिका टीका की सूचना पहली बार डॉ० हीरालाल दीक्षित ने अपने शोध प्रबन्ध "आचार्य केशवदास" में दी। .... सहज रामकृत टीका का पहले-पहल पता डॉ० हीरालाल दीक्षित ने लगाया। पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। हिन्दी जगत में इस टीका का विवरण सन् १९०४ की खोज रिपोर्ट के द्वारा ही प्रकाश में आ चुका था। डॉ० हीरालाल दीक्षित को भी इस टीका की प्रतियों की जानकारी सन् १९०४ की खोज रिपोर्ट से ही मिली होगी। १९०४ की खोज रिपोर्ट मेरे संग्रह में है। उसके पृष्ठ ४८ में इस टीका का विवरण इस प्रकार छपा है—

No. 61. सहजरामचन्द्रिका Prose and Verse. Substance–Country made paper. Leaves–228. Size–$10\frac{3}{4} \times 6\frac{3}{4}$ inches. Lines–15 on a Page. Extent 3400 Slokas. Appearance–New. Complete. Correct. Character–Devanagari. Place of deposit·Library of the Maharaja of Banares.

Sahaja Ramachandrika-Commentary on the Kavipriya of of Kesavadasa by Nazir Sahaja Rama. There are two other undated manuscripts of this book in this library.

Begining श्री गणेशायनमः ॥ अथ मूल मंगलाचरण दोहा ॥

गजमुष होत हीं विघन विमुष है जात ॥
ज्यों पग परत प्रयाग मग पाप पहार विलात ॥१॥

।।टीका ।।प्रशन।। विघननिको विमुषै कहो पापिनि विलात ।।
इक को भजिवो एक कोनासन सम यह वात । २।।
तातें या दृष्टांत की है मध्यम समतान ।।
वर्णनीय की न्यूनता यह कविजन सुषदान ।।३।। उत्तर ।।
विमुष अर्थ यह विगत मुष कहा कि सिर विन होत ।।
याते विमुष विलात को नसिवो अर्थ उदोत ।।४।।

End—सुबरन जटित पदारथनि भूषन भूषित मानि ।।
कविप्रिया है कविप्रिया कवि संजीवनि जानि ।।९७।।
पल पल प्रति अवलोकिवो सुनिबो गुनिबो चित्त ।।
कविप्रिया यो रच्छिबो कविप्रिया ज्यों मित्त ।।९८।।
अनल अनिल जल मिलन तैं विकट खलनि ते नित्त ।।
कविप्रिया ज्यों रच्छियो कविप्रिया यों मित्त ।।९९।।
केसव सोरह भाव सुभ सुवरनमय सुकुमार ।।
कविप्रिया के जानि यहु सोरहई सिंगार ।।१००।।
सहजरामकृत चंद्रिका ससि चंद्रिका समान ।।
ताकत ही संसय तिमिर प्रतिदिन करत पयान ।।१०१।।

इति श्री नाजर सहजराम विरचितायां कविप्रिया टीकायां सहजरामचंद्रिकायां-चित्रालंकार वर्णनं नाम षोडस प्रकासः
।।१६।। समाप्तो शुभमस्तु ।।
Subject—कविप्रिया की टीका

Note:—टीकाकार नाज़िर सहजराम हैं । इस ग्रंथ की दो प्रतियाँ इस पुस्तकालय में हैं ।।

डॉ० दीक्षित ने बीकानेर राजवंश का वंशवृक्ष और राजाओं के राज्यकाल की जो तिथियां दी हैं, उनमें काफी भूल-भ्रान्तियाँ रह गयी है । टॉड कृत राजस्थान के बाद बीकानेर के कई इतिहास प्रकाशित हो गये हैं । यदि वह ओझाजी का इतिहास ही देख लेते तो इतनी गड़बड़ी नहीं होती । बीकाजी का राज्यकाल सम्वत् १५४५ से १५५१ तक लिखा हुआ है, वह गलत हैं । बीकाजी ने राज्य स्थापना वि० सं० १५२९ में की । सम्वत् १५६१ के वैशाख सुदी ५ को उनका देहान्त हुआ । इसके बाद राव नरा ने ६ महिने राज्य किया । तत्पश्चात् राव लूणकरण का राज्यकाल दीक्षितजी ने सं० १५५१-६६ दिया है, वह गलत है । राव लूणकरण सं० १५६१ के फागण बदी ४ को गद्दी पर बैठे एवं १५८३ के वैशाख वदी २ को देहान्त हुआ । राव जयतसिंह (जैतसिंह) का राज्यकाल सं० १५६९ से १६०३ लिखा हैं, वह भी गलत है । वे सम्वत् १५८३ के वैशाख वदी १५ को गद्दी पर बैठे तथा

सम्वत् १५९८ फागण सुदी ११ को उनका देहान्त हो गया। राव कल्याणमल का राज्यकाल संवत् १६०३ से लिखा गया है, पर वे सं० १५९८ को ही गद्दी पर बैठे थे। महाराजा रायसिंह का राज्यकाल १६८८ तक दिया हुआ गलत है, वह वि० सं० १६६८ होना चाहिए। उसके बाद दलपतसिंह ने २ वर्ष तक राज्य किया और तत्पश्चात् सूरसिंह ने सम्वत् १६७० से १६८८ तक १८ वर्ष तक राज्य किया। दीक्षितजी ने इन दोनों का नाम छोड़ दिया और रायसिंह का राज्यकाल १६८८ तक लिख दिया। महाराजा कर्णसिंह का सम्वत् १७३० तक का राज्यकाल लिखा है पर १७२६ में ही उनका देहान्त हो गया था। महाराजा अनूपसिंह का राज्यकाल १७३० से १७६५ लिखा है, वह सम्वत् १७२६ से १७५५ का है। इसके बाद सरूपसिंह ने २ वर्ष राज्य किया। फिर सुजानसिंह का राज्य काल संवत् १७६५ से १७९३ का लिखा है, वह संवत् १७५७ से १७९२ होना चाहिए। महाराजा जोरावरसिंह का संवत् १७९३ से १८०२ लिखा है। वह संवत् १७९२ से १८०३ का है। इसी तरह महाराजा गजसिंह का काल सवत् १८०२ से १८४३, तक लिखा है, वह संवत् १८०३ से १८४४ तक का है। अतः सहजरामचंद्रिका, महाराजा गजसिंह की मृत्यु के ६ वर्ष पूर्व रची गयी लिखा है, वहाँ १० वर्ष पूर्व समझना चाहिए।

शूरसेन राजा का नाम दिया, वहां सूर्यसिंह या सूरसिंह होना चाहिए। सन् १९२३ से १९२५ की रिपोर्ट का जो उद्धरण दिया है, उसमें भी विष्णुराम और विष्णुपुर नाम गलत है। बीकाराव और विक्रमपुर होना चाहिए। सहजराम की टीका की सूचना खोज रिपोर्ट में भले ही न थी, डॉ० हीरालाल दीक्षित अपने शोध प्रबन्ध में दे ही चुके थे। डॉ० दीक्षितजी का यह लिखना भी ठीक नहीं है क्योंकि इस टीका की सूचना शोध प्रबन्ध से बहुत पहले सन् १९०४ की खोज रिपोर्ट में छप ही चुकी थी।

अन्त में दीक्षितजी ने एक और गलती करदी कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन की कवि प्रिया की सूरत मिश्र की टीका को 'सहजरामचन्द्रिका' मान ली।

वास्तव में उस प्रति का लिपिकाल का जो नाम छपा है, उसी से उनको भ्रम हो गया। उन्होंने लिखा है कि हस्तलिखित ग्रंथों की विवरणात्मक सूची में कविप्रिया सटीक का परिचय दिया गया है वह भ्रामक है। वस्तुतः वह 'सहजरामचन्द्रिका' का परिचय होना चाहिए। सूरति मिश्र कृत कविप्रिया टीका का नहीं। सूची में टीका के रचनाकाल को लिपिकाल और बलीभद्र को उसका लिपिकार मान लिया जो सत्य नहीं माना जा सकता।

बलीभद्र के सम्बन्ध में तो कभी फिर प्रकाश डालूंगा। अभी तो एक महत्त्वपूर्ण सूचना दे रहा हूं कि सहजरामचंद्रिका की तीन प्रतियां अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर में है। उनमें एक ९७ पत्रों की प्रति सूची के अनुसार सम्वत् १८३४ आश्विन सुदी शनिवार को लिखित है। अर्थात् रचनाकाल के दिन की ही है। दूसरी प्रति संवत् १८३८ की रचना के ४ वर्ष बाद की लिखी है। तीसरी प्रति पहली प्रति की प्रतिलिपि बतलायी गयी है।

—नाहटों की गुवाड़,
बीकानेर (राजस्थान)

समीक्षा

घूमरें

सम्पादक : मोहनलाल पुरोहित एवं मुरलीधर व्यास। प्रकाशक : राजस्थान साहित्य अकादमी (संगम), उदयपुर, जनवरी १९७२, मूल्य ५.५०, पृ० १३१

गीत अनादि से व्याप्त है, वायुमण्डल के कण-कण में यह तत्त्व तिरोहित है। इतिहास की दृष्टि से भारतीय गीत का प्रारंभ आदि ऋषि वाल्मीकि के–

"मा निषाद् प्रतिष्ठां त्वम् शाश्वती समा:।
यत् क्रौंच मिथुनादेकमवधी: काममोहिताम्।।" से माना जाता है। इस दृष्टि से गीत की अपनी शाश्वत परम्परा रही है।

राजस्थानी साहित्य में काव्य जीवन्त रूप में विद्यमान रहा है। यहां के जन-जीवन में गीत, संगीत एवं नृत्य का सर्वाधिक प्रचार रहा है। इस पृष्ठभूमि में देखा जाये तो राजस्थान के लोक–जीवन में 'घूमर' नृत्य की अपनी विशिष्ट परम्परा है। लोक-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् डॉ० सत्येन्द्र के मतानुसार घूमरें नृत्य–गीत हैं। ये नृत्य–गीत लोक–मनोरंजन के साथ-साथ लोकाभिव्यक्ति को भी समाहित किये हुए हैं।

प्रस्तुत संग्रह 'घूमरें' राजस्थान के मूर्धन्य विद्वान् मोहनलाल पुरोहित एवं मुरलीधर व्यास द्वारा संपादित है। इन दोनों विद्वान् सम्पादकों ने इस संग्रह में तात्विक दृष्टि से घूमर नृत्य का विवेचन एवं वर्गीकरण कर उसकी विविध शैलियों को भी प्रस्तुत किया है। मेरी दृष्टि में यह अनूठा एवं अनुपमेय संकलन है। इस श्रम-साध्य कार्य के लिए विद्वान् सम्पादक–द्वय बधाई के पात्र हैं, कि इस प्रकार से राजस्थान की महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक विधि को संकलित कर विद्वत् समुदाय के समक्ष प्रस्तुत किया। राजस्थानी सबद कोस के सृष्टा पंडित सीताराम लालस ने सबद कोस की भूमिका में लिखा है, "जिस परिमाण में यहां साहित्य सृजन हुआ है, उसका कुछ ही अंश प्रकाश में आया है। अनगिनत हस्तलिखित ग्रन्थों में वह अमूल्य सामग्री ज्ञात-अज्ञात स्थानों में बिखरी पड़ी है।"

"घूमर मात्र नृत्य ही नहीं वरन् इससे संबंधित विशिष्ट गीत भी हैं, जिनका अपना व्यवस्थित विधान भी है। सम्पादकों ने घूमर की अपनी आवर्जनाएें (टेबू) भी स्थापित किये हैं। सामान्यतया यह सामूहिक नृत्य चैत्र माह अथवा होली के दिनों में सम्पूर्ण रात्रि

तक सात अथवा नौ के समूह में चलता रहता है। घूमर ब्रज की होली अथवा रसिया के समकक्ष उन्मादक गीत है। घूमर की शैलियों में सर्वप्रथम रूप 'कठड़ो' का है जिसमें एक पत्नी के प्रति आसक्ति बतलाई गई है, तो दूसरे रूप में 'बिछियो' (नखलिया)—नारी के आभूषण के प्रति आकर्षण दर्शाया गया है। तीसरे रूप में 'गेंद गजरो' शृंगार गीत है, तो चौथे रूप में 'घूमर' बाल—विवाह के प्रति निषेधात्मक स्वर का प्रस्फुटन है, 'करियो' पंचम रूप में राजस्थान की महत्त्वपूर्ण प्रेम—कथा 'ढोला मारू' को लिये हुए है। इसी प्रकार 'सूरजड़ी', 'आंबो', 'इगन गिगन भंवरो फिरे,' 'ओढणी,' 'ओठीड़ो,' 'चांदा रैत जै चांनणी,' 'इथ गोकुल उथ' जैसे गीत इस संग्रह में संकलित किये गये हैं। इस संकलन में एक और विशेषता है, वह यह कि गीत के साथ-साथ सरल भाषा में उनकी व्याख्या भी प्रस्तुत की गई है।

भूमिका लेखक डॉ० सत्येन्द्र ने भी अपनी भूमिका में 'घूमर' का वैज्ञानिक एवं शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया है जिससे साहित्य के अध्येताओं, ज्ञान-पिपासुओं एवं अनुसंधित्सु छात्रों के लिए विशेष उपयोगी है। साहित्य जगत की इस अमूल्य निधि के प्रस्तुतीकरण के लिए श्री पुरोहितजी एवं श्री व्यासजी पुनः बधाई के पात्र हैं।

दिवास्वप्न

लेखक : प्रेमनारायण टंडन, प्रकाशक : नंदन प्रकाशन, रानी कटरा, लखनऊ–३, अक्टूबर, ७२, मूल्य : ४-००, पृ० ८७।

प्रस्तुत भाव—नाटिका 'दिवास्वप्न' एक लघु खण्डकाव्य के रूप में 'अमित्राक्षर' छन्द में रची गई साहित्यिक कृति है। जगत प्रसिद्ध एवं पौराणिक आख्यान पर आधृत इस रचना का कथानक है। पुराणों में उल्लेख है कि देव और दानवों में परस्पर सद्भाव ही नहीं वरन् शत्रुतापूर्ण वैमनस्य था। ऐसे वातावरण में नवीन ज्ञानरूपी अमृतत्त्व 'संजीवनी' की खोज में देव गुरु बृहस्पति का युवा पुत्र कच दानवाचार्य, शुक्राचार्य के पास छद्म वेष में पहुँचता है। विद्वान् गुरु शुक्राचार्य को अपनी प्राथमिक गुणों से प्रभावित करता है एवं उनसे अपने इष्ट की सिद्धि प्राप्त करता है। उसी आश्रम में गुरु कन्या शुक्रजा जो कि मातृविहिना थी, स्नेह के प्रभाव में पली थी, यद्यपि पिता एवं माँ का संयुक्त स्नेह उसे अपने पिता शुक्राचार्य से ही प्राप्त हुआ,फिर यौवन का उन्माद। अतएव दोनों में परस्पर अव्यक्त आसक्ति उत्पन्न हो गयी। सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने एवं निश्चित अवधि को पूरा कर लेने के उपरान्त जब शुक्रजा को इस तथ्य का पता लगता है कि कुमार कच अपनी नगरी की ओर

प्रस्थान करने वाला है तो विदाई क्षण निकट जानकर उसके मन की पीड़ा इन शब्दों में प्रस्फुटित हो उठती है—

'उद्रेक से अन्तर की वेदना के
धीरता खोदी शुक्र–तनया ने
व्यथित कंठ हुआ उसका ।''

उस तपोविनी बाला के हृदय के संताप को उंडेलने के लिए ही जैसे कवि ने इस कृति की रचना की हो ।

पुरुष का पौरुष ही तब प्रस्फुटित होता है जब कि वह भाग्य पर कम तथा कर्म पर अधिक विश्वास करे । गीता में तो स्वयं कृष्ण ने कर्म की महत्ता स्थापित की है । लगता है कवि श्री टंडन की इस कृति का नायक कच भी भाग्यवादी कम तथा कर्मवादी अधिक रहा है—

''भाग्यवादी रहा नहीं कभी मैं वरान ने ।
विश्वास सदा मुझे था निज कर्म पर ही ।।''

कवि ने यह सम्पूर्ण चित्र शुक्रजा के माध्यम से अपनी कुटी में पुष्पों की माला पिरोते हुए, का चित्रित किया है । इस क्षण-विशेष में वह अपनी भावनाओं में इतनी आत्म-केन्द्रित हो जाती है, जैसे कि उसे यह लगता ही नहीं है कि वह अपने प्रिय के बारे में सोच ही रही हो । परस्पर के संभाषण, परस्पर की पीड़ा, परस्पर अंगूठी का आदान-प्रदान, हृदयों का समर्पण जैसे दृश्य इतने सजीव हैं कि पाठक को कहीं कल्पना का आभास ही नहीं होता, वरन् स्वयं शुक्रतनया की समाधि जब भंग होती है तब उसे लगता है कि यह तो दिवा स्वप्न है–यथार्थ से कहीं दूर । फिर भी उसे अपने मन पर पूरा भरोसा है, क्योंकि भारतीय नारी प्रेम–प्रदर्शन में अनास्था रखती है, क्योंकि मन किसी पर जीवन में वस्तुतः एक ही बार केन्द्रीत भी होता है–

''वृति सहज यही नारी मन की,
करती समर्पण जिसको एक बार हृदय का
अन्तः–प्रेरणा से,
मानती सर्वस्व जिसे अनायास अपना,
भूल नहीं पाती उसे प्रयास करके भी ।''

भारतीय नारी की महिमा प्रदर्शित करते हुए कवि ने यह ही सिद्ध किया है कि नारी सुकोमल है, मूलतः भावुक है । अतः अपने प्रिय के आश्वासन-मात्र पर भी जीवन-यापन में सक्षम है ।

इस प्रकार से श्री टंडन इस रचना के माध्यम से प्रतीक रूप में आधुनिक सभ्यता के अन्तर्द्वन्दों एवं संघर्षों के प्रति भी संकेत करते हुए उस खाई को पाटने का भी उपाय सुझाते हैं।

भाव-नाटिका की दृष्टि से मंच पर यदि इस कृति को अभिनित किया जाये तो किन्हीं संवादों में संशोधन करने आवश्यक होंगे, क्योंकि ऐसे संवाद तकनीकी दृष्टि से सफल, प्रभावी एवं रोचकता की दिशा में गतिरोध उत्पन्न करेंगे। आधुनिक मंच की दृष्टि से यह सफल भाव नाट्य सिद्ध होगा।

कैलाश 'शलभ'
साहित्य संस्थान, रा० वि० उदयपुर

मौक्तिक

संपादक–मूलचंद 'प्राणेश', प्रकाशक–भारतीय विद्यामन्दिर शोध प्रतिष्ठान, बीकानेर, पृ० १००, मूल्य–चार रुपये।

प्रस्तुत काव्य संकलन 'मौक्तिक' में हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा की ४४ रचनाओं को स्थान प्राप्त हुआ है। यह प्रकाशन आजादी की रजत जयंती मनाए जाने के उपलक्ष्य में राजस्थान साहित्य अकादमी के सहयोग से संभव हो सका है। अतः राष्ट्रीय भावनाओं और चेतनाओं का उद्घोष प्रत्येक रचना का मूल स्वर है। लगभग सभी रचनाकार राजस्थान की धरती और दर्शन की विशेषताओं से ओत-प्रोत निर्माण की ताल पर निनाद का स्वर बुलन्द करते प्रतीत होते हैं। कहीं वे अतीत के गौरवमय इतिहास और संस्कृति से आप्लावित हैं (पृ० १२,१३) तो कहीं रचनात्मक दृष्टिकोण के तहत समस्त भेदभावों से परे मानवतावादी (पृ० १६,६२) भावधारा को प्रभावित करते प्रतीत होते हैं। कुछ रचनाएं आजादी उपरांत अर्जित उपलब्धियों से संतुष्ट नहीं हैं तदनुसार औपचारिकताओं का आवरण स्वयंमेव उघड़ चला है—

इन दिनों आदमी
पानी या दूध की जगह
मिट्टी का तेल क्यों पीने लगा है ?
क्यों लम्बी और लम्बी हो गई वे पंक्तियां
जहां नागरिकों की विवशता का
मजाक उड़ाया जाता है ? (श्री सांवर दईया, पृ० ४१)

मुक्ति अर्थात् आज़ादी आखिर किस लिये ?—
पैली भारत पराधीन हो–
विदेशी शासक परजा ने लूटता
अर आपरो घर भरता।
आज भारत स्वाधीन है—
देशी शासक परजा ने लूटै है
अर आपरो घर भरे है। (डॉ० मनोहर शर्मा, पृ० ३५-३६)

जब तक आदमी अपने आदमीपन को नहीं पहिचान लेता तब तक मुक्ति का वास्तव में कोई अर्थ नहीं और इसके अभाव में वहशीपन अथवा स्वतंत्रता के नाम पर सामंती वृत्तियां ही जड़ पकड़े रहेंगी। प्राणेशजी ने 'आवो आपां आदमियत ऊगावां' शीर्षक कविता में बडी गहराई से इस ओर ध्यान आकृष्ट किया है।

कुल मिला कर काव्य–संकलन वर्त्तमान परिवेश को जहां एक ओर प्रेरणा प्रदान करने वाला है वहां दूसरी ओर स्वतंत्र जीवन–दर्शन के अवरोधक तत्वों को चेताने तथा निर्माण के अनुरूप करने का आह्वान करता है।

माटी कुँकुम

रचयिता– डॉ० नरेन्द्र भानावत, मुक्तक प्रकाशन, ३५२ श्रीकृष्णपुरा, उदयपुर, पृ० ७०, मूल्य–चार रुपया,

डॉ० नरेन्द्र भानावत के नाम से शोध जगत् भली–भांति परिचित है। राजस्थानी साहित्य की शोध और समीक्षा के अतिरिक्त सृजन के क्षेत्र में 'आदमी : मोहर और कुर्सी' के बाद 'माटी कुंकुम' उनकी दूसरी काव्य-कृति है।

डॉ० नरेन्द्र भानावत की यह काव्य–कृति जीवन और कर्म का रागमय प्रवाह है। जीवन और संघर्ष का प्रतिफलन कवि के क्षेत्र के लिये सृजन का 'अर्थ बोध' है। संघर्षों के साथ रागात्मक सम्बन्ध और उन सम्बन्धों की निर्माणमय भावाभिव्यक्ति 'माटी कुंकुम' का केन्द्रीय स्वर है—

अरी तरंगों ! उछल–उछल कर, तुम चाहे कितनी टकराओ,
स्वाति की स्वप्निल बूंदों तुम, झलमल कर चाहे तरसाओ,
किन्तु नहीं ढुल पाऊँगा मैं, क्योंकि अटल विश्वास मुझे है,
मोती बन कर ही ढुल पायेगा, मेरी सीपी का जल कण। (पृ० ६)

संघर्षों का तिमिर घनेरा,
मुसीबतों का पग-पग डेरा,
विश्वासों के स्वर में कहता–
साथी फूल बिछाता चल।
स्नेह डालकर एक दीप से,
दीप अनेक जलाता चल। (पृ० ६४)

कृति की सभी रचनाएँ सहृदयी के हृदय को छूनेवाली एवं रस विभोर करने वाली हैं। भाषा सरल, बोधगम्य एवं भावाभिव्यक्ति में पूर्णतया समर्थ है। शब्दचयन सन्दर्भ एवं प्रसंगानुकूल है। कृति पठनीय एवं संग्रहणीय है।

मनोहर 'कान्त'
राज० विद्यापीठ हाड़ौती शोध प्रतिष्ठान
कोटा (राजस्थान)

सविता (सुपर्णाङ्क)

वर्ष २६, अंक २, मार्च ७३, मासिक पत्रिका, सम्पादक–विश्वदेव, प्रकाशक–वेद संस्थान, बाबू मोहल्ला, ब्यावर रोड़, अजमेर, वार्षिक मूल्य ५ रु., इस अंक का मूल्य–३.००

वेद–संस्थान की 'रजत जयन्ती' के अवसर पर संस्थान के मासिक पत्र 'सविता' के विशेषांक के रूप में सुपर्णाङ्क के प्रकाशन से जिस नयी परम्परा का सूत्रपात हुआ है वस्तुतः वह प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय है। आशा है, उसे गति मिलेगी।

धर्म, दर्शन, तन्त्र, कला एवं लोक साहित्य आदि विभिन्न क्षेत्रों में सुपर्ण के स्थान और महत्त्व के प्रतिपादक लेखों–यथा डॉ० अभयदेव का 'सुपर्ण का प्रतीकत्व' तथा 'सौपर्ण आख्यान', श्री विदेह का 'सुपर्ण का वैदिक स्वरूप', श्री भगवद्दत्त का 'आध्यात्मिक पक्ष', डॉ० वासुदेवशरण का 'सुपर्ण' और 'सुपर्ण चिति विद्या' श्री सोमचैतन्य श्रीवास्तव का 'तन्त्र शास्त्र में गरुड़,' डॉ० पंचोली का 'लोक साहित्य में सुपर्ण सम्बन्धी मान्यताएँ',डॉ० व्रजेन्द्रनाथ शर्मा का 'मूर्तिकला में गरुड़ की अभिव्यक्ति' एवं श्री शीतलाप्रसाद तिवारी का 'प्राचीन भारतीय अभिलेखों एवं मुद्राओं में गरुड़' के माध्यम से सम्पादक महोदय ने उन मनीषियों के विचारों से तो पाठकों को अवगत कराया ही है; व्यापकता की दृष्टि से 'सुपर्ण' के महत्त्व की स्थापना भी की है।

सुपर्णांक के एक बड़े लेख "सुपर्ण'–संदर्भ–विचार' में डॉ० अभयदेव और डॉ० पंचोली ने जो सामग्री प्रस्तुत की है, वह न केवल ज्ञानवर्द्धन का निमित्त ही बनेगी अपितु अनुसन्धित्सुओं के लिए मार्ग–दर्शक दीपस्तम्भ भी प्रमाणित होगी।

वेदों के सन्दर्भ में प्रमाण–पुष्ट, गवेषणात्मक, सूक्ष्म अध्ययन एवं शोधपूर्ण विवेचन युक्त सामग्री का प्रकाशन लोक–मानस में वेदों के प्रति नया रुझान उत्पन्न करने में सहायक होगा तथा 'वेद' के प्रति नवीन दृष्टिकोण से विभिन्न आयामों में चिन्तन के क्षेत्र प्रशस्त करेगा, ऐसी आशा है।

निस्सन्देह विशेषांक संग्रहणीय है, इति शम्।

सुरेन्द्र द्विवेदी
साहित्य संस्थान,
राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर

शोध पत्रिका (त्रैमासिक) के स्वामित्व एवं अन्य विषयों से सम्बन्धित विवरण

फार्म- ४

(नियम ८ देखिये)

१	प्रकाशन स्थान	उदयपुर
२	प्रकाशन अवधि	त्रैमासिक
३	मुद्रक का नाम	नारायणलाल गुर्जरगौड़
	(क्या भारत का नागरिक है ?)	हां
	(यदि विदेशी है तो मूल देश)	—
	पता	विद्यापीठ प्रेस, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर
४	प्रकाशक का नाम	उमाशंकर शुक्ल
	(क्या भारत का नागरिक है ?)	हां
	(यदि विदेशी है तो मूल देश)	—
	पता	अध्यक्ष, साहित्य संस्थान, रा० वि० उदयपुर
५	संपादक का नाम	डॉ. शान्तिलाल भारद्वाज 'राकेश' देव कोठारी
	(क्या भारत का नागरिक है ?)	हां
	(यदि विदेशी है तो मूल देश)	—
	पता	साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर
६	उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार-पत्र के स्वामी हों तथा जो समस्त पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों ।	साहित्य संस्थान राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर

मैं, उमाशंकर शुक्ल एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिये गये विवरण सत्य हैं ।

ता० १-३-७४

ह० उमाशंकर शुक्ल
प्रकाशक के हस्ताक्षर

साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर के लिये उमाशंकर शुक्ल अध्यक्ष, साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर द्वारा प्रकाशित एवं नारायणलाल गुर्जरगौड़ द्वारा विद्यापीठ प्रेस, उदयपुर में मुद्रित ।

ोध पत्रिका
हित्य संस्थान,
स्थान विद्यापीठ,
उदयपुर.

पुरातन इतिहास, पुरातत्त्व, साहित्य,
भाषा, दर्शन, कला व संस्कृति की
त्रैमासिक अनुसंधानिका

इस अंक का मूल्य : तीन रुपया

वार्षिक | देश में— दस रुपया
| विदेश में— पन्द्रह रुपया

शोध-पत्रिका

वर्ष २५, अंक २
अप्रेल-जून, १९७४

सम्पादक
डॉ० देवीलाल पालीवाल

प्रबन्ध सम्पादक
उमाशंकर शुक्ल

साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर

विषयानुक्रम

राष्ट्र के लिये चिन्ता का विषय

भारतीय ऐतिहासिक शोध के लिये अत्यन्त ही त्रासजनक समाचार सुनने को मिले हैं कि तमिलनाडु के शासकीय अभिलेखागार के लगभग ८६ हजार दस्तावेज नष्ट कर दिये गये हैं—ऐसे दस्तावेज जो शोध कार्य से अनभिज्ञ साधारण कर्मचारियों द्वारा स्वविवेक से छांटकर रद्दी घोषित कर दिये गये। अब ज्ञात हुआ है कि इन नष्ट किये गये दस्तावेजों में १७ वीं शताब्दी के ऐसे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक दस्तावेज भी शामिल थे जिनका सम्बन्ध हिन्दुस्तान में अंग्रेजों को नाकों चने चबवाने वाले महान तमिल क्रांतिकारी कट्टा बाम्मन (१७६५-१७९९) से था। यह भी प्रतीत होता है कि दस्तावेजों को अंधाधुन्ध नष्ट किये जाने के कारण उत्तर-मध्यकालीन एवं स्वातंत्र्य आंदोलन कालीन ऐसी बहुमूल्य ऐतिहासिक सामग्री लुप्त हो गई है जिसके द्वारा भारतीय इतिहास के एक सम्पूर्ण युग पर नया प्रकाश पड़ सकता था। ऐसा भी विश्वास किया जाता है कि जो सामग्री नष्ट की गई है उनमें कच्चातीवू टापू, जिस पर श्रीलंका की प्रभुसत्ता हाल ही में एक समझौते द्वारा भारत सरकार द्वारा मान ली गई है, से सम्बन्धित कागजात भी थे। दस्तावेजों के इस विनाश के लिये जो भी दोषी रहे हों, राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से यह कार्य एक अक्षम्य अपराध ही माना जायगा, फिर चाहे राज्य अथवा केन्द्रीय सरकार इस सम्बन्ध में कोई कार्यवाही करे अथवा नहीं।

कुछ वर्षों पूर्व राजस्थान में भी ऐसी घटना के समाचार मिले थे। राजस्थान अभिलेखागार के ढेरों दस्तावेज अनावश्यक एवं महत्वहीन मानकर जला दिये गये थे। जबकि स्थिति यह है कि राजस्थान अभिलेखागार में राज्य की भूतपूर्व रियासतों से एकत्रित ऐतिहासिक अभिलेखीय सामग्री आज भी अभिलेखागार के कई बन्द कमरों में बिना छांटे एवं व्यवस्थित किये हुए भरी पड़ी है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न किया जा सकता है कि जो सामग्री अनावश्यक एवं महत्वहीन मानकर जला दी गई, उसको किस आधार पर ऐसा माना गया और किस व्यक्ति अथवा किन व्यक्तियों ने उस सामग्री को व्यर्थ घोषित करने की जिम्मेवरी ली? इस कार्यवाही के बाद जानकार लोगों में कई प्रकार की सन्देहपूर्ण बातें फैली हैं और यह अनुमान भी लगाये गये हैं कि जलाई गई इस सामग्री में राजस्थान के स्वतन्त्रता आन्दोलन से संबंधित कई ऐसे गोपनीय दस्तावेज हो सकते हैं जिनके प्रकाश में आने पर उस काल की कई अज्ञात घटनाओं, सम्बन्धों एवं व्यक्तियों के चरित्रों के बारे में नई बातें मालूम पड़ती और कई अज्ञात तथ्यों पर से पर्दा उठता। इस तथ्य से तो सभी अवगत हैं कि स्वतन्त्रता आंदोलन के उत्तरार्ध में, जबकि भारत में ब्रिटिश सत्ता की समाप्ति निश्चित हो गई थी, अंग्रेज शासकों द्वारा सरकारी अभिलेखागारों से तथा राजाओं द्वारा अपने अक्षीखानों से ऐसे कई दस्तावेज गायब कर दिये गये थे, जिनके बाद में प्रकाश में आने

पर कई ऐतिहासिक रहस्यों से पर्दा उठता और यह भी सम्भव है कि कई ऐतिहासिक घटनाओं के सम्बन्ध में जो भ्रम अथवा अस्पष्टता बनी रही है उनके सम्बन्ध में स्थितियाँ स्पष्ट हो जाती ।

सच्चाई तो यह है कि इतिहास के प्रति स्वतन्त्रता प्राप्ति के इतने वर्षों बाद भी हम अपना दृष्टिकोण बदलने को तैयार नहीं है। सर्वत्र एक स्वर से बराबर यह आवाज उठाई गई है कि भारतीय इतिहासकारों को अंग्रेज इतिहासकारों की लीक से हटकर नवीन भारतीय राष्ट्रीय इतिहास की रचना करनी चाहिये जो सम्पूर्णत: सही तथ्यों पर आधारित हो और राष्ट्रीय परम्पराओं के अनुसार हो । किन्तु भारत का सच्चा राष्ट्रीय इतिहास कोरी बातें करने मात्र से नहीं लिखा जा सकेगा। उसके लेखन के लिये अधिकाधिक अज्ञात ऐतिहासिक दस्तावेजों एवं अन्य सामग्री का उपयोग आवश्यक होगा, जिनको अभी तक इतिहासकारों द्वारा छूआ तक नहीं गया है। किन्तु यदि ऐसी सामग्री इतिहासकारों द्वारा देखी जाने से पूर्व ही नष्ट कर दी जाती है तो राष्ट्रीय इतिहास के लेखन-कार्य का प्रयोजन ही निष्फल हो जाता है। ऐतिहासिक-पुराभिलेखीय सामग्री के महत्व के प्रति जो अज्ञान अथवा लापरवाही शासकीय एवं अशासकीय क्षेत्रों में अभी तक व्याप्त है, वह निस्संदेह ही राष्ट्रीय इतिहास एवं संस्कृति की दृष्टि से अत्यन्त हानिकारक एवं दुष्परिणामकारी है।

विदेशी आक्रमणकारियों तथा विदेशी शासकों ने भारत में संचित हजारों वर्षों के ज्ञान, कला और पुरातत्व के विपुल भंडारों को निर्ममतापूर्वक नष्ट किया है, किन्तु दूसरी ओर हम स्वयं भी अवशिष्ट ऐतिहासिक सामग्री को सुरक्षित रखने के लिये यथावश्यक प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। इसीलिये हमारी विवशताओं, लापरवाही और अराष्ट्रीय प्रवृत्तियों का लाभ उठाते हुए आधुनिक विदेशी सांस्कृतिक आक्रमणकारी पौंड और डालर की शक्ति के बल पर हमारी वहुमूल्य वस्तुओं को मिट्टी के मोल खरीद ले जाते हैं अथवा देशद्रोही तस्कर ऐसी सामग्री को अपने मुनाफे के लिये गुप्त रूप से विदेशों में भेज देते हैं। इससे भारत को गरीब बनाकर अमेरिका, इग्लेंड, जर्मनी, आदि विदेशी मुल्कों के लोग भारतीय ऐतिहासिक सामग्री से अपने लिये कलात्मक अथवा शोधात्मक कक्ष बनाते जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में सरकार का यह अहम कर्तव्य हो जाता है कि वह ऐसी कानूनी एवं व्यावहारिक स्थिति पैदा करे कि किसी भी व्यक्ति अथवा एजेन्सी के लिये इस देश से ऐतिहासिक महत्व की किसी भी वस्तु को बाहर ले जाना सम्भव नहीं हो। दूसरी ओर यह भी आवश्यक है कि वह प्राचीन वस्तुओं के संग्राहलयों, ग्रंथालयों, अभिलेखागारों एवं स्मारकों की सुरक्षा एवं प्रबन्ध के लिये ठोस कार्यवाही करें। ऐसे संग्रहालयों में साधारण योग्यता वाले व्यक्तियों के स्थान पर विशेषज्ञों की नियुक्ति की जाय। इस सम्बन्ध में फ्रांस के लुवू और वर्साय, इतालवियों के वेटिकन और फ्लारेन्स, अंग्रेजों के ब्रिटिश म्युजियम तथा अमेरिकिनों की लायब्रेरी आफ कांग्रेस जैसे संग्रहालयों का प्रबन्ध एवं निपुण व्यवस्था हमारे लिये प्रेरणा एवं मार्गदर्शन का कार्य कर सकते हैं।

डॉ० देवीलाल पालीवाल

सूरति मिश्र का टीका-साहित्य

डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

१ टीका-साहित्य की परम्परा

संस्कृत-साहित्य में मौलिक रचनाओं का जितना महत्त्व है, उतना ही उन रचनाओं के सम्बन्ध में लिखी गई मौलिक टीकाओं का भी है। सातवीं विक्रमी शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक संस्कृत-साहित्य का अपकर्ष-काल माना जाता है। मौलिक रचनाओं की दृष्टि से इस काल को कोई श्रेय नहीं दिया जाता, किन्तु टीकाओं की रचना की दृष्टि से यह संस्कृत-साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण युग है। इस युग में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की मौलिक टीकाएँ निर्मित हुईं। धर्मशास्त्र-सम्बन्धी ग्रंथों पर जो टीकाएँ लिखी गईं उनमें व्याख्या के माध्यम से अनेक नवीन बातें प्रकाश में आई हैं। कुल्लू भट्ट, मेधातिथि, गोविन्दराज आदि टीकाकारों ने धार्मिक ग्रंथों के मंतव्यों को गम्भीर व्याख्या द्वारा अपनी टीकाओं में स्पष्ट किया। अपरार्क, कर्क, नारायण, वरदराज, रंगनाथ, असहाय, सायण आदि अनेक ऐसे टीकाकार इस युग में संस्कृत साहित्य ने उत्पन्न किए, जिनकी टीकाओं में पाण्डित्य और विद्वत्ता का अद्भुत सम्मिश्रण मिलता है। दर्शनों के रहस्यों को स्पष्ट करने वाले भाष्य भी टीका साहित्य के विकास में सहायक हुए। इस युग में अनेक दार्शनिक भाष्यों की टीकाएँ लिखी गईं, जिससे भाष्यों में विवेचित दार्शनिक दृष्टि को स्पष्टता प्राप्त हुई। टीकाकारों ने विषय को शब्दों की अन्तरात्मा में प्रवेश करके बहुत गहराई से अर्थों का उद्घाटन किया है। वाचस्पति मिश्र षड् दर्शनों पर टीकाएँ लिखने वाले अद्भुत प्रतिभाशाली पंडित थे। यदि ये सब टीकाकार न हुए होते, तो वैदिक और लौकिक संस्कृत-साहित्य का गम्भीरज्ञान आज सामान्य पाठक के लिए सुलभ न हुआ होता।

संस्कृत-साहित्य में टीका-ग्रंथों की जो परम्परा विकसित हुई उसमें ध्यान देने की विशेष बात यह है कि जो कि पुस्तक पर एकाधिक टीकाएँ लिखी गईं, वहां एक टीका की भी टीका और फिर उसकी भी टीका लिखने की परम्परा चली। इस पद्धति से टीका-साहित्य को संस्कृत में जो विकास हुआ, उससे यद्यपि कुछ ग्रंथों में पिष्टपेषण भी हुआ, तथापि उनके साथ-साथ ज्ञान के अनेक अज्ञात क्षेत्र भी उद्घाटित हुए।

संस्कृत-टीका-साहित्य की कई विशेषताएँ रही हैं। टीकाकारों ने शब्दों के अर्थों और संदर्भों को विवेचनात्मक ढंग से स्पष्ट किया है और भावों को समझाने के लिए गम्भीर

व्याख्याएं भी लिखी है। यही कारण है कि आज भी अनेक मौलिक रचनाकारों की तुलना में मध्व और सायण जैसे टीकाकारों का अधिक आदर से स्मरण किया जाता है।

हिन्दी में साहित्य-रचना का प्रमुख माध्यम पद्य-शैली रही इसलिए उसमें टीका-साहित्य का विकास पर्याप्त विलम्ब से हुआ। भक्तिकाल तक प्रायः संस्कृत-ग्रन्थों का भाव सार रूप में ग्रहण कर स्वतन्त्र काव्य लिखे जाते थे। रीति काल तक आते-आते संस्कृत-साहित्य की गति मंद पड़ने लगी, तब उसमें टीका-ग्रंथ लिखने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला। केशव और बिहारी के क्लिष्ट किन्तु प्रसिद्ध काव्यों ने टीका लिखने के लिये कई कवियों और आचार्यों को आकर्षित किया। जिन प्रमुख आचार्यों ने उनकी टीकाएं लिखी उनमें हरिचरणदास और सूरति मिश्र के नाम विशेष महत्त्व पूर्ण हैं। इन टीकाकारों ने संस्कृत की टीकाओं के अनुकरण पर व्याख्या-पद्धति अपनाई और आवश्यकतानुसार अलंकारों का निर्देश भी किया।

२ सूरति मिश्र के टीका ग्रंथ

सूरति मिश्र ने 'अमर-चंद्रिका', 'जोरावर प्रकाश', 'रस गाहक चंद्रिका', 'कवि-प्रिया टीका' एवं 'रसरत्न-टीका' नामक ५ टीका ग्रंथों की रचना की है। 'वैतालपच्चीसी' की भी एक टीका इन्होंने लिखी थी, जो मूल रूप में अब उपलब्ध नहीं है। इन टीकाओं में से 'अमरचंद्रिका' 'बिहारी सतसई' की अलंकार-निर्देश-प्रधान टीका है। 'रसगाहकचंद्रिका' और 'जोरावर प्रकाश' में केशवदास की 'रसिकप्रिया' ग्रंथ की क्रमशः गद्य और पद्य में टीका की गई है। 'कविप्रिया-टीका' केशवदास-कृत 'कविप्रिया' की टीका है और 'रसरत्न टीका' में सूरति मिश्र ने स्वरचित 'रसरत्न' की गद्य में व्याख्या की है।

३ अमरचंद्रिका टीका

'बिहारी सतसई' की अब तक जितनी टीकाएं लिखी गई हैं, उन सबमें इस टीका का विशेष स्थान है। सूरति मिश्र ने बिहारी के दोहों को पांच विलासों में विभाजित किया है। इन विलासों में सभी दोहे विषयानुसार संकलित किए गए हैं। इस प्रकार सूरति मिश्र ने 'बिहारी-सतसई' की व्याख्या को एक वैज्ञानिक दृष्टि पर आधारित किया है।

संकलन-दृष्टि के अतिरिक्त सूरति मिश्र ने दोहों के मूलपाठ की शुद्धता पर भी विशेष ध्यान दिया है। इसलिए उनके द्वारा संकलित दोहों में अन्य प्रतियों की तुलना में कोई विशेष पाठान्तर नहीं मिलता। आधुनिक काल में रत्नाकरजी ने 'बिहारी-रत्नाकर' नाम से जो टीका लिखी, उसमें कुल ७१३ दोहे दिए गए हैं। सूरति मिश्र ने अपनी टीका में ७१६ दोहे दिए हैं। यद्यपि रत्नाकर जी ने सूरति मिश्र कृत टीका का अवलोकन नहीं किया था, किन्तु उन्होंने जिस 'लालचंदिका टीका' से लाभ उठाया है वह सूरति मिश्र

की टीका पर ही आधारित है। इसलिए आधुनिक काल में रचित एवं सर्वोत्कृष्ट मानी जाने वाली 'बिहारी रत्नाकार' टीका का वह अप्रत्यक्षत: प्रमुख आधार बनी है।

टीका पद्धति:—सूरति मिश्र ने मूल दोहा लिखकर उसके भावों को समझाया है। इस कार्य के लिए उन्होंने शब्द-विवेचन की शैली अपनाई है। अर्थ को स्पष्ट करने में सहायक शब्दों की उन्होंने विस्तार से व्याख्या की है। इस प्रकार एक अर्थ से दूसरे अर्थ को स्पष्ट करते हुए वे भाव समझाने में समर्थ हुए हैं। प्रथम दोहा, जिससे अमरचद्रिका टीका आरम्भ होती है, निम्नांकित है—

मेरी भव बाधा हरो राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाईं परे, स्याम हरित दुति होइ॥

सूरति मिश्र ने इस दोहे को प्रथम स्थान देने का कारण यह बतलाया है कि बिहारी काव्य के आरम्भ में मंगलाचरण रखना चाहते थे, इसलिए इसमें कवि की विनय-भावना चित्रित है और अप्रत्यक्षत: अपनी अधमता को भी स्वीकार किया गया है। कवि ने लिखा है—

प्रथम मंगलाचरण इहि, कवि की बिनती जाँनि।
प्रगट तु अपनी अधमता, अधिकाई ध्वनि आनि॥

कवि ने बिहारी के भाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—

जितो अधम तितनी बड़ी, भव बाधा यह अर्थ
उहि हरिबे कौं चाहिये, कोऊ बड़ो समर्थ॥
नर-बाधा कौं सुर हरत, सुर-बाधा ब्रह्मादि।
ब्रह्मादिक की बाध कौं, हरत जु स्याम अनादि॥
लखि राधा तिन स्याम की, बाधा रहति न कोइ।
या तें मो बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ॥
जिनके इक छिन बिरह में, स्याम विकल बिलखात।
पुनि तिन तन झाँई परै, होत डहडहे गात॥
बाधा त्रिभुवननाथ की, हरन जोग जे आहि।
तेई मोसे अधम की, बाधा हरौ निबाहि॥[1]

अर्थ स्पष्ट करने के पश्चात् कवि यह भी बतलाता है कि बिहारी ने राधा को सर्वोपरि इष्ट मानकर सम्बन्धित दोहा मंगलाचरण के रूप में स्थापित किया है। वह लिखता है—

---

१ **अमरचंद्रिका, हस्तलिखित प्रति, संपादक डॉ० दिनेश, दोहा १ की व्याख्या।**

इहि विधि सर्वोपरि परम, इष्ट जानि सुखकर्ण ।
या तैं इन ही कौ धर्यौ, प्रथम मंगलाचर्ण ।।[१]

अर्थ के स्पष्ट करने में अलंकार का विशेष महत्त्व होता है, इसलिए अर्थ के अनुसार ही कविता में अलंकार माना जा सकता है, इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए सूरति मिश्र ने पूर्वोक्त अर्थ के साथ 'काव्यलिंग' अलंकार माना हैं[२] और लिखा है—

अलंकार इहि अर्थ में, काव्यलिंग है जानि ।
अब ताकौ लच्छन सुनौ, ग्रंथनि मत चित आनि ।।[३]

सूरति मिश्र ने बिहारी के पूर्वोक्त दोहे का दूसरा अर्थ भी काव्यलिंग अलंकार के आधार पर ही प्रस्तुत किया है और लिखा है कि सामर्थ्य की दृढ़ता स्पष्ट होने के कारण दूसरा अर्थ काव्यलिंग अलंकार पर ही आधारित है । अर्थ इस प्रकार है—

मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ ।
कैसी है तिनकी सुनौ, इमि बखानि कवि लोई ।
जा तन की झांई परैं, मेंरु ध्यान में आइ ।
दूरि होइ स्यामत्व तम, दुति जु सत्व अधिकाइ ।।[४]

कवि ने तीसरा अर्थ हेतु अलंकार के आधार पर इस प्रकार प्रस्तुत किया है—
वै राधा बाधा हरौ, पीत रंग उद्योत ।
जिनकी तन झांई परै, स्याम हरित रंग होत ।।

अलंकार के अनुसार नये-नये अर्थों तक पहुंचने की दक्षता दिखाते हुए सूरति मिश्र तद्गुण अलंकार के आधार पर चतुर्थ अर्थ इस प्रकार बतलाते हैं—

जिन तन की झांई परै, स्याम ध्यान में आइ ।
हरि की तन दुति होय वह, समरूपहि कौं पाइ ।।[५]

इस प्रकार एक दोहे के अनेक अर्थों तक पहुंचने के लिए कवि ने अलंकारों का माध्यम अपनाया है । एक अन्य उदाहरण देखिए । बिहारी के निम्नांकित दोहे का—

---

१ अमर चंद्रिका, हस्तलिखित प्रति, संपादक डॉ० दिनेश, दोहा १ की व्याख्या

२ वही

३ वही

४ वही

५ अमरचंद्रिका, हस्तलिखित प्रति, सम्पादक डॉ० दिनेश, दोहा २ की व्याख्या

सीस मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
इहिं बानिक मों मन सदा, बसौ बिहारीलाल ॥

सूरति मिश्र ने इस प्रकार अर्थ संकेत दिया है—

दूजे दोहा में कह्यौ, प्रभु-सरूप कौ ध्यान।
जातें इक छिन में नसै, विघन वृंद बलवान ॥[1]

और फिर 'जाति' अलंकार का निर्देश करते हुए वे कहते हैं—

जासि सु जैसो जासु कौ, रूप कहै तिहि साज।
सो ह्यां प्रभु वानक जु हौ, कह्यौ सु त्यौं कविराज ॥[2]

सूरति मिश्र ने दोहों के शब्दों में निहित विशेष संकेतों पर भी ध्यान दिया है और विस्तार से उदाहरण-पूर्वक उन्हें स्पष्ट किया है। एक तीसरा उदाहरण देखिए विहारी का दोहा इस प्रकार है-

मोहन मूरति स्याम की, अति अद्भूत गति जोइ।
बसति सुचित अंतर तऊ, प्रतिविम्बित जग होइ ॥

सूरति मिश्र इस दोहे की टीका करते हुए लिखते हैं—

मूरति जो है स्याम की, ता में अद्भुत भाय।
ताको अब बर्नन करत, सुनहु सुकवि कविराय ॥
चित के अंतर बसत हैं, बाहर नावै दृष्टि।
सकल जगत में देखियें, यही सु अद्भूत सृष्टि ॥
कोउ पदारथ किहूं के, अंतर धर्‌यौ जु होइ।
बाहिर नहिं दीसत सु तौ, यह सु रीति जग जोइ ॥
रीति छाँडि औरै कछु, रीति सु अद्भुत जान।
या तें यह अद्भुत कह्यौ, दोहा मध्य बखान।
अद्भुत तौ यह अति कहा, अति कौ सुनौ बखान।
स्याम वस्तु मोहै मनहिं, यह अति अर्थ सुजान ॥[3]

बिहारी के दोहे में अद्भुत शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। सूरति मिश्र ने इसी शब्द पर बल देते हुए अर्थ की व्याख्या की है। स्याम की मोहित करने वाली मूर्ति में जो अद्भुत तत्व है उसे उन्होंने उपर्युक्त दोहों में विस्तार से स्पष्ट किया है। फिर अद्भुत के

---

१ वही

२ वही

३ अमर-चंद्रिका, हस्तलिखित प्रति, संपादक डॉ॰ दिनेश, दोहा ३ की व्याख्या

साथ लगे हुए अति शब्द के महत्व को भी उद्घाटित किया है । अर्थ की गंभीरता को ध्यान में रखकर उन्होंने प्रश्नोत्तर की शैली अपनाई है । उपर्युक्त अर्थ में अद्भुत शब्द के विषय में वे प्रश्न उठाते हैं–

कोऊ बात न संभवै, दोऊ अर्थ सु नाहिं ।
कोऊ कोऊ वस्तु तौ, ऐसी है जग माहिं ।।
बसै सु अन्तर बाहरैं, दीसत है सब ठौर ।
ज्यौं दीपक पानूस में, मुख भीने पट और ।।
भीने बादल चंद रवि, निर्मल जल पाषान ।
ऐसे तौ होतहि सु क्यौं, अद्भुत कहत बखान ।
जौ कदाचि कौऊ कहै, ए सब अद्भुत पाइ ।
सु तौ न अद्भुत ही कहै, दूजी ठौर लखाइ ।।[१]

इन प्रश्नों के द्वारा उन्होंने पूर्वोक्त अर्थ के सम्बन्ध में स्वयं एक शंका उत्पन्न की है। दूसरी शंका यह उठाई है कि स्याम वस्तु मोहित नहीं करती हो ऐसी बात नहीं है । स्याम रंग की अनेक वस्तुएँ ऐसी होती हैं, जो मन को मोहित करने के लिए प्रसिद्ध हैं । उन्होंने लिखा है—

स्याम वस्तु मोहति नहीं, यहू सत्य नहिं बात ।
कितियक वस्तु जु स्याम ही, मोहति मन विख्यात ।।
नैन–पूतरी केस अरु, अंजन तिल इत्यादि ।
याते दूजो अर्थ वह, अतिकौ कह्यौ सु वादि ।।[२]

इस शंका द्वारा उन्होंने ऊपर उल्लिखित 'अति' का अर्थ भी अग्राह्य माना है और विस्तार से एक के बाद दूसरी शंका उत्पन्न की है । उन्होंने लिखा है—

स्याम वस्तु मोहति नहीं, सोउ लखी बहु ठौर ।
यातैं याकौ प्रश्न ही, रह्यौ सुकवि सिर मौर ।।

और प्रश्न इक भासई, यह जु अर्थ की रीति ।
कही सु असमंजस लगै, यहै न कवि की नीति ।।
अंतर वस्तु जु लखि परै, सु तौ दरस आभास ।
ताकौं प्रतिबिंबन कहै, जे है बुद्धि प्रकास ।।
दूजी निर्मल वस्तु में, प्रतिबिंब परै जु आइ ।
तासौं प्रतिबिंबत कहैं, छाया परै लखाई ।।

१　वही

२　भ्रमरचंद्रिका, हस्तलिखित प्रति, संपादक डॉ० दिनेश, दोहा २ की व्याख्या

यह तौ भीनै बरन कौ, दरसन बरन्यौ लोइ।
यातें याके अर्थ कौ, सब्द समर्थ न कोइ।[1]

इन सब शंकाओं के पश्चात् उन्होंने स्वयं विस्तार से १५ दोहों में समाधान प्रस्तुत किया है। कुछ समाधान इस प्रकार हैं—

चित अंतर है स्याम की, मूरति यह सु बखान।
चित कौ निर्मलता सही, करी अर्थ विधि जान॥
जैसे मधि पानूस कै, दीपक थाप्यौ आन।
जगत रीति कै विधि नई, सो अद्भुत गति जान॥
पहिले सुनिए रीति जो, जौ दरपन ढिग होइ।
तौ पानूस दिया सहित, दीसै उहि मधि सोइ॥
सो तौ निर्मल वस्तु में, दीसै प्रसिध प्रवीन।
ह्यां तौ जग मैं लखि परै, सो जग महा मलीन॥[2]

उन्होंने आगे लिखा है कि—

दखन में पानूस अरु, दीपक दुवौ लखांहि।
यहै न दीपे दीसई, पानुस दीसै नाहिं॥
तहँ अधार पानूस है, दीपक है आधेय।
दोऊ तहँ दीसैं प्रगट, यह सु रीति जगभेय॥
कहाँ कह्यौ चित अंतरहि, बसत जु मूरति स्याम।
तौ चित है आधार ह्यां, मूरति आधिय नाम॥
चहियें दोऊ दीसही, इहाँ सु इहि विधि भाउ।
प्रतिबिंबत जग होत है, मूरति इकहि लखाउ॥[3]

प्रश्नोत्तर के माध्यम से शंकाओं का समाधान करके सूरति मिश्र ने अलंकार का निर्देश किया है। उन्होंने बिहारी के उक्त दोहे में प्रथम प्रकार का विशेषालंकार माना है और उसका लक्षण भी दिया है, जिसमें एक बार फिर अर्थ का सारांश इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

सो विशेष आधार विन, जहाँ अधेय दुति देय।
चित अधार दीसति नहीं, मूरति दिपति अधेय॥[4]

---

१ वही पृष्ठ ४
२ अमरचंद्रिका, हस्तलिखित प्रति, संपादक डॉ० दिनेश, दोहा ३ की व्याख्या।
३ वही
४ वही

यद्यपि 'अमरचंद्रिका' में अलंकारों के माध्यम से अर्थ को स्पष्ट करने के लिए पद्य की शैली अपनाई गई है किन्तु आवश्यकतानुसार कहीं-कहीं वार्ता के रूप में गद्य का प्रयोग भी मिलता है। यथा, बिहारी के दोहा संख्या ५६६ की टीका के पश्चात् निम्नांकित वार्ता मिलती है—

"तो पसिजे गात आधार है, पुलक आधेय है यातें पुलक पाछें है; जैसे सब तीर्थ पुष्कर में देखैं। ताँ पुष्कर को भाव प्रथम ही प्रगट होते है।[1]

पाठक्रम और पाठान्तर : सूरति मिश्र ने बिहारी के दोहो के पाठ-क्रम में पर्याप्त अन्तर किया है। अब तक जो महत्वपूर्ण टीकाएं मानी जाती हैं तथा जिनका 'बिहारी-रत्नाकर' में दोहा-क्रम दिया गया है, उनसे 'अमर चंद्रिका' का दोहा-क्रम पर्याप्त भिन्न है। इसका कारण यह है कि सूरति मिश्र ने सभी दोहों को विषय-क्रम से विभाजित किया है। प्रत्येक विलास का विषय-क्रम इस प्रकार है—

(१) प्रथम विलास— भक्ति मार्ग : मंगलाचरण, ध्यान।

(२) द्वितीय विलास—श्रृंगार-रस : वय-संधि, केश, चितवन, नासा, श्रवण, ओठ, दिठौना, मुख, हास, महंदी, कुच, कटि, नितम्ब, जंघा, एड़ी, पायल, अनवट, गति, वसन्त-भूषण, छवि सुकुमारता, रूप, हाव, प्रेम, हाथ, दूती अभिसारिका, प्रिय-मिलन, मिलन, प्रेम-क्रीड़ा, जल-विहार, हिंडोरा, शय्या-त्याग, प्रभात, मान, विप्रलब्धा नायिका धृष्ट नायक, पड़ौसिनि, परकीया नायिका, विदेश-गमन, नायिका-विरह, नायक-विरह, प्रिय-वियोग, पत्रिका, प्रियागम, वियोग-मिलन, फाल्गुण, बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर, चंद्रोदय, समीर, कुल-वधू, स्नान, जप, गर्भिणी, सूत कातने वाली, स्त्री-चरित्र आदि के वर्णन। ये वर्णन दोहा सं० २३ सदौहा ६१९ तक चलते हैं।

(३) तृतीय विलास-प्रस्तावित्रक, सज्जन, दुर्जन, देश, लोक-रीति, यह विलास दोहा ६२० से ६६० तक है।

(४) चतुर्थ विलास-इस विलास में केवल अन्योक्ति-वर्णन सम्मिलित है, जो दोहा संख्या ६६१ से ६८२ तक है।

(५) पञ्चम विलास-इस विलास में शान्त रस और दीनता के वर्णनों को स्थान मिला है। ये वर्णन दोहा ६८३ से ७१६ तक चलते हैं। इस प्रकार बिहारी सतसई के समस्त दोहों का विषयानुसार क्रम-स्थापन 'अमर चंद्रिका' की एक मौलिक

---

१ वही

विशेषता है। यह विशेषता सतसई की भावाभिव्यक्ति को भी एक क्रम प्रदान करती है और उससे मुक्तक काव्य होते हुए भी उसमें भाव के विकास का एक सूत्र मिल जाता है, जो रसानुभूति में विशेष रूप से सहायक है। दोहों के पाठों में भी अन्यत्र मिलने वाले पाठों से अन्तर पाया जाता है लेकिन यह अन्तर बहुत सामान्य है। उदाहरण के लिए रत्नाकरजी ने प्रायः संज्ञाओं और एक वचन की वर्तमान कालिक क्रियाओं, में उकार की प्रवृत्ति अपनाई है, जबकि सूरति मिश्र ने उकार का प्रयोग नहीं किया है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—सूरति मिश्र बिहारी का निम्नांकित दोहा 'अमर–चंद्रिका' में इस प्रकार लिखते हैं—

चलन न पावत निगम–मग, जग उपज्यौ अति त्रास।
कुच–उतंग गिरवर गह्यौ, मैंना मैंन मवास॥

इस दोहे को रत्नाकर ने अपनी 'बिहारी–रत्नाकर' टीका में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

चलन न पावतु निगम–मगु, जगु उपज्यौ अति त्रासु।
कुच–उतंगगिरिवर गह्यौ, मैंना मैंनु मवासु॥

इस प्रकार सूरति मिश्र द्वारा प्रस्तुत किया गया पाठ 'बिहारी–सतसई' को भाषा की दृष्टि से एक नये रूप में समझने का अवसर प्रदान करता है।

रचना तत्त्वः—'अमर–चंद्रिका' की रचना एक टीका के रूप में हुई है, इसलिए प्रत्यक्षतः यह माना जा सकता है कि उसमें रचनात्मक मौलिकता नहीं हो सकती किन्तु आदि से अन्त तक कृति का अध्ययन करने पर यह धारणा निर्मूल सिद्ध हो जाती है। हमें उसमें अनेक रूपों में मौलिक रचना–तत्त्वों का समावेश मिलता है। यहाँ हम उन पर संक्षेप में विचार करेंगे।

सूरति मिश्र ने 'अमरचंद्रिका' में बिहारी के दोहों की व्याख्या करते हुए जिन अर्थों को उद्घाटित किया है, वे मूल में निहित अर्थ की पुनर्रचना का परिणाम है। एक सामान्य अर्थ को मिश्रजी ने अनेक नवीन अर्थों में परिवर्तित कर दिया है। पद्य–शैली का प्रयोग होने के कारण वे अर्थ अनेक स्थानों पर सूरति मिश्र की मौलिक काव्य–रचना का आस्वाद देते हैं। बिहारी ने जितने दोहे लिखे थे, उनसे लगभग चार गुने दोहों में अर्थ का विस्तार करके कवि ने समस्त अमरचंद्रिका को एक स्वतन्त्र तथा महत्त्वपूर्ण काव्य–कृति बना दिया है। वे दोहे, जिनमें बिहारी के अर्थों को प्रत्यक्षतः व्यक्त किया गया है यदि अलग कर दिये जायँ, तो शेष लगभग १५०० ऐसे दोहे बचते हैं, जिनमें हम सूरति मिश्र का काव्य–प्रतिभा का स्वतन्त्र चमत्कार पा सकते हैं। ऐसे दोहों में काव्य–रचना के सभी आवश्यक तत्त्व मिलते हैं।

सूरति मिश्र ने बिहारी-सतसई के शृंगार वर्णन को विभिन्न शीर्षकों में विभाजित किया है, यह उनकी रचनात्मक प्रतिभा के बाह्य संकेत को प्रमाणित करता है। वे बिहारी के दोहों का अर्थ बता कर जब प्रश्न, तर्क, शंका, समाधान आदि के द्वारा अर्थ-विस्तार के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं, तब उनकी भाव-रचना और वस्तु-चित्रण की प्रतिभा प्रकाशित होने लगती है। यहाँ हम कुछ उदाहरण देकर अमर-चंद्रिका में आदि से अंत तक बिखरी हुई सूरति मिश्र की काव्य-रचना-शक्ति को प्रमाणित करेंगे।

सबसे पहले बिहारी के उस दोहे को ही लीजिए, जिसे सूरति मिश्र ने प्रथम स्थान दिया है। इस दोहे में व्यक्त भाव से सूरति मिश्र के निम्नांकित दोहे का मैत्री सम्बन्ध तो माना जा सकता है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने उसे बिहारी से उधार लिया है—

नर-बाधा कौं सुर हरत, सुर-बाधा, ब्रह्मादि।
ब्रह्मादिक की बाध कौं, हरत जु स्याम अनादि॥[१]

इसी प्रकार अन्य दोहों की व्याख्या के साथ भी मौलिक काव्य का आस्वाद देने वाले दोहे मिलते हैं। बिहारी ने लिखा है—

सखि सोभित गोपाल कैं, उर गुंजन की माल।
बाहिर लसति मनो पियें, दावानल की ज्वाल॥[२]

सूरति मिश्र ने इस दोहे की टीका के प्रसंग में लिखा है—

गुही सोति के हाथ की, पहिरैं माल गुपाल।
जानि परत इन वचन तें, हिये ईरषा बाल॥[३]

उपर्युक्त उद्धरण सूरति मिश्र की भाव-व्यंजना और काव्य-कला-सम्बन्धी मौलिक रचना-दृष्टि का प्रत्यक्ष प्रमाण है। कवि की वस्तु-वर्णन-क्षमता और उसके साथ भाषा की चित्रात्मकता एवं आलंकारिकता का एक साथ उपर्युक्त उद्धरण से प्रमाण मिलता है। वस्तुतः 'अमरचंद्रिका' में बिहारी के अर्थों को खोजने में सूरति मिश्र ने जो बौद्धिक क्षमता प्रयोग की है, वह उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितनी महत्त्वपूर्ण उसके साथ-साथ चलने वाला कवि की भाव-ग्रहण क्षमता है।

---

१ अमरचंद्रिका, हस्तलिखित प्रति, संपादक डॉ० दिनेश, प्रथम विलास, दोहा संख्या १ की टीका
२ " " " दोहा ७
३ " " " दोहा ७ की टीका

छंद-रचना की दृष्टि से भी अमर-चंद्रिका में सूरति मिश्र के रचना-कौशल का प्रमाण मिलता है। उन्होंने दोहा और सोरठा छंदों का अनेक रूपों में शुद्ध और प्रवाह-पूर्ण ढंग से प्रयोग किया है। मात्राओं के प्रसारानुसार दोहों के अनेक रूप होते हैं। सूरति मिश्र ने उन सब रूपों को प्रसंगानुसार सफलतापूर्वक अपनाया है। सोरठों में भी इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं।

'अमर-चंद्रिका' में काव्य-भाषा की रचना सामर्थ्य का भी अभाव नहीं है। बिहारी की भाषा से सूरति मिश्र ने कदम-कदम पर समता स्थापित की है। भावानुकूल सरस और मधुर शब्द-योजना के लिए बिहारी जितने विख्यात हैं, उतनी ही ख्याति टीका की भाषा के आधार पर सूरति मिश्र को भी मिलनी चाहिए। उन्होंने बिहारी की भाषा के बिम्बों और प्रतीकों को स्पष्ट करने के लिए नये बिम्ब और प्रतीकों की रचना की है। हाव-भाव और क्रियाओं के बिहारी-द्वारा निर्मित विभिन्न चित्रों को सूरति मिश्र की भाषा में सर्वत्र विस्तार मिला है। यहाँ बिहारी का एक दोहा देकर इन तथ्यों को स्पष्ट करने के लिए सुरति मिश्र की टीका प्रस्तुत करते हैं। बिहारी ने लिखा है—

ज्यौं ज्यौं आवति निकट निसि, त्यों त्यों खरी उताल।
झमकि-झमकि टहलैं करै, लगी रहचटै बाल॥[१]

सूरति मिश्र ने प्रश्नोत्तर-शैली में इसकी टीका इस प्रकार प्रस्तुत की है, जिससे भाषा की रचना-शक्ति का सहज में अनुमान लगाया जा सकता है—

जौ सुकिया आतुर सु क्यौं, परकिय रति निहचैन।
दासी बाल न संभवै, प्रश्न तीन हैं ऐन॥
आयो पीय विदेस तैं, सुकिया ही यह नाम।
सास सासना लेन हित, करत उतावल काम॥
झमकि झमकि टहलैं करति, भाव जु बरन्यौ सोइ।
जहाँ सुभाव बरनन तहाँ, स्वाभावोक्ति लखि लोइ॥[२]

भाषा की आंतरिक शक्ति बढ़ाने के साथ-साथ सूरति मिश्र उसके बाहरी सौन्दर्य को भी सहज अलंकारों का प्रयोग करके बढ़ा देते हैं। इस क्षेत्र में तो उनकी प्रतिभा अद्वितीय मानी जा सकती है। अन्य कोई भी टीकाकार इस प्रकार की रचनात्मक भाषा-क्षमता का प्रयोग नहीं कर सका।

---

१ अमरचंद्रिका, हस्तलिखित प्रति, संपादक डॉ० दिनेश, छंद ३२०

२ अमरचंद्रिका, हस्तलिखित प्रति, सम्पादक डॉ० दिनेश, दोहा ३२० की व्याख्या

सूरति मिश्र ने 'अमरचंद्रिका' में गद्य का प्रयोग बहुत कम, केवल वार्ताओं के रूप में किया है। रीतिकाल में, टीकाओं के लिए गद्य का प्रयोग करके उन्होंने गद्य-भाषा की रचनात्मक सामर्थ्य को भी स्थापित किया है। वे स्वयं प्रश्न करते हुए उत्तर के रूप में अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए जिस प्रकार की तार्किक शैली अपनाते हैं, उससे यह सिद्ध है कि वे गद्य-रचना के आवश्यक उपकरणों से भली-भाँति परिचित थे। उदाहरणार्थ, बिहारी के निम्नांकित दोहे का अर्थ वे गद्य में समझाते हैं—

कत बेकाज चलाइयत, चतुराई की चाल।
कहे देत गुन रावरे, सब गुन निरगुन माल ॥[१]

इस दोहे की व्याख्या के लिए वे इस प्रकार की गद्य--भाषा का प्रयोग करते हैं—

"यह माल कैसी है ? गुन निरगुन माल है। जामैं चिह्न मात्र ही माल कौ गुन है। और निरगुन बिना डोरेन्हु है, जो अकेली निरगुन माल कहियै तौ, बिना डोरे साक्ष्यात; मनिकान तैं, माला कौ रूपक हू बनायो होय, यह संभवै। ह्यां तौ मनिका हू नहीं। यातैं मनिकान को चिह्न मात्र एक गुन है। यातैं गुनमाला कहाई। अरु डोरे बिन है, यातैं निरगुन कहाई।"[२]

निष्कर्ष—सूरति मिश्र की 'अमर-चंद्रिका' के पूर्वोक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि वे काव्य रचना के गम्भीर रहस्यों से भली-भाँति परिचित थे। 'बिहारी सतसई' को उन्होंने आलंकारिक व्याख्या द्वारा नई अर्थ-गरिमा से विभूषित किया है। उन्होंने उसके गूढ़ार्थों को विस्तार से समझाकर सौन्दर्य के नए धरातलों पर प्रतिष्ठित किया है। समान भावों को मौलिक रचना के रूप में बिहारी के भावों के साथ रखकर उन्होंने विषय को पूर्ण और रोचक बनाया है। भाषा, अलंकार एवं छंद की दृष्टियों से 'अमरचंद्रिका' में एक सशक्त रचनात्मकता मिलती है। वार्ताओं में गद्य का प्रयोग करके उन्होंने साहित्यिक भावों की अभिव्यक्ति में गद्य की सामर्थ्य का भी प्रमाण दिया है।

(क्रमशः)

---

१ अमरचंद्रिका हस्तलिखित प्रति, सम्पादक डॉ० दिनेश, दोहा ४०२ की व्याख्या

२ अमर-चंद्रिका, हस्तलिखित प्रति, सम्पादक डॉ० दिनेश, दोहा ४०२ की व्याख्या

गुप्त-सम्राट काच

● ब्रजभानु शर्मा

लगभग तीन शताब्दियों तक भारतवर्ष के राजनीतिक क्षितिज में छाये रहने वाले गुप्त सम्राटों के वंश में एक काच नामक शासक हुआ है जिसके बारे में, प्राप्त कतिपय स्वर्ण सिक्कों से हमें सूचना मिलती है जो एक ही किस्म के हैं। इन सिक्कों के पुरोभाग पर राजा काच बाएँ हाथ में चक्रध्वज लिये हुए तथा दाहिने हाथ से वेदी पर आहुति देते हुए खड़ा हुआ प्रदर्शित किया गया है एवं उसके चारों ओर वर्तुलाकार संस्कृत भाषा में "काचो गामवजित्य कर्मभिरुत्तमैर्दिवम् जयति" उसका विरुद अंकित है। सिक्कों के पृष्ठ भाग पर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित, हाथों में पुष्प एवं कार्निकोपिया धारण किये हुए देवी का चित्रांकन किया हुआ है। ये सिक्के एक ही धातु-स्वर्ण-से निर्मित हैं तथा इनका भिन्न-भिन्न भार ११५ ग्रेन व ११८ ग्रेन तथा औसत भार प्रमाण ११६ ग्रेन है। अब तक इस किस्म के कुल ३१ सिक्के प्राप्त हुए हैं जिसमें आधे के करीब (१६ सिक्के) केवल बयाना-निधि से प्राप्त हुए हैं[१] और शेष लखनऊ-संग्रहालय, कलकत्ता के भारतीय संग्रहालय व ब्रिटिश संग्रहालय में संग्रहित सिक्के हैं। सिक्कों के अतिरिक्त "मंजू श्रीमूल कल्प" व "कलियुगराज वृत्तान्त" ग्रंथों में भी इस सम्राट का उल्लेख प्राप्त होता है।

विभिन्न विद्वानों के मत

यद्यपि गुप्त-नरेशों की वंशावलियों में काच का नाम कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है, तथापि अब लगभग सभी इतिहासकार इस बात पर सहमत हो चुके हैं कि काच, भारत के सुप्रसिद्ध गौरवशाली राजवंश गुप्त वंश का ही एक नरेश था, क्योंकि प्रथम तो काच के सभी सिक्के एकमात्र गुप्तवंशी नरेशों के सिक्कों के साथ प्राप्त हुए हैं तथा दूसरे, जो कि अधिक महत्त्वपूर्ण है, इन सिक्कों की बनावट, तौल व आकृति की विशेषताएं अन्य गुप्त-नरेशों के सिक्कों की विशेषताओं से पर्याप्त सामन्जस्य रखतीं हैं तथा इन पर उत्कीर्ण सम्राट काच की उपाधि एवं विरुद गुप्त शैली में ही प्राप्य हैं। परन्तु अभी भी इतिहासकारों में इस विषय में काफी मतभेद है कि काच की पहचान, भारतीय इतिहास में स्वर्ण युग के नाम से जाने वाले सुविख्यात काल में उत्पन्न हुए किस सम्राट से की जाय ? गुप्तवंशी नरेशों के

---

१ गुप्त कालीन मुद्रायें-अ० स० अल्तेकर।

सिक्कों में चांदी एवं ताम्बे की मुद्राओं का प्रचलन, चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के समय से बहुतायत से मिलने लगता है तथा इसी काल से मुद्राओं का भार प्रमाण १२० ग्रेन से १२४ ग्रेन तक प्रचलित होता है। काच के सभी सिक्के स्वर्ण-धातु से ही निर्मित हैं और ११६ ग्रेन के औसतन भार प्रमाण के हैं। अतः यह बहुत सम्भव है कि काच, सुविख्यात गुप्त-नरेश चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के शासन काल के पूर्व ही हुआ होगा। इसी तथ्य के आलोक में जाने-माने कतिपय इतिहासकारों का मत है कि काच, समुद्रगुप्त का पुत्र (डी० आर० भण्डारकर प्रभृति विद्वानों की राय में रामगुप्त)[1] था तथा कुछ इतिहासकार काच को समुद्रगुप्त का भ्राता (कुछ अग्रज तो कुछ अन्य अनुज) निर्दिष्ट करते हैं। डा० उदयनारायण राय[2] एवं हेमचन्द्र राय चौधरी[3] आदि विद्वानों का यह आग्रह है कि काच को एकमात्र समुद्रगुप्त से समीकृत किया जाना चाहिए।

विभिन्न मतों की समीक्षा

राखलदास बनर्जी का इस सम्बन्ध में विचार है कि काच, समुद्रगुप्त का भाई था जिसने कुषाण-गुप्त-युद्ध में वीर गति प्राप्त की तथा समुद्रगुप्त ने अपने वीर भाई की स्मृति को अमर बनाये रखने के ध्येय से ये स्वर्ण-मुद्रायें, स्मारक-मुद्रा के रूप में प्रचलित की होंगी। 'सर्वराजोच्छेता' समुद्रगुप्त की उपाधि होने के कारण उसी का प्रतीक है।[4] परन्तु यह मत इस तथ्य के प्रकाश में मान्य नहीं रह जाता है कि उस समय भारतीय नरेशों में स्मारक-मुद्रा का प्रचलन नहीं था। समुद्रगुप्त के बाद भी लम्बे अरसे तक स्मारक-मुद्राओं के प्रमाण प्राप्य नहीं हैं तथा इन कथित स्मारक-मुद्राओं का प्रचलनकर्ता के रूप में समुद्रगुप्त अपनी उपाधि 'सर्वराजोच्छेता' के अतिरिक्त अपना नाम भी उत्कीर्ण करवा सकता था एवं सर्वराजोच्छेता एकमात्र समुद्रगुप्त की ही उपाधि नहीं थी। वाकाटक वंश के अभिलेख में यह उपाधि चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के लिये प्रयुक्त की गई है। अतएव उपर्युक्त मत स्वीकार नहीं किया जा सकता और फिर कथित कुषाण-गुप्त-युद्ध के भी कोई अन्य स्पष्ट प्रमाण नहीं हैं। इसी प्रकार डी० आर० भण्डारकर का यह मत भी अब पूर्णतया अश्रद्धेय हो गया है कि काच, रामगुप्त का वास्तविक नाम था तथा बाद में लिपिकों की असावधानीवश, गुप्तलिपि में 'क' व 'र' तथा 'च' व 'म' शब्दों की बनावट में पर्याप्त साम्य होने की वजह से देवीचन्द्रगुप्तम् की बाद की प्रतियों में काचगुप्त के स्थान पर रामगुप्त लिखने में आगया, क्योंकि भिलसा के समीप एक स्थल तथा एरिकिण प्रदेश

---

१ मालवीय कमेमोरेशन वाल्यूम

२ गुप्त सम्राट और उनका काल-उदयनारायण राय।

३ प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास-हेमचंद्र राय चौधरी।

४ दी एज आव दी इम्पीरियल गुप्ताज-राखालदास बनर्जी

(एरण) से प्राप्त मुद्राओं व आधुनिक बेसनगर (प्राचीन विदिशा) के दो मील दूर स्थित दुर्जनपुर ग्राम से प्राप्त जैन प्रतिमाओं से यह प्रमाणित हो चुका है कि रामगुप्त ही उस गुप्त–नरेश का सही नाम था न कि काचगुप्त।[1]

उदयनारायण राय ने, फ्लीट, विन्सेन्ट स्मिथ, एलन तथा हेमचंद्र राय चौधरी प्रभृति विद्वानों के मत का समर्थन करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि 'ज्वलन्त' (सर्वतेजमयो नृपः) समुद्रगुप्त एवं काच (भास्वर कान्ति युक्त) सर्वथा समीकरणीय है।[2] अपने इस मत के समर्थन में उन्होंने कई तर्क प्रस्तुत किये हैं–यथा, काच मुद्राओं व समुद्रगुप्त की अन्य कतिपय मुद्राओं में बनावट, तौल व सम्राटों के विरुदों में पर्याप्त साम्य है। उनका यह भी कथन है कि 'सर्वराजोच्छेता', एकमात्र समुद्रगुप्त की ही उपाधि है। काच–मुद्राओं को किसी वैष्णव सम्राट द्वारा प्रचलित मानने में वस्तुतः कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु इस बात का क्या प्रमाण है कि समुद्रगुप्त से पहिले यदि काच (उसका ज्येष्ठ भ्राता ?) सिंहासनारूढ़ हुआ हो तो वह वैष्णव नहीं हो सकता। सम्भव है कि गुप्त नरेशों के वंश–वृक्ष में सीधे न आने के कारण, जैसी कि गुप्त–वंश में परम्परा भी दृष्टिगोचर होती है, काच का नाम गुप्त–वंशावली में न आ पाया हो तथा इसी वजह से सर्व प्रथम वैष्णव गुप्त नरेश के रूप में समुद्रगुप्त का वर्णन उपलब्ध होता हो। साथ ही काच–मुद्राओं एवं समुद्रगुप्त की कतिपय मुद्राओं की बनावट, तौल, भार प्रमाण और उनकी (काच व समुद्रगुप्त की) विरुदों में समानता, मैं सोचता हूं, अकाट्य रूप से यह प्रमाणित करने में सक्षम नहीं है कि ये दोनों मुद्रायें किसी एक ही सम्राट (समुद्रगुप्त ?) द्वारा प्रचलित की गई थी, क्योंकि मुद्राओं में उपर्युक्त साम्य तो समुद्रगुप्त द्वारा अपने राज्यकाल के प्रारम्भिक काल में अपने पूर्ववर्ती नरेश की प्रचलित मुद्राओं का अनुकरण करने की प्रक्रिया का परिणाम भी हो सकता है। यह कहना निरी कल्पना भी मानी जा सकती है कि काच, समुद्रगुप्त का मौलिक नाम था बाद में उसने समुद्रपर्यन्त राज्य–विस्तार के पश्चात अपना नया नाम समुद्रगुप्त धारण कर लिया था, क्योंकि इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि समुद्रगुप्त का ही मौलिक नाम काच था। दो सम्राटों की कतिपय मुद्राओं के कुछ साम्य मात्र के आधार पर दोनों सम्राटों को एक ही व्यक्ति प्रमाणित किया जाना तार्किक दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होता है और विशेषकर उस स्थिति में जबकि अन्य उपलब्ध प्रमाण उन दोनों को पृथक् व्यक्ति इंगित करते हैं। यदि कुछ समय के लिये कतिपय विद्वानों के इस आग्रह को स्वीकार कर भी लिया जाये तो यह मानना होगा कि समुद्रगुप्त (मौलिक नाम काच) ने अधिकतम एक या दो वर्ष की अति–अल्प अवधि में ही अपने साम्राज्य को सुचारुरूपेण विस्तारित कर, प्रयाग-

---

१ मालवीय कमेमोरेशन वाल्यूम।

२ कोइनेज आफ दी गुप्ता एम्पायर–ए० एस० अल्तेकर।

प्रशस्ति में वर्णित अन्य सभी नरेशों को पराजित कर दिया था तथा समुद्र पर्यन्त साम्राज्य की स्थापना कर ली थी, क्योंकि काच नामक सम्राट की केवल एक ही प्रकार तथा संख्या में बहुत कम, मुद्रायें प्राप्त हुई हैं, जो कि इस बात को प्रमाणित करती हैं कि समुद्रगुप्त का मौलिक नाम (यदि काच था) बहुत कम अवधि के लिए ही प्रचलित रहा वरना उसके इस नाम की अन्य मुद्रायें या लेख आदि भी अवश्यमेव प्राप्त हुए होते । तत्कालीन राजनैतिक वातावरण में यह नितान्त असम्भव प्रतीत होता है, साथ ही प्रयाग प्रशस्ति के अन्तः साक्ष्य से शासन के आरम्भिक काल में ही इतनी अधिक बिजयें उपलब्ध करने सम्बन्धी यह तथ्य एकदम अश्रद्धेय हो जाता है, क्योंकि समुद्रगुप्त के प्रारम्भिक शासन काल का काफी लम्बा अरसा (सम्भव है पांच–सात वर्ष) तो उसके, प्रशस्ति की पांचवी व छठवीं पंक्तियों में वर्णित शत्रुओं को परास्त करने एवं प्रथम तथा द्वितीय आर्यावर्त के युद्धों में विजय प्राप्त करने में ही व्यतीत हो गया होगा और फिर इतने महत्त्वपूर्ण युद्धों के एकदम पश्चात भी वह दक्षिणा-पथ व अन्य युद्धों का कार्यक्रम नहीं बना सकता था, क्योंकि ऐसा करने से पहले उसे अपनी शक्ति भी वढ़ानी व संचित करनी पड़ी होगी । अतः यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि समुद्र पर्यन्त राज्य की स्थापना में समुद्रगुप्त को कम से कम १०–१२ वर्ष अवश्य लगे होंगे। इतने लम्बे समय में उसने कोई अन्य मुद्रा ही प्रचलित नहीं की होगी अथवा कोई शिलालेख ही नहीं खुदवाये होंगे–यह कैसे मान लिया जाय ?

इस सन्दर्भ में यह तथ्य भी विचारणीय है कि यदि उसका ही एक अन्य नाम काच था तो उसका उल्लेख भी अन्यत्र किसी न किसी साधन (काच–मुद्राओं के अलावा भी) से भी प्राप्त होना चाहिए था, जैसा कि चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य व बाद के कतिपय अन्य गुप्त–सम्राटों के विभिन्न नामों का उल्लेख मिलता है ।[1] अन्यत्र उपलब्ध लगभग सभी प्रमाण काच को समुद्रगुप्त से भिन्न, एक गुप्त–नरेश होना दर्शाते हैं । सर्व–राजाच्छेत्ता की उपाधि वाकाटक वंशीय अभिलेख में एकमात्र चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिये ही प्रयुक्त की गई है । इस प्रकार यह केवल समुद्रगुप्त की ही उपाधि थी, ऐसा मानने के लिये अधिक जोर दिया जाना उचित नहीं होगा । अतः काच को (मात्र सिक्कों की बनावट, तौल, विरुद आदि मे समानता के कारण] समुद्रगुप्त का ही मौलिक नाम स्वीकार करना, स्पष्ट प्रमाणों के अभाव में, अत्यधिक अव्यावहारिक होगा । काच–मुद्राओं तथा समुद्रगुप्त की कतिपय मुद्राओं में यह समानता, बहुत सम्भव है, इसी वजह से मिलती हो कि समुद्रगुप्त, काच के ठीक पश्चात् गद्दी पर बैठा हो और अपने शासन के आरम्भिक काल में वह एकदम नूतन किस्म की मुद्रायें प्रचलित करने में असमर्थ भी हो, जो कि सर्वथा स्वाभाविक भी प्रतीत होता है एवं आरम्भ में उसने काच–मुद्राओं के अनुकरण में ही मुद्राओं को ढलवाया हो तथा बाद में वह अपनी मुद्राओं में अधिक मौलिकता लाता गया । तत्कालीन भारत में, तथा निकट पश्चातकालीन

---

१ गुप्त सम्राट और उनका काल–उदयनारायण राय ।

समय में अपने पूर्ववर्ती सम्राट की मुद्राओं के अनुकरण में मुद्रायें प्रचलित किये जाने के स्पष्ट प्रमाण इतिहास में उपलब्ध हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भी शक-विजय के पश्चात विजित क्षेत्र में शक-मुद्राओं का अनुकरण करती हुई अपनी मुद्रायें प्रचलित की थीं। सम्भव है कि काच भी एक प्रतिभा सम्पन्न सम्राट हुआ हो। उसने अपने कई शत्रुओं को (जिनमें से कुछ को अपने पिता के शासन काल में) विजित करके 'सर्वराजोच्छेता' की उपाधि धारण की हो, जिसका कि अनुकरण बाद में समुद्रगुप्त द्वारा भी किया गया।

काच एक स्वतन्त्र शासक था ?

प्रयाग प्रशस्ति के पाँचवे व छठवें श्लोक के वर्णन से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त को उत्तराधिकार के निर्णय के ठीक पश्चात अपने कतिपय शत्रुओं के साथ युद्ध करना पड़ा था, जिसमें कि उसकी विजय भी हुई। यह युद्ध, उसका गृह-युद्ध ही माना जा सकता है, अन्यथा इसमें भी प्रशस्ति में वर्णित अन्य युद्धों के विवरण की भाँति, शत्रु-नरेशों का कुछ तो विवरण अवश्य ही प्राप्त होता। इस तथ्य के विरोध में यह कहना उचित नहीं होगा कि शायद उपर्युक्त श्लोकों के खंडित भागों में ऐसा विवरण मूल रूप में रहा हो, क्योंकि ऐसा होने पर अवशेष भाग में उनका कुछ भी उल्लेख प्राप्त न होना, सम्भव प्रतीत नहीं होता। इन श्लोकों में ऐसा आभास कतई निर्विवाद प्रतीत होता है कि इन युद्धों में उसके शत्रु, उसके निकटस्थ सम्बन्ध वाले लोग रहे होंगे, जिन्होंने बाद में अपनी गल्ती स्वीकार की व अपने कुकृत्य के लिये क्षमा याचना की। सम्भवतः ये शत्रु उसके भाई ही थे जैसा कि रैप्सन[१] व हेरास[२] प्रभृति विद्वानों का मत है।

ऐसा प्रतीत होता है कि काच, चन्द्रगुप्त प्रथम का पुत्र था जो कि उसकी किसी अन्य रानी (लिच्छिवि-कुमारी के अतिरिक्त) से उत्पन्न हुआ था तथा जिसने अपने पिता के साथ मिलकर कई शत्रु राज्यों का उन्मूलन करके गुप्त-साम्राज्य को पर्याप्त रूप में विस्तारित किया था। फलतः 'सर्वराजोच्छेता' की उपाधि उसके पिता द्वारा ही उसे प्रदान की गई हो। चन्द्रगुप्त प्रथम के समय में, शासन-प्रवन्ध में लिच्छिवियों का प्राधान्य था जिसके फलस्वरूप सभा सदों के बहुमत के कारण, तथा राज्य को गृह-कलह से बचाने के ध्येय से उसने समुद्रगुप्त को अपना युवराज (उत्तराधिकारी) घोषित किया होगा, क्योंकि उसे डर था कि काच को उत्तराधिकारी घोषित करने की अवस्था में, सभा (जिसमें बहुमत लिच्छिवियों का था) समुद्रगुप्त के पक्ष में, उसके लिच्छिवि-दौहित्र होने के कारण विद्रोह करा देगी। तथा यह भी सम्भव है कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने विवशतया समुद्रगुप्त को अपना

---

१ **जर्नल आव रायल एसियाटिक सोसाइटी, १८९३**

२ **एनील्स आव भण्डारकर-ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, ९।**

उत्तराधिकारी बनाया हो। इस घटना के परिणाम स्वरूप राजकुमारों में ज्येष्ठ भ्राता काच, जिसका शासन में काफी प्रभाव भी था, ने राज्य सिंहासन को बलात् हथिया लिया हो और कुछ समय तक राज्य भी किया हो, जिसका प्रमाण उसकी स्वर्ण-मुद्रायें हैं। यह भी सम्भव है कि चन्द्रगुप्त ने वस्तुतः काच को ही अपना उत्तराधिकारी घोषित किया हो, क्योंकि चन्द्रगुप्त प्रथम, गुप्तों के ऊपर से लिच्छिवियों के राजनैतिक प्रभाव को समाप्त करने का इच्छुक रहा हो, जो कि स्वाभाविक भी है। चन्द्रगुप्त-कुमारदेवी प्रकार की मुद्रा के अवलोकन से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त के शासन काल में लिच्छिवियों का गुप्तों पर पर्याप्त प्रभुत्व स्थापित था। बाद में समुद्रगुप्त ने लिच्छिव-जन-प्रधान, सभा एवं कुछ अन्य भाइयों की सहायता से काच के विरुद्ध विद्रोह करके राज्य हथिया लिया और शासक बन बैठा व प्रयाग प्रशस्ति में उत्तराधिकार सम्बन्धी विवरण को उसने जानबूझ कर गलत अंकित करवा दिया हो। फिर भी अप्रत्यक्ष रूप से इस उत्तराधिकार-युद्ध जैसे संघर्ष की झलक तो प्रयाग प्रशस्ति में उपलब्ध है ही। समुद्रगुप्त के बाद गुप्त-कुल में सभी शासक उसी (लिच्छिवि-दौहित्र समुद्रगुप्त) के वंशज हुए, जिसका परिणाम यह हुआ कि यह तथ्य सभी गुप्त-नरेशों के द्वारा छुपाया गया और धीरे-धीरे यह घटना लोगों को विस्मृत हो गई। काच का नाम तो इसलिए भी गुप्त-वंशावलियों में प्राप्य नहीं है कि उसके वंशज बाद में शासक नहीं बन सके और वह स्वयम् बहुत कम समय तक शासक रहा, फलतः उसे अन्य प्रकार की मुद्रायें प्रचलित करने अथवा कुछ लेख आदि लिखवाने का समय नहीं मिल सका, जो कि बाद आज हमारे लिये पुरातात्त्विक प्रमाणों के रूप में उपलब्ध हुए होते। गुप्तकुल में यही परम्परा सदैव देखने में आती है कि शासक अपने पिता, पितामह, प्रपितामह आदि का ही उल्लेख अपने लेखों में किया करते थे, अपने पितृव्य या भाई आदि का नहीं। इसी कारण गुप्त वंशावलियों में स्कन्दगुप्त सरीखे अति-प्रभावशाली नरेश [illegible] उपलब्ध नहीं कराया जा सका है। इस सन्दर्भ में ध्यातव्य है [illegible] 'मन्जूश्रीमूलकल्प' का रचयिता ऐसी किसी परम्परा से परिचित था कि समुद्रगुप्त दुष्ट प्रकृति का व्यक्ति था तथा उसके अनुज काच (भस्म) ने लम्बे समय तक राज्य करते हुए नाना सम्पदाओं का उपभोग किया था। यहां उल्लेखनीय है कि सम्भवतः समुद्रगुप्त ने बलात् अपने ज्येष्ठ भ्राता से राज्य छीना था, जिसके कारण उसे बाद में दुष्ट प्रकृति का मनुष्य बताया जाने लगा हो और बाद में चलते-चलते तथ्यों में अतिशयोक्तियों तथा परिवर्तनों का समावेश हो गया हो, जिसके कि फलस्वरूप उपरोक्त ग्रन्थ में काफी अस्वाभाविक बातों व तथ्यों का सम्मिश्रण हो गया हो। वैसे अन्य ऐतिहासिक परम्पराओं के अध्ययन से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन परम्पराओं में अतिशयोक्तियों व संवर्द्धन भले ही हो जायें, उनमें कुछ न कुछ सत्य अवश्य होता है, जैसा अलबेरूनी के विभिन्न संवतों के सम्बन्ध में कुछ तथ्य गलत होते हुए भी मूल तत्व सत्य पाये गये हैं।

इस सारे विवेचन के आधार पर यही निष्कर्ष निकाला जाना सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है कि काच, समुद्रगुप्त का ही एक नाम होना सम्भव नहीं, वरन् वह 'समुद्रगुप्त

का ज्येष्ठ भ्राता था जिसने स्वतन्त्र रूप में अल्प समय तक राज्य किया । कुछ समय बाद, उसके कुछ भाइयों व सभासदों की मदद से समुद्रगुप्त ने उसको परास्त करके राज्य सिंहासन पर कब्जा कर लिया । इसके लिये उसे काच से गृहयुद्ध रूपी संघर्ष करना पड़ा, जिसका विवरण हमें प्रयाग प्रशस्ति के पांचवें व छठवें श्लोकों में प्राप्य है । काच के ठीक पश्चात ही सिंहासनारूढ़ होने के कारण, समुद्रगुप्त की कतिपय मुद्राओं की बनावट, तौल, सम्राट की विरुद व उपाधि वाली विशेषताएँ, काच की मुद्राओं की विशेषताओं का अनुकरण किये जाने के फलस्वरूप, बहुत अधिक उनसे मिलती जुलती हैं । समुद्रगुप्त की 'सर्वराजोच्छेता' की उपाधि भी, बहुत सम्भव है, काच के अनुकरण का ही परिणाम रहा हो । अतएव गुप्त सम्राट काच को, समुद्रगुप्त अथवा उसके किसी अनुज या पुत्र की अपेक्षा समुद्रगुप्त के अग्रज के रूप में ही पहचाना जाना, उपयुक्त तथ्यों के आलोक में, अधिक उपयुक्त होगा ।

पुरातत्त्व विभाग, जयपुर

राजस्थानी–भाषा में 'शतृ' और 'क्त' प्रत्ययों का विकास

● गहरीलाल [illegible]र्मा

संस्कृत–भाषा में विविध अर्थों को प्रकट करने के लिए धातु से विभिन्न प्रत्यय लगाए जाते हैं। वर्तमान कालिक विशेषण, क्रिया का हेतु और लक्षण आदि अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए धातु से 'शतृ' और 'क्त' प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है। 'शतृ' प्रत्यय के दो प्रमुख रूप हैं, (i) अन्त् और (ii) अत्। इससे 'गच्छन्त्' और 'गच्छत्' जैसे रूपों की रचना होती है। स्त्रीलिंग में अन्त में ईकार जुड़कर अन्ती और अती रूप बन जाते हैं। ये दोनों ही रूप कुछ परिवर्तन के साथ आधुनिक–भारतीय–आर्य–भाषाओं तक चले आ रहे हैं। संस्कृत भाषा में विभिन्न कारक और उनके तीन–तीन वचन होने से इन दो रूपों के अन्तिम स्वर में परिवर्तन होता रहता है।

राजस्थानी भाषा में 'शतृ' प्रत्यय का विकास

राजस्थानी भाषा में दोनों ही रूप प्रयुक्त होते हैं। इस भाषा में इस प्रत्यय के अध्ययन के लिए दो प्रकार से विचार किया जा सकता है–(i) स्वरूप की दृष्टि से, (ii) अर्थ की दृष्टि से। स्वरूप की दृष्टि से विचार [illegible] पर [illegible] स्वरूप सामने आते हैं–अन्त और अत। लिंग और वचन के अनुसार अन्तिम [illegible] में परिवर्तन होता रहता है–जैसे:–

	एक वचन	बहुवचन
पुलिंग	भणन्तउ, भणन्तो, भणन्त	भणन्ता, भणता
	भणतउ, भणतो, भणत,	
स्त्रीलिंग,	भणन्ती, भणती	भणन्ती, भणती
	भणन्ति, भणति	भणन्ति, भणति।

प्राचीन राजस्थानी में इसका अतउ, अन्तउ रूप प्रचलित था।[1] विक्रम सं० १५०० के बाद अउ के स्थान में 'ओ' का प्रचलन हो गया।[2] अकारान्त रूप ('अन्त' 'अत') भी

---

१ पुरानी पश्चिमी राजस्थानी, पृ० १५४. हि० अनु० डॉ० नामवरसिंह

२ राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १७, डॉ० हीरालाल माहेश्वरी।

... कजळ दूति दीपंत ।९९।।[1] स्त्रीलिंग में सानुस्वार और अनु...र रहित दोनों ही रूप होते हैं। अनेक स्थानों पर दीर्घ ईकार को ह्रस्व भी कर दिया गया है। आधुनिक राजस्थानी में सानुस्वार रूप बिल्कुल लुप्त हो गया है, और पुंलिग में ओ...रान्त व स्त्रीलिंग में ईकारान्त रूप ही शेष रहे हैं—जैसे रोवतो जाए, दोड़तो आवे, ना...ी आवे आदि।

अर्थ की दृष्टि से संस्कृत भाषा की तुलना में राजस्थानी में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। ...स्कृत भाषा में 'शतृ' प्रत्ययान्त रूप केवल वर्तमान कालिक विशेषण के रूप में ही प्र... होता था; परन्तु राजस्थानी में यह तीन अर्थों में प्रमुख रूप से प्रयुक्त हुआ है—

(१) वर्तमान काल की कर्तृवाच्य की क्रिया के रूप में।
(२) विशेषण के अर्थ में।
(३) अपूर्ण और हेतु हेतु मद भूतार्थ में।

(१) राजस्थानी भाषा में इस प्रत्यय युक्त पद का प्रयोग वर्तमान कालिक कर्तृवाच्य की प्रमुख क्रिया के रूप में होता है—जैसे

धारइ दूध पयोहरे वालक किम काढंत। २१। पृ० २३६।
दूरी थका ही सज्जणाँ, कंठा ग्रहण करंती। २१४। पृ० २३७।[2]

पदों के इस अर्थ में प्रयोग में एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि जहां पर कर्ता पुंलिग है, वहां पर 'अन्त' या 'अत' रूप प्रयुक्त हुआ है। अनेक स्थानों पर स्त्रीलिंग में प्रयुक्त पद के सादृश्य पर पुंलिग में भी 'अन्ति' रूप का प्रयोग किया है—जैसे

कीर सुत सु जाती क्रीडंत ...।
वेग बळोह... वहंति ।६८।।
धरगिर तर साम्हा ध... " ।।[3]

यहां पर 'धावंति' जैसे प्रयोगों को देख कर यह विचार नहीं उठना चाहिये कि यह रूप सीधा संस्कृत से राजस्थानी में प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि तिङ् प्रत्ययान्त पदों का विकास क्रम भिन्न है। उसके अनुसार सं० धावन्ति का 'धावइ' और 'धावे' रूप होगा। इस समय की बोलचाल की मेवाड़ी में कर्तृवाच्य में 'शतृ' प्रत्ययान्त पद प्रयुक्त नहीं होते हैं।

---

१ क्रिसन रुकमणी री वेलि, सं० नरोत्तमदास स्वामी

२ ढोला मारूरा दूहा में काव्य सौष्ठव, संस्कृति एवं इतिहास ले० डॉ० भगवतीलाल शर्मा।

३ पूर्वोक्त 'वेलि'

(२) जिस प्रकार संस्कृत भाषा में वर्तमान कालिक विशेषण [illegible] के लक्षण आदि अर्थों में 'शतृ' प्रत्ययान्त पदों का प्रयोग [illegible], उसी प्रकार राजस्थानी [illegible] भी होता है। जैसे–

विशेषण:—राखी भली पडंते राव । ६ । ४[१]

क्रिया का लक्षण:—पूछत, पूछत गयउ अतह पुरी । ५२ ॥[२]

(३) अपूर्ण और हेतु हेतुमद् भूतार्थ में भी इस प्रत्ययान्त पद का प्रयोग होता है। इस पर डॉ० तेस्सितोरी ने विस्तृत प्रकाश डाला है, और इसके उदाहरण भी दिए हैं।[३] [illegible] की बोल–चाल की भाषा में भी ऐसे प्रयोग होते हैं। कुछ उदाहरण दर्शनीय हैं।

अपूर्ण भूत:—(i) वो कासी में भणतो
(ii) भरत ने रोज ओळीबो देती।

हेतु हेतु मदभूत (i) वो भणतो तो पास वे जातो।
(ii) अटे आवतो तो रमतो।

इन विशेषताओं के अतिरिक्त संस्कृत में जिस प्रकार 'शतृ' प्रत्ययान्त पदों से संयुक्त काल की रचना होती है उसी प्रकार राजस्थानी में भी होती है, यथा—

काया कजि उपकार करंता हुवइ, सु वेलि जपंत हुवि । २८४ ।[४]

'क्त' प्रत्यय

संस्कृत भाषा में भाव और कर्म में धातु से 'क्त' प्रत्यय [illegible]। 'क्त' प्रत्ययान्त पदों का प्रयोग विशेषण के रूप में भी होता है। गत्यर्थक [illegible] अकर्मक धातुओं से कर्तृ वाच्य की क्रिया की अभिव्यक्ति भी इस 'क्त' प्रत्ययान्त पद से [illegible] जाती है।[५] यह ध्यान देने योग्य बात है कि क्रिया के इस कर्तृ प्रयोग ने आधुनिक-भारतीय-आर्य-भाषाओं में अपना व्यापक

---

१ प्राचीन राजस्थानी गीत, भाग १, साहित्य संस्थान, उदयपुर

२ पूर्वोक्त 'वेलि'

३ पुरानी पश्चिमी राजस्थानी, पृ० १५५, अनु० डॉ० नामवरसिंह

४ पूर्वोक्त 'वेलि'

५ अष्टाध्यायी–गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थास्वसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च/३/४/७२

... भारतीय-आर्य भाषाओं की प्रारम्भिक भाषा पाली से ही संस्कृत भाषा ... ओं के विविध रूपों ... होना प्रारम्भ हो गया था। विशेष रूप से भूतकालिक क्रिया के लिए 'क्त' प्रत्ययान्त कृदन्त रूपों का प्रयोग अधिक होने लगा। प्राकृत ने कालों को छोड़ दिया एवं कृदन्तों का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया।[१] आगे चलकर आधुनिक–आर्य–भाषाओं में कृदन्त पदों का ही व्यापक स्थान हो गया। राजस्थानी भाषा में भी अधिकतर भूत काल की क्रिया का काम कृदन्त प्रयोग ही करते हैं।

राजस्थानी भाषा में 'क्त' प्रत्यय का विकास:—

अपभ्रंश भाषा तक आते आते संस्कृत भाषा की तिङन्त क्रियाओं का अस्तित्व बिल्कुल समाप्त हो गया था और आधुनिक आर्य-भाषाओं में भी यही परम्परा विद्यमान है। राजस्थानी भाषा में संस्कृत भाषा के 'अगच्छत्' पद के लिए (सं.) गतः से विकसित गियो रूप ग्रहण किया गया है। राजस्थानी भाषा में 'क्त' प्रत्यय का विकास विभिन्न रूपों में हुआ है। आरम्भिक काल में तो इसका प्राकृत की तरह ही 'अउ' या 'इअउ' रूप था,[२] पर धीरे-धीरे 'अउ' 'ओ' में परिवर्तित हो गया और १६ वीं शताब्दी के बाद राजस्थानी भाषा में प्राकृत और अपभ्रंश की मिश्रित विशेषताओं का विकास हुआ। प्राकृत भाषा के 'क्त' प्रत्ययान्त ओकारान्त रूप अपभ्रंश में आकर उकारान्त हो गये थे। राजस्थानी भाषा ने दोनों की विशेषताओं को ग्रहण किया। प्राकृत भाषा में 'क्त' प्रत्यय का 'अ' और विसर्ग (:) का 'उ' मिल कर 'ओ' बन जाता और 'भरिओ', 'विस मरिओ' आदि रूपों की रचना होती। अपभ्रंश में 'ओ' के स्थान पर 'उ' हो जाता और 'भरिउ', 'विसमरिउ' रूप बनते। राजस्थानी में 'भरियो' भरियु जैसे दोनों रूपों की सत्ता है। प्राकृत में वैकल्पिक रूप से 'य' श्रुति के सन्निवेश का श्री गणेश ... । राजस्थानी में आकर 'य' श्रुति अनिवार्य हो गई, जिससे करिओ, ... रूप न बन कर करियो, मरियो रूप ही प्रचलित हुए। ऐसे रूपों का आरम्भ तो राजस्थानी के प्रारम्भिक काल से ही हो गया था,[३] पर इनका एकाधिकार १६ वीं शताब्दी के बाद ... । इनका एकाधिकार होने पर अपभ्रंश के 'य' श्रुति रहित उकारान्त प्रयोग लुप्त हो गये। जहां उकारान्त प्रयोग होता था उसमें एक तो 'य' श्रुति अनिवार्य हो गई और उसका क्षेत्र संकुचित होकर नपुंसक लिंग अथवा

---

१ Comparatiul Grammar of the Prakrit Languages. P. 336-87- by Pischel. Translated by Subhadra jha.

२ पूर्वोक्त पुरानी पश्चिमी राजस्थानी।

३ डा. मोतीलाल मेनारिया ने राजस्थानी भाषा का प्रारम्भिक काल सं० १०४५ से १४६० माना है। देखें राजस्थानी भाषा और साहित्य– पृ. १०३

तिरस्कार अर्थ तक ही सीमित हो गया । १[illegible] शताब्दी[1] [illegible] तम रूप से ऐसे ही क्रिया-पदों का प्रयोग [illegible] कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

सं.		प्रा.		अप.		राजस्थानी
कृतः	>	करिअो	>	करिउ	>	करियो
भृतः	>	भरिअो	>	भरिउ	>	भरियो
मृतः		मरिअो	>	मरिउ	>	मरियो
भ्रमितः	>	भमिअो	>	भमिउ	>	भमियो
भ्रामितः	>	भमाडिअो	>	भमाडिउ	>	भमाडि[illegible]
जटितः	>	जडिअो	>	जडिउ	>	जडियो
लिप्तः	>	—	>	लिपटिउ	>	लिपटि[illegible]
पृष्टः	>	पुच्छिअो	>	पूछिउ	>	पूछि[illegible]
चलितः	>	—	>	चलिउ	>	चालियो
भणितः	>	भणिअो	>	भणिउ	>	भणियो ।

इन रूपों में सेट् और अनिट् के भेद से विकल्प भी विद्यमान है। ऐसे रूप यदा कदा काव्यों में तथा अधिकतम रूप से बोल चाल की भाषा में प्रयुक्त होते हैं। उपर्युक्त उदाहरणों के ही वैकल्पिक रूपों के उदाहरण देखे जा सकते हैं— जैसे, कर्‌यो, भर्‌यो, मर्‌यो, भम्यो, भमाड्यो जड्यो, लपट्यो, पूछयो, चाल्यो आदि। प्रो. बीम्स ने इन वैकल्पिक रूपों में 'इकार' का अभाव देखकर इनमें विद्यमान 'य' को इकार का प्रतिनिधि माना है।[2] पर यह विचार समुचित नहीं जान पड़ता। क्योंकि 'य' श्रुति तो सेट् और अनिट् दोनों रूपों में विद्यमान है। अतः इन्हें संस्कृत भाषा की भांति सेट् और अनिट् के भेद से दो वैकल्पिक रूप ही मान लें तो उचित होगा। अदि[illegible]

इन्हीं रूपों के उकारान्त उदाहरण भी देखे जा सकते हैं, परन्तु या तो वे नपुंसकलिंग का बोध कराते हैं या फिर क्रिया के भाव [illegible] ते प[illegible] तिरस्कृत रूप में प्रकट करते हैं। उदाहरण अवलोकनीय हैं—

कर्‌युं, भर्‌युं, मर्‌युं, भम्युं, भमाड्युं, जड्युं, लपट्युं, पूच्छयुं आदि। बहुवचन में सेट् और अनिट् दोनों रूप आकारान्त हो जाते हैं– यथा– कर्‌यां, भर्‌यों, मरियां, भमियां,

---

१ पृथ्वीराज रासो के समय के बारे में मतभेद है। डा. मोतीलाल मेनारिया ने इसका समय १७ वीं शताब्दी माना है जो भाषा की दृष्टि से उचित लगता है। राजस्थानी भाषा और साहित्य पृ. १२८

२ A Comparative Grammar of The Modern Argam Languages—Book III ch. I, P. 133

[illegible] में [illegible] एकवचन और बहुवचन दोनों में ये रूप ईकारान्त बन जाते [illegible] स्वर सहित 'य' श्रुति का [illegible] जाता है, तथा स्त्री प्रत्यय 'ई' सीधा धातु से संयुक्त हो जाता है। जैसे– मरी, मरी, भमी, जडी, भणी आदि।

डा० तेस्सितोरी ने भूत कृदन्त को चार रूपों में विभक्त किया है।[1] उनमें प्रथम प्रकार का विवेचन ऊपर हो चुका है। उनके अनुसार यह पहला प्रकार है और इसी का राजस्थानी भाषा में व्यापक क्षेत्र है। उनके विचार पुरानी राजस्थानी तक ही सीमित हैं पर प्रस्तुत लेख आधुनिक काल तक के रूपों पर प्रकाश डालता है। भूत कृदन्त के शेष तीन रूपों को भी इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

इट् रहित सीधे धातु से संयुक्त 'क्त' प्रत्ययान्त रूपः–

संस्कृत भाषा में जिन धातुओं में इट् होता था, वे धातुएं प्राकृत और अपभ्रंश में भी सेट् रही हो, ऐसा नहीं है। प्राकृत की सेट् और अनिट् की व्यवस्था भिन्न थी। फिर भी कुछ धातुएँ हैं, जिनमें संस्कृत में भी प्रत्यय सीधा धातु से संयुक्त होता और वही परम्परा आ. भा. आ. भाषाओं तक चली आई। प्रत्यय के सीधा धातु से लगने के कारण व्यञ्जनों के सानिध्य से होने वाले कुछ महत्व पूर्ण परिवर्तन संस्कृत भाषा से ही प्रारम्भ हो गये थे। जैसे √ दुह धातु से क्त प्रत्यय होने पर दुग्ध और √ लग से लब्ध, √ धा से 'हितम्' दर्शनीय है।

लागो और भागो पदः—संस्कृत भाषा में √ लग् और √ भञ्ज् धातु से 'क्त' प्रत्ययार्थ 'न' प्रत्यय होकर 'लग्नः' और भग्नः रूप बनते हैं। मध्य भा. आ. भाषाओं में इन रूपों में पूर्व समीकरण हो कर लग्ग और भग्ग तथा राजस्थानी में अर्धाक्षर के भार को बनाये रखने के [illegible] को दीर्घ कर के लाग और भाग रूप बनते हैं। इन रूपों के पुल्लिंग में लागो, भागो, नपुंसकलिंग में लागु, भागु और स्त्रीलिंग में लागी और भागी रूपों की रचना होती है।

विकरण में परिवर्तित प्रत्यय युक्त धातुएं:— [illegible]' प्रत्ययान्त क्रिया पद ऐसे हैं, जिनमें प्रत्यय, राजस्थानी भाषा में आकर स्थायी रूप से साथ रहने वाला धातु का विकरण बन गया है। मा. भा. आ. भाषा में तो प्रत्यय और प्रकृति स्पष्ट थी, पर राजस्थानी में प्रत्यय भी प्रकृत्यंश बन गया। कुछ उदाहरण दर्शनीय है–

	सं०		प्रा०		अप०		राज०
√पैढ् =	प्रविष्टः	>	पइट्ठो	>	पइट्ठउ	>	पैठो
√पैठ् =	उपविष्टः	>	बइट्ठो	>	बइट्ठउ	>	बैठो

---

१ पुरानी पश्चिमी राजस्थानी, हि. अनु. डा. नामवरसिंह, पृ. १५९

√लाघ्= लब्धः > लद्ध ... ...
√काढ्= कृष्टः > कड्ढो ...ड्ढउ > काढ्यो ...
√दीठ्= दृष्टः < दिट्ठो दिट्ठउ > दिठो
√नाठ्= नष्टः > नट्ठो नट्ठउ > नाठो
√रूठ्= रुष्टः > रुट्ठो रुट्ठउ > रुठ्यो

इन समस्त क्रिया पदों में 'क्त' प्रत्यय धात्वंश बन गया है। सं. √ स्वप् ... विकसित रूप ऐसा है, जिसमें सन्धि की दृष्टि से कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। 'क्त' ... 'त' रूप में ही विद्यमान है। जैसे सूतो = सं. सुप्तः > प्रा सुत्तउ > राज. सूतो। रा... भाषा की मेवाड़ी बोली के बोलचाल के रूप में एक √लग् धातु प्रयुक्त होती है। ... विकास सं. 'लूनः' से ही हुआ होगा। इसमें सं. 'न' ण रूप में विद्यमान जो रा...स्थानी की प्रमुख विशेषता है। इसका प्रयोग इस प्रकार होता है— धान लण्यो, लणणो, ...ला= धान काटा, काटना, काटेगा। लावणी इसका भावे और कर्मणि 'ल्युट्' प्रत्ययान्त रूप है, जिसका सं. रूप 'लवनः' है।

धउ अन्त वाले क्रियापद

राजस्थानी भाषा में पांच धातुएं ऐसी हैं, जिनके 'धउ' या 'धो' प्रत्ययान्त रूप प्रचलित हैं। डॉ० तेस्सितोरी ने ऐसी छः धातुओं का उल्लेख किया है[1]। पर उनमें 'बीध = डरा' रूप राजस्थानी में प्रचलित नहीं हैं। अन्य पांच रूप कीध, दीध, लीध, पीध, खाध हैं। इनका पुरानी राजस्थानी में पुंलिग, नपुंसकलिंग और स्त्रीलिंग में क्रमशः कीधउ, कीधउं, कीधी, और मध्यकालीन और आधुनिक राजस्थानी में कीधो, कीधुं और कीधी रूप प्रचलित हैं। इन रूपों का ...थानी में ... ये पूर्व भाषाओं से ज्यों के त्यों नहीं आए हैं। इनके विकास की ... हुई है। जॉन बीम्स के मतानुसार आधुनिक आर्य भाषाओं ... धातु ने दूसरी धातु के विकास क्रम को प्रभावित किया।[2] इसी ... विकास हुआ। उन्होंने उदाहरण देकर समझाया, वह इस प्रकार है।

१.	i कियो	ii कीधो	iii कीनो।
२.	i दियो	ii दीधो	iii दीनो।
३.	i लियो	ii लीधो	iii लीनो।

---

१ पुरानी पश्चिमी राजस्थानी, पृ० १६१

2 A Comparative Grammar of the Modern Aryan Languages, Book III, Ch. I, P. 144

इन उदाहरणों में 'कियो' रूप संस्कृत 'कृत' और प्राकृत 'किय' एवं किदो से विकसित है, जिसने अन्य √दा आदि के विकास को प्रभावित किया है। लीधो रूप सं० लब्ध एवं प्राकृत लद्ध से विकसित है, जिसने अन्य दो को प्रभावित किया है। दीनों रूप सं० दत्तः एवं प्राकृत 'दिणो' से विकसित है, जिसने अन्य दो को प्रभावित किया है। यदि ऐसा न होता तो 'किय' का ध्वनिशास्त्र के अनुसार कीध और कीन रूप बनना कठिन है।

डॉ० तेस्सितोरी इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके मतानुसार 'कीध' जैसे रूपों के विकास में 'लब्ध' का कोई योगदान नहीं है। उनका विकास स्वतन्त्र हुआ है।[१] उनके मतानुसार इन सभी धातुओं के प्राकृत में क्तार्थक 'न' प्रत्ययान्त कृण्ण, रवाण्ण, दीण्ण, पीण्ण, लीण्ण रूप थे। अपभ्रंश में ये रूप किण्णउ, दीण्णउ, पीण्णउ और लीण्णउ हो गये। पुरानी पश्चिमी राजस्थानी में 'ण' के स्थान में 'ह' प्रयुक्त होने लगा जिससे कीन्हउ, दीन्हउ आदि रूपों ने स्वरूप ग्रहण किया। पर धीरे-धीरे 'न्' के कारण में 'द' श्रुति के सन्निवेश से कीद्हउ, दीद्हउ रूपों के कीधउ, दीधउ जैसे रूप उत्पन्न हुए।

आण अन्त वाले भूतकृदन्त

राजस्थानी में आण् प्रत्ययान्त क्रियापद भी भूतकाल में प्रयुक्त होते हैं–जैसे कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

सं०	प्रा० राज०	आ० राज०
रुष्टः	रिसाणउ	रिसाणो, रियाणो
रञ्जितः	रंगाणउ	रंगाणो
खादित	[illegible]उ	खवाणो
वाचितः	वंचाणउ	वंचाणो
दृष्टः	देखाणउ	देखाणो, आदि।

इन पदों में आण् प्रत्यय [illegible] का [illegible]। सं० 'न' से इसका विकास नहीं हुआ है, क्योंकि 'न' में 'आ' का अभाव है [illegible] जिस प्रकार 'शतृ' प्रत्ययान्त रूप भूत काल की क्रिया के लिये प्रयुक्त होने लगे, उसी प्रकार शानच् प्रत्ययान्त रूपों का विकास इस रूप में हुआ हो।

इस प्रकार इन दो रूपों के विकास को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि राजस्थानी भाषा पर संस्कृत के प्रभाव का अध्ययन आवश्यक है, जो कि कुछ अंशों में प्राकृत, अपभ्रंश के माध्यम द्वारा तथा कुछ अंशों में सीधा किया जा सकता है।

रिसर्च स्कालर, उदयपुर

---

१ पुरानी पश्चिमी राजस्थानी, पृ० १६१

राजस्थान में धर्म : दसवीं शती ई. त

शिला लेखीय साख्य पर आधारित अध्

श्रीमती प्रेमलता पोख

राजस्थान से प्राप्त प्राचीनतम अभिलेख सैन्धव मुद्राओं पर उत्कीर्ण हैं। यह मुद्राएं गंगानगर जिले के कालीबंगा नामक स्थान के उत्खनन के परिणामस्वरूप उपलब्ध हुई हैं। इन मुद्राओं पर अंकित लिपि का सर्वमान्य अध्ययन अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। तथापि कतिपय मूर्धन्य विद्वानों ने इस दिशा में सफलता की सीमा तक प्रयास किया है। इन अध्येताओं के मतानुसार यह निर्विवाद है कि सैन्धव मुद्राओं का स्वरूप धार्मिक था। डा० फतेहसिंह का अभिमत है कि इन मुद्राओं पर वैदिक सूत्रों को स्थान दिया गया है जबकि रूस के लिपिशास्त्र विशेषज्ञ यूरी क्नोरोजोव[1] की मान्यता है कि इसका सम्बन्ध द्रविड़ संस्कृति के धर्म से है। कुछ भी हो, राजस्थान में उपलब्ध इन अभिलेखीय प्रमाणों के सम्यक अध्ययन के पश्चात् भारतीय धर्मशास्त्र के इतिहास में क्रांतिकारी पृष्ठ सम्मिलित होंगे– यह निश्चित है। प्राचीन भारत में बौद्ध धर्म के प्रसार के साथ वैदिक यज्ञ आदि का प्रचार कम हो गया था। किन्तु बौद्ध धर्म की अवनति के साथ ही पुनः अश्वमेघादि यज्ञ होने लगे। उदयपुर के समीपवर्ती भूभाग में घोसुण्डि (नगरी के समीप) ... से प्राप्त द्वितीय शताब्दी ई० पू० के लेखों से ज्ञात होता है ... युग में वहां अश्वमेघ यज्ञ हुआ था जिसका उल्लेख इस प्रकार है–

...के भाव... ...ते प...

---

१ यूरी क्नोरोजोव, 'सिंधु सभ्यता की लिपि के अर्थ की खोज; सोवियत भूमि, अंक-१२, जून १९७२

२ डा० दिनेश चन्द्र सरकार, 'सिलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स', १९४२, कलकत्ता, पृ० ९१-९२; रिपोर्ट आदि राजपूताना म्यूजियम अजमेर, १९२६, पृ० २; एपिग्रेफिया इंडिका, भाग २२, पृ० १९०-२०५; डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, 'राजस्थान में भागवत धर्म का प्राचीन केन्द्र, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ६२, अंक २-३, पृ० ११७०; कविराजा श्यामलदास, जर्नल ऑफ दि बंगाल ब्रांच ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, भाग ५६, संख्या १, पृ० ६६; रामप्रसाद चंदा, 'आर्कआलोजी एण्ड वैष्णव ट्रेडिशन्स', आर्कआलाजिकल सर्वे आव इंडिया, मेमाअर्स, सं० ५, पृ० १६३-६५

...केवीण सर्वतसेन अश्वमेधयाजिना[1] भगव [द] भ्यां ... वासुदेवाभ्याँ अनहिताभ्या... राभ्यां पूजा शिला प्राकारो नारायण वाटिक.........।'

वैदिक यज्ञों की यह परम्परा ईसा की चतुर्थ शताब्दी तक अक्षुण्ण बनी रही तथा समय ... पर यूपस्तंभों की प्रतिष्ठा होती रही। नांदसा[2] (सायरा तहसील, उदयपुर) से प्राप्त कृत व... २८२ (=२२५ ई.) के लेख द्वारा 'षष्ठिरात्र' यज्ञ के अनुष्ठान का बोध होता है। संभव... यह लेख शक क्षत्रपों के राज्य में उत्कीर्ण हुआ था। डा० अल्तेकर[3] का मत है कि ...वगण की स्वातंत्र्य घोषणा के परिणाम स्वरूप ही एकषष्ठि यज्ञ का अनुष्ठान हुआ था। ...टा राज्य के अन्तर्गत बड़वा नामक स्थान से प्राप्त मोंखरि नृपवर्ग के समय के चार यूप ...शिलालेखों द्वारा राजस्थान के धार्मिक इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। प्रत्येक यूप... र कुषाडाकालीन ब्राह्मी लिपि प्राकृत मिश्रित संस्कृत भाषा का लेख उत्कीर्ण है। इनमें से तीन तो महासेनापति मौखरि बल के तीन पुत्रों (बलवर्धन, सोमदेव, बलसिंह) के हैं जिनमें से प्रत्येक ने कृत वर्ष २९५ में त्रिरात्र[4] यज्ञ के अनुष्ठान के निमित्त एक २ सहस्त्र गौएं दान में दी तथा यूप स्तंभ स्थापित किये। पांच निम्न पंक्तियों में उल्लखित बलवर्धन के लेख के समान ही शेष सबकी भाषा है। उल्लेख इस प्रकार है– 'सिद्ध कृतेहि २९५ फाल्गुण शुक्लस्य पांचे दी श्री महासेनापतेः मौखरे बलपुत्रस्य बलवर्धनस्य यूपः त्रिरात्रि सवनस्य दक्षिणा गावो सहस्त्रो।' बड़वा से प्राप्त चतुर्थ यूप स्तंभ[5] भी यज्ञ व्यवस्था की जानकारी के लिये महत्वपूर्ण है। मौखरि वंशी धनुत्रात ने 'अप्तोर्याम' यज्ञ का अनुष्ठान कर एक यूप की प्रतिष्ठा की थी– मौखरे हस्ती पुत्रस्य धनुत्रास्य धीमतः ...र्यामेण कृतो यूपः सहस्त्रे... दक्षिणा।' उक्त यज्ञ एक दिन में सम्पन्न होने वाले ... का एक रूप है परन्तु अतिरात्र यज्ञ की नाई

---

१ देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर, 'आर्क... प्रो... एन्ड एक्सकेवेशन्स एट नगरी १९२०, कलकत्ता, पृ० १२०-१२४

२ श्री भंडारकर, ब्राह्मी अभिलेखों की सूची, सं० १; इं० ऐ० ५८, १९२९, पृ. ५३; रि. रा. म्यू. अ. १९२६, पृ० २

३ हिस्ट्री ऑव इंडियन पीपुल, गुप्त वाकाटक एज, भाग ६, १९४६, पृ० ३४-५

४ ए० इं० २३, पृ० ४२-५२; दिनेशचन्द्र सरकार, 'सिलेक्ट इंस्क्रिपशंस', कलकत्ता, १९४२, पृ० ९२; श्री एम. एल, शर्मा, कोटा राज्य का इतिहास, पृ० २३-२४, परिशिष्ट– १

५ ए. इं. २४, पृ० २५१–२

सम्पूर्ण दिन के अतिरिक्त अगली रात्रि तक यज्ञ ... बड़वा से १४० मील घेरे के बीच विजयगढ़ ... भी मिले हैं । इससे ... होता है कि शक क्षत्रपों के काल में इस प्रदेश में वैदिक धर्म और संस्कृति की पुनः ... हुई होगी । जयपुर राज्य के अन्तर्गत लालसोट गंगापुर सड़क से ८ मील दूर बर्नाला ... स्थान यूपस्तंभ[2] प्राप्त हुए थे । उक्त दो विशाल यूप स्तम्भों में कृत संवत २८४ के ... सोहर्त गोत्रोत्पन्न वर्धन नामक व्यक्ति ने सात यूप स्तम्भों की प्रतिष्ठा का पुण्यार्जन ... नगरी से प्राप्त चतुर्थ शताब्दी के एक शिलालेख[3] में भी तत्कालीन युग में 'वाजपेय' ... निमित्त यूप स्तम्भ[4] की प्रतिष्ठा का उल्लेख प्राप्त हुआ है–'स्य यज्ञे वाजपेये·········... तस्य पुत्रै (र) यू (पो)··· ।' भरतपुर राज्य के अन्तर्गत बयाना के समीप विजयगढ़ ... स्थान से प्राप्त यूपस्तम्भ[5] की प्रतिष्ठा कृत वर्ष ४२८ (= ई० ३७१) में पुंडरी ... यज्ञ के उपलक्ष में की गई थी ।

'कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वाष्ट विंशेषु ४००+२०+८ फाल्गुन बहुलस्य पंचदस्या मेतस्या पूर्वायाम्—·············पुण्डरीके यूपोऽयं प्रतिष्ठापितस्सु प्रतिष्ठित राज्य नामधेयेना श्री विष्णुवर्द्धनेन वारिकेण यशोवर्द्धन सत्पुत्रेण'

जयपुर राज्य के उणियारे ठिकाने के बिचपुरिया मंदिर के आंगन मे पड़े हुए एक अज्ञात यूपस्तम्भ[6] से यज्ञानुष्ठान का बोध होता है । लेख इस प्रकार है– 'सं० ३००+२०+८ फाल्गुन शुक्ल पक्षस्य पञ्चदश अहिशर्म अ (ग्नि) होतुस्य धरक पुत्रस्य यूप (श्च पुण्य) मेधतु' । डा० सत्यप्रकाशजी इसकी तिथि विक्रमीय संवत मानते हैं ।

अ...

भगवद्गीता में उल्लखित विराट स्वरूप को लक्ष्य में र... ...ताओं ने वासुदेव की भक्ति के प्रचारार्थ विष्णु उपासना चलाई ... सात्वत ... भागवत सम्प्रदाय के नाम से ... के भाव... ...त प...

---

१ ए० इ० २४, पृ० २५१-२

२ आर्केआलाजिकल रिमेन्स एण्ड एक्सकेवेशन्स एट सांभर पृ० ३

३ डी० आर० भंडारकर, प्रा० रि० ए० न०, पृ० १२०

४ श्री दयाराम साहनी तो ई० पू० तृतीय शताब्दी की एक मुहर पर यूपस्तंभ चिन्ह अंकित मानते हैं । यह वस्तु बैराठ नामक स्थान पर मिली है (दृष्टव्य–बैराठ खननवृत, पृ० ३

५ भंडारकर ब्राह्मी लेखों की सूची सं० २; फ्लीट सम्पादित, गुप्ता इन्सक्रिप्शन्स भाग ३, १८८८, कलकत्ता, पृ० २५३

६ मरुभारती, पिलानी, फरवरी १९५३, भाग १, संख्या २ पृष्ठ ३८–९

[illegible] । [illegible] [illegible]ओं में [illegible] [illegible]ीन है जैसाकि घोसुंडी लेख में राजा सर्वतात ने भ[illegible]षण और वासुदेव की पू[illegible] [illegible]त शिला–प्राकार बनवाया था । अतः वहां भगवा[illegible] संकर्षण और वासुदेव का शिलापट्ट पूजित होता था । इससे स्पष्ट हो गया कि इसके कई [illegible] वर्ष पूर्व वहां विष्णु पूजा और मूर्ति निर्माण का क्रम प्रारंभ हो गया था । आंव[illegible]वर स्तम्भ लेख[1] में स्तम्भ निर्माता 'भगवत' के लिये भागवत विशेषण का प्रयोग किया [illegible] जो स्पष्ट तथा उसे भागवत मतानुयायी सिद्ध करता है । मालवा प्रदेश में पुरातात्विक दृष्टि[illegible] विदिशा और घोंसुंडी ही वैष्णव धर्म के प्राचीन केन्द्र माने जाते रहे हैं । वहां इस आंव[illegible]वर स्तम्भ लेख में 'भगवत' शब्द के सम्प्रदाय सूचक अर्थ में प्रयोग से यह स्पष्ट हो ज[illegible] कि मौर्य युग के पश्चात् ईसा पूर्ववर्ती काल में ही मालवा के इस क्षेत्र में भी भागवत धर्म क[illegible] पर्याप्त प्रसार हो चुका था । कृत सं० २८२ के नांदसा ग्राम के यूप स्तंभ लेख की ८–९ वा पंक्तियों मे ब्रह्मा, इन्द्र, प्रजापति, महर्षि व विष्णु के प्रासादों का उल्लेख अति महत्वपूर्ण है— 'ब्रह्मेन्द्र प्रजापति महर्षि विष्णु स्थानेषु कृतावकाशस्य ......' बरनाला के कृत संवत् ३३५ (२६८ ई०) के यूप स्तंभ अभिलेख के अन्त में बिष्णु की स्तुति की गई है यथा– 'कृतेहि ३००+३०+५ (ज्येष्ठ) .... वष्ठ=(वष्णु) प्रियता धर्मो वर्द्धता । माम्)' । जो इस तथ्य का संकेत है कि यज्ञकर्त्ता की आस्था एवं झुकाव वैष्णव धर्म के प्रति रहा होगा तथा उसका ऐसा दृढ़ विश्वास था कि यज्ञ–दानादि द्वारा भगवान विष्णु प्रसन्न होंगे तथा धर्म की वृद्धि होगी । इस काल के राजस्थान से प्राप्त विभिन्न अभिलेख वैष्णव धर्म के बढ़ते हुये प्रभाव व प्रसार के द्योतक हैं जैसाकि भरतपुर राज्यान्तर्गत विजय-गढ़ से (बयाना समीप) प्राप्त कृतवर्ष ४२८ (=३६१ ईसवी) के यूप स्तंभ लेख में यज्ञकर्त्ता का नाम 'विष्णुवर्द्धन' उत्कीर्ण है । झालावाड़ संग्रहालय में सुरक्षित वि० सं० [illegible] के [illegible]लेख[2] में विष्णु के [illegible] तथा देवभवन का उल्लेख मिला है अर्थात-चक्र गदाधरस्य (श्लोक–[illegible]णोः स्थाननकारयद्भगवत २ श्रीमान् मयूराक्षकः' । नगरी से प्राप्त मालव संवत ४८१ के [illegible] में विष्णु मन्दिर के निर्माण का उल्लेख मिलता है । चित्तौड़ से अभी हाल में ७ वी शत[illegible] [illegible]का [illegible] शिलालेख[4] मिला है जो संभवतः देवभवन ही रहा होगा । यदि वह अनुमान [illegible] [illegible] प्रा[illegible] वैष्णव मन्दिर ही होना चाहिये क्योंकि ६ वीं शती तक मेवाड़ विशेषतः चित्तौड़ क्षेत्र वैष्णव धर्म का प्रमुख गढ़ था । साथ में शिलालेख में उत्कीर्ण निर्माणकर्त्ता के पूर्वजों के वराह तथा विष्णुदत्त जैसे नाम भी इस अनुमान को बल देते हैं । हाँथीबाड़ा से प्राप्त ७ वीं शताब्दी के लेख[5] में श्री विष्णु-

---

१ वरदा, वर्ष १३, अंक ४, पृ० ४५, वरदा, अक्टू०–दिसं० १९७१, वर्ष १४, अंक ४
२ दिनेश चन्द्र सरकार, सिलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स, १९४२, कलकत्ता, पृ० ३८४
३ गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, राजपूताने का इतिहास, १९२७, अजमेर, पृ० १२९
४ डा० डी. सी. सरकार, ए. इं०, भाग ३४, पृ० ५४–५५
५ प्रोग्रेस रिपोर्ट आव आर्कआलाजिकल सर्वे, वेस्टर्न सर्कल, १९१६, पृ० ६७

पादाभ्यां पद द्वारा उस स्थान पर इस समय तक [illegible] है। [illegible] ग्राम से प्राप्त एवं उदयपुर संग्र[illegible] प्रदर्शित गुहिल[illegible] अपराजित के वि० सं० ७१८ के लेख[1] में प्रारंभिक दो श्लोकों में हरि और शौरि के [illegible] विष्णु कृष्ण की वन्दना है। उक्त राजा अपराजित के सेनापति वराहसिंहथे जिनकी [illegible] यशोमति ने जीवन और धन की नश्वरता समझ भवसागर पार करने हेतु कैटभरिपु वि[illegible] का मन्दिर बनवाया। अलवर से ६५ मील दूर स्थित तसाई गांव के शिव मन्दिर में [illegible] हर्ष संवत १८२ के अभिलेख[2] से इस दिशा में पर्याप्त सामग्री मिलती है। उक्त अभि[illegible] में रणादित्य द्वारा शुभ्र विष्णु-ग्रह निर्माण का उल्लेख है। यथा—'इदं कारितम् [illegible] विष्णोर्ग्रहं मनुत्तमम् (पं० ९)। मंडोर रेलवे स्टेशन के सामने तथा अष्टमातृकाओं प्रतिष्ठा [illegible] के नीचे वि० सं० ७४२ की बावड़ी के तत्कालीन शिलालेख[3] में वामनावतार की ओर [illegible] किया गया है; अर्थात्-अंविहृत चक्रप्रसरो विक्रम्याक्रान्त सकल बलिराज्यो दूर निराकृत [illegible] नरकस्स जयति पुरुषोत्तमों'। प्रतिहार बाऊक की जोधपुर प्रशस्ति[4] (वि० सं० ८९४) में तो हृषीकेश विष्णु की वन्दना की गई है यथा—

> 'ओं नमो विष्णव, यस्मिन् विशंति भूतानि यतस्यर्ग
> स्थितीयते।
> स वः पायाद्धृषीकेशो निर्गुणास्सगुणश्च यः॥
> गुणाः पूर्व पुरुषाणां की (र्त्यन्ते) तेन पण्डितैः।
> गुण कीर्तिश्नश्यन्ति स्वर्गवासकरी यतः॥'

संवत ८७२ के बुचकला (जोधपुर) के लेख[5] में परमेश्वर निमित्त देवालय स्थापना का बोध होता है। डॉ० भंडारकर का विचार है कि प्रायः परमेश्वर शब्द शिव का ही सूचक रहता है परन्तु इस विशिष्ठ स्थान पर इसे विष्णु का ही निर्देश[illegible] करना चाहिये।

---

१ कील हर्न, ए० इं०, भाग ४, [illegible] डा० ओझा, राजपूताने का इतिहास खंड-१, पृ० ४०१-४०२

२ गौ० ही० ओझा, रि० रा० म्यू० अ०, १९२०, पृ० २; फणिलाल चक्रवर्ती, रिसर्चर भाग २, पृ० ५४-५५; दिनेश चन्द्र सरकार, ए० इं० भाग ३६, पृ० ४९-५२

३ एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट ऑव आर्केऑलॉजिकल डिपार्टमेंट, जोधपुर, भाग-८, १९३५ पृ० ५

४ ए० इं०, भाग १८, पं० १-२; डा० आर० सी० मजूमदार, इंडियन एंटिक्वेरी, जिल्द १८, पृ० ८७; डा० राजबली पांडे, चौखंबा संस्कृत स्टडीज, जिल्द २३; हिस्टोरीकल एण्ड लिटरेरी इन्स्क्रिप्शंस, पृ० १५८

५ ए० इं०, भाग ९. पृ० १९९; ज० रॉ० ए० सो०, १९०७, पृ० १०११

के ग्रन्थों [illegible] में विष्णु के आयुध (शंङ्ख, चक्र, गदा) शेष नाग, विष्णु पत्नी [illegible] विष्णु के विभिन्न संबोधन [illegible] मधुद्विष, घनश्याम) वराहावतार आदि का वर्णन किया गया है। बालादित्य के चाटसू से प्राप्त लेख[2] (१० वीं शती) में भी हरि (विष्णु) के शकुन्तवाहन (अर्थात गरुड़) 'हरिहमहो ना (समीचे) व्यिवाह ....' की ओर संकेत प्रतीत होता है। मंडोर (प्राचीन माडव्यपुर अथवा मड्डोदर, वर्तमान जोधपुर से ५ मील उत्तर दिशा में) से प्राप्त तथा जोधपुर संग्रहालय में सुरक्षित ८ या ९ वीं शती के शिलालेखों[3] के खडित टुकडों द्वारा भी सर्पराज शेष, विष्णु धनुष शाङ्गं विष्णु के विभिन्न संबोधन यथा—'ओ नमो भगवते वासुदेवाय...... ....वासुदेवस्य......सदा भक्त[illegible]केशवे' तथा अवतार वामन, नृसिह (द्रष्टाग्रोग्रं ग्रेहण ग्रसितुमिव महीमु....... सिंघवपुः) का उल्लेख है। जोधपुर राज्यान्तर्गत डीडवाना तहसील के सिंवा गांव से प्राप्त वि० सं० ९०० के ताम्रपत्र[4] में 'परमवैष्णव' तथा 'भट्टविष्णु' (व्यक्ति विशेष नाम) आदि पद वैष्णव प्रभाव के द्योतक हैं। सौभाग्य से ८ वीं शती तक के वैष्णव मन्दिर[5] जोधपुर के ओसिया[6] और जयपुर के आबानेरी गांव में अपनी गौरवगाथा को प्रकट करते को शेष वच रहे हैं। मतृभट्ट II के लेख[7] (वि० सं० १००१) में विष्णु के विभिन्न संबोधन जैसे जनार्दन, कैटभरिपु आदि मिलते हैं। मान्दकिला ताल (नगर–चित्तौड, वि० सं० १०४३) लेख[8] की प्रारंभिक पंक्तियो में विष्णु वन्दना की गई है। यथा—'सिद्धिरस्तु ॐ नमः। श्री यममर्त्यमनुष्यनुतं महज्जल चक्रमृदंबुधिमंदिरम्। सुरधुनीवनवन्मुरजिद्वपुर्दिशतु वो विमलं कमलालयम्॥ [१॥] पातां गोगरुडध्वजो'

---

१ कनिंघम आर्केआलाजिकल सर्वे [illegible] रिपोर्ट, भाग २०, पृ० ५७-८; ए० इं०, २४, पृ० ३३१
२ ए० इं०, १२, पृ० १४, [illegible]
३ प्रो० रि० आ० स० वे० स, [illegible] ३९
४ ए० इं०, ५, पृ० २०८
५ श्री रतनचन्द्र अग्रवाल, 'ओसियाँ के प्राचीन मन्दिर' नवनिर्माण, जोधपुर (दीपावली विशेषांक) १९३५, पृ० ४१–५०; मार्ग, (राजस्थानी मूर्तिकला विशेषांक), भाग १२, अंक–२, मार्च १९५९, पृ० ५४–६०; डा० दत्तात्रेय रामकृष्ण भंडारकर, 'ओसियाँ के मन्दिर', एनुअल रिपोर्ट, आर्केलाजिकल सर्वे, १९०८–९, पृ० ९९; गोएत्स, वैस्टर्न रेल्वे एनुअल १९५४
६ श्री रत्नचन्द्र अग्रवाल, ललितकला नं० १–२, पृ० १३०–३५; श्री जयकर, मार्ग (राजस्थानी मूर्तिकला विशेषांक), भाग–१२ अक २, मार्च १९५९, पृ० २८–३०
७ श्री रतनचन्द्र अग्रवाल, शोध पत्रिका, सितम्बर दिसम्बर १९५६, पृ० ५७
८ ए०.इं० ३४, भाग २, पृ० ७८

महाभारत युद्ध के बाद लोगों की प्रवृत्ति में परिवर्तन ... विष्णु को दाता ही न मानने लगे प्रत्युत इस युग में कृ... का आंशिक अवतार ... की विधि भी प्रचलित हुई। राजस्थान में कृष्ण से संबधित कांमा (भरतपुर) से प्राप्त लेख में विष्णु के भिन्न संबोधनों में 'मधुद्विष' तथा 'घनश्याम' का उल्लेख आता है। ... से प्राप्त तथा जोधपुर राजकीय संग्रहालय में सुरक्षित दो मोटे लाल रंग के पाषाण-... पर कृष्ण-लीला संबंधी कतिपय संदर्भ उत्कीर्ण किये गये हैं। इनमे ५-६ पंक्तियों का लेख खुदा हुआ था जिसके केवल अक्षरों के त्रिकोणाकार ऊपरी भाग ही अवशिष्ट ... इनसे यह अनुमान किया जा सकता है कि ये स्तंभ गुप्तकालीन कला के परिचायक ... श्री ओझाजी का यह मत असंगत जान पड़ता है कि उक्त स्तंभ ९-१० वीं शताब्दी ... मंडोर से प्राप्त कुटिल लिपि के ८-९ वीं शताब्दी के शिलालेख में कृष्ण द्वारा गोकुल ... गोपियों के साथ रास करने व क्रीड़ारत होने का रोचक उल्लेख प्राप्य है, यथा-'गोपी गिरो गोकुले श्रुत्वा राधिकया स्वभूषण विधि : शौरे : कृतः पाणिनाङ्गणे ...... रूप हरः पातुवः'।

रामोपासना का प्रतिहार बाऊक की प्रशस्ति में मिलता है। लक्ष्मण के वंशज ही प्रतिहार थे तथा रामभद्र के लिये प्रतिहार पद पर कार्य करने के परिणाम स्वरूप वंश का नाम भी प्रतिहार पड़ गया, यथा-स्वभ्राता राम भद्रस्य प्रतिहार्यम कृत यत श्री प्रतिहार वंशोऽयम्'। ओसियां के जैन लेख[२] में भी यह भाव मिलता है।

विष्णु के वराह स्वरूप को पर्याप्त महत्व प्राप्त था, यथा-भतृपट्ट II के लेख की १० वीं पंक्ति में वराह नामक व्यक्ति द्वारा आदिवराह की मूर्ति के निर्माण का उल्लेख हुआ है "...... तु सनंदकेना दिवराह नाम्ना स्वकीय नोम्नादि ... स्वकारि।' इसी अभिलेख की ११ वीं पंक्ति में 'आदिकोल' शब्द का प्रयोग हुआ है जो कि आदिवराह का ही पर्यायवाची है जैसा कि—'स्थिर मदिर ... लस्य' कन्दर्पस्येव देहः सकलजन मनोहारि विस्त्रा ...' इस लेख में ... का मन्दिर बनवाया जाने का उल्लेख है। सारणेश्वर मंदिर के संवत १००८-१०१० के लेख[३] द्वारा भी यह ज्ञात होता है कि 'अग्रह' द्वारा देवालय का निर्माण हुआ तथा गुहिल नरेश अल्लट के राज्यकाल संवत १०१० में

---

१ श्री रत्नचन्द्र अग्रवाल, राजस्थान में कृष्णभक्ति प्रदर्शन, शोध पत्रिका भाग-५, अंक, ४, १९५४, पृ० ३

२ पूर्णचन्द नाहड़, जैन लेख संग्रह, भाग २, कलकत्ता, पृ० १९३

३ इं० ए०, वर्ष ५८, पृ० १६१-६२, पं० ५

के अन्दर विष्णु के वराहावतार की प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई—'हरिरिह निवेशितोय ... वराहेण तथा ... केव... मदल्लटः।' ... गई है।

राजस्थान में सूर्य पूजा की परम्परा अति प्राचीन है।[१]

राजस्थान में पूर्व मध्ययुग से सूर्य मन्दिर तथा प्रतिमायें प्राप्त होने लगती हैं।[२] चंड[म]हासेन (चाह्मान) के वि० सं० ८९८ के अभिलेख में उल्लेख है कि उन्होंने धवलपुरी के गह[न] वन में सूर्य मन्दिर बनवाया।[३] वि० सं० ९९९ में प्रतापगढ से सात मील दूर स्थित घो[ट]र्षिका स्थान में चौहान महासामन्त इन्द्रराज ने अपने नाम पर इन्द्रादित्य देव नामक सूर्य मन्दिर बनवाया।[४] उदयपुर सं. में सुरक्षित आहाड़ के लेख[५] में वर्णित है कि शक्तिकुमार नामक गुहिल नृपति के शासनकाल में सूर्य भगवान हेतु १४ द्रम्मो का दान दिया गया था, यथा— 'चतुदशापित पनायस्मै प्रदत्ता इति श्रुत्वा तेन महीभृता स्ववचनेनैते स्वदत्ताः कृताः'। यद्यपि १० वीं शती ई० का कोई सूर्य मन्दिर तो यहां विद्यमान नहीं है फिर भी उस समय की बनी विशाल सूर्य प्रतिमा मिली है जो संभवतः उस मन्दिर के गर्भग्रह में पूजार्थ रही होगी। अब आहाड़ संग्रहालय में सुरक्षित है।

(क्रमशः)

---

१ आर० जी० भंडारकर, वैष्णविज्म, शैविज्म एन्ड अदर माइनर रिलिजियस सिस्टम्स, पृ० ...१; एज आव इम्पीरियल यूनिटी, पृ० ४६५-६६; क्लासिकल एज पृ० ४३७

२ श्री रत्नचन्द्र अग्रवाल, राजस्थान ... प्रतिमायें तथा कतिपय सूर्यमन्दिर, शोध पत्रिका, भाग ७, अंक २–३, पृ० १–१९

३ हुल्श, जेड० डी० एम० जी०, भाग ३०, पृ० ३८; डा० दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० १८ तथा २३५

४ गौ० ही० ओझा, प्रतापगढ राज्य का इतिहास, पृ० २१–२२; ओझा निबंध संग्रह, भाग–४, पृ० १–२१; ए० इ०, भाग–१४, पृ० १६०

५ एच, सी० रे, डाइनेस्टिक हिस्ट्री आव नार्दन इंडिया, २, कलकत्ता, १९३६, पृ० ११७३; गौ० ही० ओझा, राजपूताने का इतिहास १, १९२७, पृ० ४३४

शाह तुराब अली चिश्ती

[दक्षिण भारत का सूफी साहित्यकार]

● डॉ० इक़बाल अहमद

भक्ति आन्दोलन का जन्म धर्मान्धता और सामाजिक अन्याय के विरोध में हुआ। भक्ति आन्दोलन ने जीव और ब्रह्म में अभेद की स्थापना कर मानव–मानव की समानता और मानव मात्र के गौरव का स्वर बुलन्द किया। इतना ही नहीं इसने धर्म को किसी विशेष वर्ग की सम्पत्ति न मानकर उसे सभी की सम्पति स्वीकार किया। शंकराचार्य के पश्चात् रामानुजाचार्य ने मानव मात्र को भक्ति का अधिकारी घोषित कर उसे जन सामान्य तक पहुँचाया जिसे कालान्तर में कबीर, तुलसी, मीरा बाई, नानक, नामदेव, तुकाराम, एकनाथ एवं रामदास आदि ने अपनाया। इन सन्तों ने अपने विचारों को जन साधारण तक पहुँचाने के लिए साहित्य को माध्यम बनाया। उसी समय दूसरी ओर इस्लामी धर्म प्रभावित सूफी साधक धर्म, समाज एवं संस्कृति आदि के सम्बन्ध में अपने विचारों का प्रचार कर रहे थे। उत्तर भारत के समाज एवं संस्कृति पर सूफियों का प्रभाव अत्यधिक रहा है जो अभी भी विद्यमान है। उत्तर भारत का हिन्दी–सूफी साहित्य अत्यधिक समृद्ध है। इनमें प्रमुख साहित्यकार हैं— शेख फरीद चिश्ती, अमीर खुसरो, अब्दुल कुद्दूस गंगोही, मौलाना दाऊद, कुतुबन, जायसी, मंझन, उसमान शेखनबी, कविजान, का[illegible]र नूर मुहम्मद आदि। किन्तु दक्षिण भारत भी जिस प्रकार से भक्ति आन्दोलन से प्रभावित रहा है उसी प्रकार से सूफी आन्दोलन से भी रहा है। दक्षिण भा[illegible] जनसाधारण में साहित्य द्वारा अपने विचारों का प्रचार करने वाले प्रमुख सूफी साधक इस प्रकार हैं— ख्वाजा बन्दे नवाज, मीरांजी शमसुलउश्शाक, शाह बुरहानुद्दीन जानम, निज़ामी, नुसरती, वजही, गवासी, इब्ने निशाती सनअती, अमीनुद्दीन आला और शाह तुराब आदि। अतः हम यह कह सकते हैं कि उत्तरी भारत की भांति दक्षिण भारत में भी सदियों से सूफी सन्तों के आध्यात्मिक संदेश गूजते रहे हैं। इन्होंने सत्य के अमर गीत गाये और प्रेम की ज्योति को जगमगाया इन सूफी सन्तों ने अपने उपदेशों को जन-जन में पहुँचाने के लिए दूर देशों की यात्राएं की इन्हीं में से एक भ्रमणशील सूफी साधक 'शाह तुराब' भी थे जिन्होंने धर्म प्रचारार्थ मद्रास, तंजौर और कर्नाकट आदि स्थानों की यात्राएं कीं।

शाह तुराब का मूलनाम क्या था ! अभी तक कोई निश्चित सूचना प्राप्त नहीं है, किन्तु अधिकांश विद्वान् इन्हें 'शाह तुराब अली' ही कहते हैं। इनके सम्बन्ध में वाह्य

[illegible] सूचना नहीं [illegible] है। केवल अन्तर्साक्ष्य से जो सामग्री मिल जाती है उसी पर शोधार्थी को सन्तोष करना पड़ता है। इनके काव्यों की हस्तलिखित प्रतियों का अवलोकन करने से कई नाम सामने आते हैं— इनमें कहीं शाह तुराब,[१] कहीं तुराब[२] कहीं तुराब अली शाह[3] और कहीं तुराब दखनी[४] आदि नाम मिलते हैं। शाह शब्द का जो प्रयोग है वह तो सूफियों के नाम के साथ अक्सर लगाया जाता रहा है और जो दखनी शब्द आया है वह तो दक्षिण भारत के निवासी होने के कारण आया होगा। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि इनका वास्तविक नाम 'तुराब अली' रहा होगा। इन्होंने कविता में तुराब अथवा तुराबी का प्रयोग किया है।

शाह तुराब का जन्म कब और कहां हुआ इसके सम्बन्ध में भी कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता है। अन्तः साक्ष्यों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि इनका जन्म हिजरी सन् ११ वीं शताब्दी के अन्त में अथवा १२ वीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ होगा। इस अनुमान का एकमात्र आधार यह है कि इनकी रचना 'ग्यान सरूप' की हस्तलिखित प्रति में लिपिक ने ११२१ हिजरी लिखा है। किन्तु मूल प्रति इससे अवश्य कुछ पहले तैयार की गयी होगी। यदि हम इसे ही रचना-तिथि स्वीकार कर लेते हैं तो शाह तुराब ने जिस समय इसकी रचना की, उस समय स्वयं को 'बालक' कहा है—

> ग्यान सरूप बोला हूं, सब मोती उसमें रोला हूं।
> ज्यूं कंकर चावल ढोला हूं, हौर भेद अभेद सब खोला हूं।
> फिर बालक बाला भोला हूं, गुन पुस्तक जिव के तोला हूं।

'ग्यान सरूप' के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसी विद्वत्तापूर्ण पुस्तक बीस वर्ष की आयु [illegible] ही लिखना अत्यधिक कठिन है।

शाह तुराब का [illegible] एक सूफी सन्त परिवार में हुआ।[५] किन्तु यह कहना कठिन है कि किस स्थल पर हुआ। [illegible] साक्ष्यों से यह पता चलता है कि इनका निवास स्थान

---

१ गंजुल असरार–स्टेट लायब्रेरी, हैदराबाद

२ मन समझावन–जामा मस्जिद पुस्तकालय, बम्बई।

३ (अ) गंजुल असरार–सालार जंग लायब्रेरी, हैदराबाद

(ब) जहूरे कुल्ली–परिचयात्मक पंक्तियों में लिखा है–'ई किताब जहूरे–कुल्ली अस्त तसनीफ़–ए–हजरत तुराब अली शाह सद्दस अल्लाह–ए–सिर्रहू' सालार जंग लायब्रेरी, हैदराबाद।

४ गुलजार–ए–वहदत–स्टेट लायब्रेरी, हैदराबाद।

५ जद्दो–आबा सूफ़िया मेरे हैं सब, थी मुहब्बत पाक़ ओ अज फजले रब।

(जहूरे कुल्ली)

मद्रास का तिरनामल नामक स्थान था[१] और शाह तुराब ने वहाँ के प्रसिद्ध मंदिर एवं प्रसिद्ध मूर्ति अरनाजल का उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है।[२] इनकी तकिया भी तिरनामल ही में थी।[३]

शाह तुराब ने अपने पिता का नाम अब्दुल लतीफ बताया है जो अपने समय के प्रसिद्ध दाता, सहृदय और आध्यात्मवादी व्यक्ति थे। अपने परिवार के बच्चों को बाप दादा की महान परम्परा पर चलने की प्रेरणा देते हुए कहा है—

पिदर मेरा मशहूर ज्यूं आफताब,
ओ अब्दुल लतीफ खाने आली जनाब।
अमीर-ए-करम-बख्श इब्न-ए करीब,
सखी यो जवाँमर्द रोशन जमीर।

'आइन-ए-कसरत' नामक काव्य से विदित होता है कि इनके पिता 'सब्जवार' के निवासी थे जो ईरान में है और धार्मिक विश्वास के आधार पर वे 'नुसैरी' थे।[१] इन्होंने अपने एक भाई का उल्लेख किया है जो इनसे छोटा था। भाई का नाम इन्होंने मुहम्मद बताया है और उसके नाम के पहले मिर्ज़ा शब्द का भी प्रयोग किया है।[२] इससे अनुमान लगाया जाता हे कि सम्भवतः ये मुग़ल थे। हज़रत शाह तुराब ने अपनी सन्तानों का उल्लेख करते हुए एक पुत्र एवं एक पुत्री का उल्लेख किया है। पुत्र का नाम मुर्तजा था किन्तु उसके अद्वितीय गुणों से प्रभावित होकर उसे फ़रीद (अनुपम) के नाम से पुकारने

---

१ है तिरनामल में मेरा मुकाम, अरनाजल है कठिन असनान।
(ग्यान सरूप)
इदारा-ए-अदबियात उर्दू, हैदराबाद

२ ये याराँ तुरफा सुनो नकल, है अरकाटक में तिरनामल।
पन मशूर है जिसका देवल, हौर देवल का देव अरनाजल।
(ग्यान सरूप)

३ है तकिया जो कि तिरनामल में मेरा, वहां याए किये सब अपना फेरा।
(गंजुल असरार)

४ नुसैरी देखो सब्जवारी थे ओ, बदरदे हुसेन अश्कजारी थे ओ।
न मजहब न मिल्लत सूं रखता था काम, था मशगूल दर-यादे-हक़ सुबह शाम।

५ था विरादर खुर्द मेरे प्यार का, हो गया है है वफ़ात उस यार का।
फ़ाल का मिर्ज़ा मुहम्मद नाम अथा, मिस्ले-रुस्तम साहबे समसाम अथा।

लगे ।[१] इनकी पुत्री का नाम फखरुनिसां था जिसकी चर्चा 'श्राइन-ए-कसरत' में की गई है ।

शाह तुराब के आध्यात्मिक गुरु पीर बादशाह हुसेनी थे जो चिश्ती परम्परा में उस समय विद्यमान सिलसिले की कड़ी माने जाते थे । इनकी चर्चा शाह तुराब ने 'ग्यान सरूप' में बड़ी श्रद्धा से की है—

पीर बादशाह साहवे बड़े वली, दादा जिनके अमी अली ।
ज्यूँ खुशबू फूल की गली गली, यूँ मशहूर है वह गली गली ।
सब तन की कीली वहां खुली, अब भी ज़िक्र है खफी जली ।
जो पीर हुसेनी प्यारा है ।
है तुराब उस बलहारा है ।।

पीर बादशाह हुसेनी फारसी और अरबी के अधिकारी विद्वान् थे । इनकी गणना अच्छे कवियों में की जाती थी । इनका दीवान 'दीवान-ए-हुसेनी' के नाम से मिलता है । अपने समय के प्रसिद्ध गज़ल रचयिता स्वीकार किये जाते थे ।

जैसाकि हम पहले लिख चुके हैं कि इनका परिवार सूफी विचारधारा से प्रभावित था और उसी वातावरण में इनको शिक्षा–दीक्षा हुई । ये ज्योतिष (इल्म–ए–रमल) रहस्यवाद (तसव्वुफ), हकीकी, खगोल, तर्कशास्त्र, दर्शन और नक्षत्र आदि विद्याओं के प्रकांड पंडित थे । इसके अतिरिक्त शाह तुराब अदृष्ट–द्रष्टा भी थे । इस सम्बन्ध में 'मंजुल असरार' और 'जहूरे कुल्ली' दृष्टव्य हैं । इन्हें फारसी और अरबी पर पूर्ण अधिकार था । इसके अतिरिक्त मराठी और संस्कृत का भी अच्छा ज्ञान था ।

कहा जाता है कि इनके भविष्य–कथन से इनके पीर (गुरु) पीर बादशाह हुसेनी इतना प्रसन्न थे कि उन्होंने इन्हें 'गंजुल असरार' (रहस्य–कोष) की उपाधि से विभूषित किया था—

रोजे जुमा माहे रज्जब वक्ते शाम, दी खिलाफत 'मंजुल असरार' बख्शे नाम ।
मी तखल्लुस होर मुलक्किब है 'तुराब', गंजुल असरार शाह फरमाए खिताब ।

इतना ही नहीं, पीर बादशाह हुसेनी इनसे इतना प्रसन्न थे कि उन्होंने इन्हें ११५० हिजरी में अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया । इस घटना को शाह तुराब ने इस प्रकार लिखा है—

---

१ है गुलामे मुर्तजा मारूफ़ नाम, मैं फरीदोद्दी कहा हूं बद कलाम ।

हजरते पीर पाशा आली जनाब, एक दिन कलवत मने ओ आफ़ताब।
इस गुलामें कमतरी के तइं बुलाए, सर सूं ता पुश्त ओ यदे कुदरत फिराये।
मी कहे तू सच मेरा फरज़न्द है, आकिलो हुशियारी दानिशमन्द है।
तुमको करता हूं खलीफ़ा अब मेरा, मारिफ में कोई नई सानी तेरा।

× × × ×

ओ वलाये अस्त्र मुर्शिद नामदार, दर सने पंचदह व यकसद यक हज़ार।
रोज़ो जुमा माहे रज्जब वख्ते शाम, दी खिलाफ़त मंजुल असरार बख्शे नाम।

११५० हिजरी ही में पीर बादशाह हुसेनी ने इन्हें धर्म प्रचारार्थ कर्नाटक जाने का आदेश दिया। गुरु से विदा लेते समय इन्हें बहुत दुख हुआ और दुखी होकर गुरु के चरणों पर सिर रखकर प्रार्थना की कि मुझे इन चरणों से दूर न कीजिए। गुरु ने सान्त्वना देते हुए कहा कि प्रेमी यदि दूर भी रहे तो भी उनके हृदय प्रेम की डोर में बंधे रहते हैं।[1]

शाह तुराब तिरनामल से कर्नाटक चले गये किन्तु इन्होंने अपनी यात्रा यहां पर ही समाप्त नहीं की प्रत्युत कर्नाटक के विभिन्न स्थानों का भ्रमण करते हुए अन्त में तंजोर पहुंचे और वहां पर अपनी आध्यात्मिक शिक्षाओं का प्रचार किया। यहाँ पर इन्होंने समर्थ गुरु रामदास से भेंट की तथा उनकी रचना 'मनाचे श्लोक' के आधार पर 'मन समझावन' नामक काव्य की रचना की। इस काव्य में शाह तुराब ने अपने प्रवास का बार बार उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि इन्होंने ११५० हिजरी में यात्रा आरम्भ की थी और ११७१ हिजरी अर्थात् २१ वर्ष धर्म-प्रचारार्थ यात्राएं की। एक स्थल पर लिखा है:—

जो बांदा लंगोटा लगा खाक तन कूं, दिया छोड़ एक बार हुब्बुल वतम कूं।
जला इश्क की वाट में मालोधन कूँ, रखे पास ना कास हरगिज कफन कूँ।

शाह तुराब ने अपनी रचना 'जहूरे कुल्ली' में फ्रांसीसियों द्वारा तिरनामल पर आक्रमण का उल्लेख किया है। इस आक्रमण के कारण शाह तुराब को बहुत कष्ट उठाना पड़ा क्योंकि तिरनामल के आसपास छोटे-छोटे स्थानों पर फ्रेंच सेना ने आक्रमण किया। उस समय शाह तुराब तिरनामल को छोड़कर बाल बच्चों के साथ जंगल में चले गये और जब उन्हें सूचना मिली कि तिरनामल में शांति हो गयी है तो फिर वह तिरनामल आये।

---

१ तब किया सजदा कि ऐ आली जनाब, क्यूं जुदा करता है मुजको अज्ज रिक़ाब
... .
फिर अये फरमाये क्या वसवास है, तू बज़ाहर दूर दिल यूं पास है।

किन्तु शाह तुराब को तिरनामल का वातावरण अच्छा नहीं लगता था। अतः इन्होंने लोगों से मिलना जुलना बन्द कर दिया और अपने पुत्र गुलाम मुर्तज़ा को तकिया और घर का प्रबन्ध सौंप कर स्वयं एकान्त सेवी बन गये—

कर गुलामे मुर्तज़ा को तकियादार।
गोशये तनहाई कीता अख्तियार॥

शाह तुराब स्वतन्त्र विचार के व्यक्ति थे और इनको विभिन्न धर्म के विद्वानों साधुओं एवं सन्तों से मिलने में तनिक भी हिचकिचाहट न थी। इन्होंने स्वयं लिखा है कि मुझे सदैव से विद्वानों और सन्तों के सांनिध्य में रहने की रुचि थी—

दकन में मुल्के कर्नाटक को रोशन, किए हौर वांच फरमाए ओ मस्कन।
बुजुर्गां की मुझे सोहवत सूं था ज़ौक हमेशा उनकी सोहबत का रहा ज़ौक़।

शाह तुराब का सम्बन्ध इस्लाम धर्म की 'सुन्नी' शाखा से था इन्होंने अपने काव्यों में समय समय पर खलीफाओं की प्रशंसा की है। 'गंजुल असरार' में खलीफाओं की प्रशंसा प्रकार की है—

अजब थे ओ नबी के चार यारां, है कायम जिन सूं सारा जिस्मे इन्सा।
सुतूने दिन उन चारो को जानो, जहूरे कायनात–ए–हक़ पछानो।

नहीं कुछ इख्तलाफ इन चार में है, मुहब्बत रोज़ो शब हर यार में हैं।

इतना ही नहीं, इन्होंने अपनी रचनाओं में 'अहले बैते अथार' (हज़रत मुहम्मद साहब के वंश वाले) से भी प्रेम प्रदर्शित किया है—

ज़र्रे ज़र्रे में जहूरे पांच हैं, देख लेवो सांच को क्या आंच है।

सूफी साधक शाह तुराब विशाल दृष्टिकोण के व्यक्ति थे। इनमें संकीर्णता और धर्मान्धता का अंश नाम मात्र के लिए भी न था। वे किसी धर्म से घृणा नहीं करते थे। इनकी दृष्टि में समस्त मानव जाति समान है, न कोई उच्च है और न ही कोई नीच। इन्होंने अपने मत को समय समय पर स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है और कहा है कि संसार में मनुष्य ने 'प्रेम धर्म' को विभिन्न नाम देकर विभक्त एवं सीमित कर दिया है। अन्यथा समस्त मानव एक ही विश्वकर्ता की कृतियां हैं। इस प्रकार सभी लोग एक ही ब्रह्म के उपासक हैं। सूफी साधक होने के नाते इन्होंने सांसारिक रीति रिवाजों की चिन्ता किए बिना कहा है।

मज़हबी मिल्लत सती बेकैद हूं,
दामें ज़ुल्फे महजबी का सैद हूं।

शोध सामग्री : सर्वेक्षण

चित्तौड़ दुर्ग में प्रतिहार कालीन देव मन्दिरों के अवशेष

● फणीलाल चक्रवर्ती
एवं
● रामवल्लभ सोमानी

चित्तौड़ दुर्ग का सौन्दर्यकरण तीन बार विशेष रूप से किये जाने की संपुष्टि होती है (१) ८–९ वीं शताब्दी में (२) १३ वीं शताब्दी में और (३) १५-१६ वीं शताब्दी में ! ९ वीं शताब्दी में यहां प्रतिहारों के राज्य होने की संपुष्टि यहां से प्राप्त शिलालेखों से हो चुकी है। (मौर्य राजा) इसके पूर्व यहां मौर्य का राज्य था। मान भंग का सं० ७७० का शिलालेख शंकरघटा नामक स्थान से मिला है। जिसे श्री रत्नचन्द्र अग्रवाल ने सम्पादित किया है और दुर्ग के प्राचीन दो देवभवन सूर्य मंदिर और कुम्भश्याम पर भी उन्होंने विद्वत्ता पूर्ण लेख प्रकाशित किया है। इस प्रकार प्रतिहारों के अधिकार करने से पूर्व चित्तौड़ श्री सम्पन्न था। मौर्यों का राज्य सम्भवतः अरब आक्रमणकारी जुनैद के आक्रमण के कारण नष्ट हुआ था, जिसकी पुष्टि नवसारी के अवनिजनाश्रय के लेख ७३९ A.D. में है। बापा रावल ने इस स्थिति का लाभ उठाया और कुछ काल के लिये चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया। कर्नल टॉड को चित्तौड़ से वि० सं० ८११ का लेख कुकडेश्वर नामक राजा का मिला है। इसे प्रतिहारवंशी कुकुत्स्थ से भी जोड सकते हैं क्योंकि नागभट्ट का अधिकार उज्जैन तक था। शीघ्र ही चित्तौड़ दुर्ग को राष्ट्रकूट राजा गोविन्द तृतीय ने अधिकृत कर लिया और कुछ समय धरणी वराह नामक एक शासक चित्तौड़ में रहा था। प्रतिहार राजा नागभट्ट द्वितीय या भोज ने इसे हस्तगत कर लिया। भोज प्रतिहार का एक शिलालेख चित्तौड़ से मिला है जिसमें उसके करणिक द्वारा यहां पाठशाला स्थापित करने का उल्लेख है। इससे निश्चित है कि उस समय यहां प्रतिहारों का अधिकार हो चुका था। सम्भवतः अल्लट के समय तक यह क्षेत्र प्रतिहारों के प्रभाव से पूर्णरूप से मुक्त नहीं हो सका था। यद्यपि देवली

और करहाड़ के लेखों में कृष्णराज तृतीय राष्ट्रकूट के लेख में चित्तौड़ दुर्ग को प्रतिहारों से जीतने का उल्लेख है। किन्तु मेवाड़ के आसपास का अन्य क्षेत्र प्रतिहारों से मुक्त नहीं हुआ था। प्रतापगढ के वि० सं० १००३ के लेख में प्रतिहार राजा महेन्द्रपाल द्वितीय का उल्लेख है। अल्लट द्वारा प्रतिहार राजा देवपाल को मारने का उल्लेख भी आहाड़ में एक शिलालेख से मिलता है। इस प्रकार इस सारे वर्णन से स्पष्ट है कि चित्तौड़ क्षेत्र प्रतिहारों के प्रभाव में रहा था।

चित्तौड़ में प्रतिहार देव भवनों में सूर्य मन्दिर और कुम्भश्याम मंदिर को भी सम्मिलित कर सकते हैं। ये दोनों भवन ८ वीं शताब्दी के नहीं होकर ९ वीं शताब्दी में रखे जाने चाहिए। इसके लिये झालरापाटन चंद्रावती के देवभवनों के समकक्ष प्राप्त देवालयों, जिनके अवशेष इस दुर्ग से भी मिले हैं, के बाद ही इन्हें रखना अधिक उचित होगा। अतएव हम विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करते हैं।

नीचे लिखे मंदिरों के अंश झालरापाटन चन्द्रावती मंदिरों की शैली में के यहां उपलब्ध हैं।

(१) गुप्तेश्वर मंदिर (२ गोमुख का मदिर

गुप्तेश्वर मंदिर वन विहार के ठीक सामने स्थित है, इसमें मुख्य मंदिर और इसके सामने एक छोटा सा सभागृह है। इस प्रकार मुख्य मंदिर और एक सभा मंडप है। सभामण्डप के स्तम्भ ठीक चन्द्रावती पाटन के शीतलेश्वर मंदिर से हूबहू मिलते हैं, जिन्हें हम ८ वीं शताब्दी के मानते हैं। इनके नीचे पूर्ण कुंभ, उसके ऊपर पत्र वल्लरी निकलती हुई और उसके ऊपर कीर्तिमुख बना है। कीर्तिमुख के मुख से निकलती हुई मोतियों की पंक्तियां दिखलाई पड़ती हैं। इसके ऊपर पूर्ण कुंभ अर्द्ध कमल आदि बने हैं। इस प्रकार यह मंदिर ८ वीं शताब्दी का है। यह स्थान भी निश्चित ही प्राचीन है और १५ वीं शताब्दी में फिर से इसके जीर्णोद्धार होने की पुष्टि होती है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण मन्दिर गोमुख के ठीक ऊपर है। इस मंदिर में मूल गर्भगृह है। और एक छोटा सभागृह है। यहां भी स्तम्भ ठीक ऊपर जैसा ही है। यह स्थान भी निश्चित ही प्राचीन है और इसका जीर्णोद्धार १५ वीं शताब्दी में हुआ प्रतीत होता है। इस प्रकार निश्चित है कि सूर्य मंदिर और कुम्भश्याम मंदिर बनने के पूर्व भी यहाँ चन्द्रावती पाटन के समान सुन्दर मदिर विद्यमान थे। इस प्रकार का एक स्तम्भ लाखोटा बारी के एक प्राचीन द्वार पर भी लगा हुआ है।

प्रतिहारकालीन मंदिरों के अवशेष, जिनकी ओर अभी विद्वानों का ध्यान नहीं गया है इस प्रकार है—

(१) समिद्धेश्वर मंदिर के सामने १ प्रतिहारकालीन देवालियां

(२) कीर्तिस्तम्भ के पीछे कुण्ड में लगी ५ प्रतिहार कालीन प्रतिमाएं एवं स्तम्भ .

(३) सूरजपोल द्वार के ठीक नीचे के द्वार पर प्रतिहार कालीन लकुलीश मंदिर की एक छोटी देवली

(४) गजलक्ष्मी अन्य छ प्रतिमाए।

समिद्धेश्वर मंदिर के ठीक सामने प्रतिहारकालीन देवलिया हाल ही में केन्द्रीय सरकार के द्वारा की गई सफाई के दौरान साफ की गई है। देवली नं० १ में गर्भगृह का अंश ही बचा है इसमें सामने के भाग में द्वारशाखा पर तीन तीन देव प्रतिमाएं अमृत कलश लिये आसनस्थ दिखाई गई हैं। इनके नीचे के भाग में स्थानक दो प्रतिमाएँ हैं। इसमें एक हाथ में अमृत कलश और दूसरा हाथ जंघा पर है। केशविन्यास और वाद्यों का अंकन ठीक प्रतिहार कालीन मूर्तियों के अनुरूप है। दूसरी शाखा में गंगा यमुना बनी है। मंडोवर भाग में प्रतिमाए इस प्रकार हैं—

उत्तर की ओर (१) शिव स्थानक त्रिशूल-सर्प, फूल और एक हाथ कमर पर है। नन्दी बना है।

(२) मध्य की ताक में आसनस्थ शिव एक हाथ में सर्प और एक हाथ में त्रिशूल है एक हाथ में अक्षमाला एक खण्डित। नन्दी पर अर्द्धपर्यङ्कासन मुद्रा पर आसीन वर्णित है। नीचे की ताक में कुवेर की मूर्ति है

(३) स्थानक देव परिचारक (?) एक हाथ में खट्वांग और एक हाथ जंघा पर

पीछे की ओर (१) दोनों ओर दिग्पाल इनमें एक वरुण

(२) मध्य में सूर्य की सुन्दर प्रतिमा आसनस्थ हाथों में कमल, घोड़ों का अंकन नहीं है नीचे की छोटी ताक में गणेश का अंकन है—

मध्य में दोनों ओर दिक्पाल इनमें से एक वायु अमृत कलश, कमल, सुश्वा, अक्षमाला और हंस बना है।

देवली सं० २

इसमें मंदिर के सामने वाला भाग ही अवशेष बचा है। इसमें से दोपट मूलरूप से विद्यमान हैं। इसमें अमृत कलश लिये स्थानक देव प्रतिमा बनी है। इसके ऊपर नृत्य मुद्रा में कई नारी आकृतियां बनी हैं। इनके कैश विन्यास का अंकन बहुत ही आकर्षक है।

देवली नं० ३

इ वल एक पट्ट ही अवशेष बचा है इसमें भी कुछ आकृतियां बनी हैं

कुण्ड की प्रतिमाएं

कुण्ड में तीन प्रतिमाएं निम्नांकित प्रतिहार शैली की है

(१) लक्ष्मीनारायण स्थानक १।। फी × १ फी.

(२) कमल पत्र ओढे नारी

(३) नरवराह

दो स्तम्भ जिनके नीचे नारी प्रतिमाएँ २१"×१०" साइज की हैं । दोनों स्थानक हैं। केश विन्यास अत्यन्त सुन्दर है और प्रतिहार शैली की अच्छी प्रतिमाएं हैं।

सूरजपोल की देवली

सूरजपोल के नीचे के द्वार २ सुन्दर स्तम्भों के अंश लगे हैं। इन स्तम्भों पर घट्टपल्लवों का अंकन है। पास ही एक छोटी सी लकुलीश देवली बनी है। यहां सम्भवतः लकुलीश मंदिर रहा होगा। क्योंकि यह उतरंग पट्ट पर लकुलीश की मूर्ति है और यह मेवाड़ का प्राचीनतम लकुलीश मंदिर होगा। स्मरण रहे कि कुम्भश्याम में आसनस्थ लकुलीश की प्रतिमा विद्यमान है। इस देवली के दोनों ओर पट्टो पर सुन्दर घट्ट वल्लरी आदि बने हैं। नीचे गंगा यमुना की प्रतिमाएं और अमृत कलश लिये पुरुष प्रतिमा बनी है इस प्रकार की लघु आकृति सूरजपोल साई दास के चबूतरे पर लगी हैं।

गजलक्ष्मी देवालय

यह प्रतिमा सिन्दूर से पुती हुई है। ४०"×३२" साइज की यह सुन्दर प्रतिमा है। यह चार हाथियों से सेवित दोनों और परिचारिकाएं दो स्थानक, और दो बैठी हुई हैं और दो आसन के नीचे हैं। प्रतिमा सुन्दर और प्रतिहार शैली की सुन्दर कृति है।

यह प्रतिमा अद्भुतजी के मंदिर के पास है इस प्रकार यह दुर्ग प्रतिहार काल में भी श्री सम्पन्न था। यह परम्परा गुप्त काल अथवा इसके उत्तरकाल से ही यहां बराबर रही प्रतीत होती है।[१]

---

१ छोटी सादड़ी के सं० ५४७ के शिलालेख में देवी मंदिर बनाने का उल्लेख है। नगरी से गुप्त कालीन अवशेष मिले हैं। वि सं० ४८१ के शिलालेख में 'भगवान्महापुरुष-पादाभ्यां - साद" उल्लेखित है। चित्तौड़ के छठी शताब्दी के शिलालेख में मनोहरस्वामी के मंदिर बनाने का उल्लेख है। इसी प्रकार वि. स. ७७० के २ लेख चित्तौड़ 'अर्थात् मानसरोवर तालाब और शंकर घट्टा से मिले हैं। इनमें भी निर्माण कार्य का उल्लेख है। इस प्रकार शिलालेखों के साक्ष्य से वहां पूर्व में भी निर्माण की पुष्टि होती है।

राजस्थान का रासो-साहित्य

[राजस्थान में उपलब्ध रास-कृतियों की व्यापक शोध पूर्ण तालिका]

● विजय कुल श्रेष्ठ

यहां हम राजस्थान में उपलब्ध रासकृतियों की सूची प्रस्तुत करते हैं जिनका लिखित स्वरूप प्राप्य है। इस दिशा में उल्लेख्य यह है कि अधिकांश रासकृतियां जैन उपासरों, जैन ग्रंथागारों में संग्रहीत हैं। कुछ रास कृतियां शोध प्रतिष्ठानों में अथवा कुछ वैयक्तिक संकलनों के रूप में भी उपलब्ध है। कुछ रास कृतियां मुद्रित रूप में पाठकों के समक्ष आ चुकी हैं। इन मुद्रित कृतियों के दो स्वरूप हैं- (i) पुस्तकाकार प्रकाशन (ii) पत्रिकाओं में प्रकाशित स्वरूप।

इसके अतिरिक्त कुछ हस्तलिखित रास कृतियां हैं जिनके संग्राहकों में राजस्थान का सिरमौर ग्रंथालय बीकानेर में स्थापित है। यह ग्रंथालय श्री अगरचंद नाहटा का व्यक्तिगत प्रयास है। श्री नाहटा ने हस्तलिखित अनेक रासो कृतियों का सम्पादन कर उन्हें प्रकाशित भी कराया है। राजस्थान में उपलब्ध रासो कृतियों के प्रकाशन और ज्ञापन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और अभी तक अनेक कृतियां बिना स्पर्श के मंदिरों, उपासरों के भण्डारों में कैद हैं: उनका अभी कोई पता तक नहीं। कहीं-कहीं इस दिशा में काम हुआ है। उपलब्ध कृतियों की सूची विक्रम सम्वत् शताव्दी के आधार पर यहां संकलित की गई है!

विक्रमी शताव्दी-क्रम से उपलब्ध रासो काव्यों की सूची निम्न प्रकार है—

१० वीं शताब्दी :

		सम्वत्	रचयिता
१	रिवुदारण रास	९६२	अज्ञात कवि

ग्यारहवीं शताब्दी :

		सम्वत्	रचयिता
२	राम रासो	१०४३	समय सुन्दर
३	विसलदे रो रास	१०७७	नाल्ह

बारहवीं शताब्दी :

		सम्वत्	रचयिता
४	मुंजरास	११५०	अज्ञात कवि
५	उपदेश रसायन रास	११७१	निजनदत्त सूरि
६	खुमाण रासो	११८०	दलपत (दौलत) विजय

७	बाहुबली रास	११८४	शालिभद्र सूरि
८	सनेहय रासय या सन्देश रासक	१२००	अब्दुर्रहमान (अहद्दमाण)

तेरहवीं शताब्दी

९	आबू रास या नेमिजिणंद रास	१२०९	पाल्हण
१०	बीसलदेव रास	१२१२	नरपति नाल्ह
११	भरतेश्वर बाहुबलि घोर	१२२५	वज्रसेन सूरि
१२	परमाल रासो	१२३०	जगनिक
१३	भरतेश्वर बाहुबाह्य रास	१२३१	जिनदत्त सूरि
		१२४१	शीलभद्र सूरि
१४	बुद्धिरास	१२४१	(i) शालिभद्र सूरि (ii) जिनदत्त सूरि
१५	कुमारपाल प्रतिबोध रास	१२४१	सोमप्रभ सूरि
१६	चंदनबाला रास	१२५७	आसगु
१७	सीयाहरण रासु	१२५७	,,
१८	सीयादेवि रासु	१२५७	,,
१९	जीवदया रास	१२५७	,,
२०	जम्बूस्वामी रास	१२६६	धर्म सूरि
२१	स्थूलिभद्र रास	१२६६	जिनधर्म सूरि
२२	नेमिनाथ रास	१२७०	सुमति गणि
२३	शान्तनाथ देवरास	१२७४	लक्ष्मीतिलक उपाध्याय
२४	रेवन्तगिरि रास	१२४८	विजयसेन सूरि
२५	आबूरास या नेमिरासो	१२८९	रामकवि
२६	नेमिरास	१२९५	सुमतिगणि
२७	पृथ्वीचंदकुमार रास	—	गुणसागर[1]
२८	अम्बूगिरि रास	—	अज्ञातकवि
२९	गयसुकुमाल रास	—	(i) जिनराज सूरि (ii) देल्हण[2]

---

१ क्र० सं० २७ से ३२ तक की काव्य-कृतियों का सही वर्ष उपलब्ध नहीं है। परन्तु इन्हें तेरहवीं शताब्दी (विक्रम) की रचनाएं माना जाता है।

२ गुप्त गणपति चंद्र (डॉ०) : हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास-मे इसे १२५० के लगभग की रचना मानते हैं जबकि श्री अगरचंद नाहटा के अनुसार १३०० के लगभग और डॉ० कृष्णचंद्र श्रोत्रिय के अनुसार यह सम्वत् १३२७ से पूर्व की रचना है।

३०	गुणसागर रास	—	अज्ञात कवि
३१	गुणावली रास	—	—
३२	गिरनार रास	—	—

चौदहवीं शताब्दी :

३३	महावीर रास	१३०७	अभय तिलक गणि
३४	शान्तनाथ देव रास	१३१२	अज्ञात कवि
३५	अन्तरंग रास	१३१६	जिनप्रभसूरि
३६	तीर्थमाला रास	१३२३	आनंद सूरि एवं प्रेमसूरि
३७	सप्तक्षेत्रिरास	१३२७	(i) जगड़ कवि (ii) चंद्रविनय
३८	जिनेश्वर सूरि दीक्षा विचार विपाक वर्णन रास	१३३१	अज्ञात कवि
३९	जिनेश्वर सूरि संयम श्री विवाह-वर्णन रास	१३३२	कवि सोममूर्ति
४०	शालिभद्र रास	१३३२	मुनि राजतिलक गणि
४१	गौतम रास	१३३३	विनय चंद्र
४२	बारहव्रत रास	१३३८	विनय चंद्र सूरि
४३	जिनचंद्र सूरि वर्णन रास	१३४१	श्रावक लक्खनसिंह
४४	विजयपाल रासो	१३५५	नल्ह
४५	गौतम स्वामी रास	१३५५	उदयदत्त
४६	हम्मीर रासो	१३५७	शार्गंधर
४७	बीस बिरहमन रास	१३६२	कबि वस्तिग[१]
४८	कच्छूली रास	१३६३	प्रज्ञाल्लिक सूरि
४९	पेथड़ रास	१३६३	मण्डलिक
५०	समरा रास	१३६३	अम्बदेव सूरि
५१	सघंपति समरा रासा	१३७१	अम्बदेव सूरि
५२	श्रावक विधि रास	१३७१	गुणाकर सूरि
५३	जिनकुशल सूरि पट्टाभिषेक रास	१३७७	मुनि धर्मकलश
५४	जिनपद्म सूरि " "	१३८८	सारमूर्ति
५५	जिनदत्त सूरि " "	१३८९	धर्मकलश
५६	नेमिनाथ बारहमासा रासो	—	पाल्हणु

१ अगरचंद नाहटा के अनुसार इस कृति का समय सम्वत् १३६८ है।

५७	स्थूलिभद्र रास	—	जिनपद्म सूरि
५८	मयनरेहा रास	—	रयणु
५९	वीसलदेव रास	—	नरपति नाल्ह
६०	पृथ्वीराज रासो	—	चंद

पन्द्रहवीं शताब्दी :

६१	क्षेत्रप्रकाश रास	१४१०	जयानंद सूरि
६२	पचपडव रास	१४१०	शालिभद्र सूरि
६३	पंचपंडव चरितरास	१४१०	शालिभद्र सूरि
६४	कमलावती रास	१४११	विजयभद्र सूरि
६५	कलावती रास	१४११	,, ,,
६६	गौतम रास	१४१२	विनयप्रभ उपाध्याय
६७	गौतमस्वामी रास	१४१२	विनयप्रभ उपाध्याय
६८	त्रिविक्रम रास	१४१२	जिनोदय यूरि
६९	जिनोदय सूरि पट्टाभिषेक रास	१४१५	ज्ञान कलश
७०	शिवरत्त रास	१४२३	सिद्धसूरि जैन
७१	मयनरेहा रास	१४२५	जिनप्रभ सूरि
७२	हमीर रासो	१४२५	जज्जल कवि
७३	कलिकाल रास	१४२६	(i) हीरानंद सूरि[१] (ii) शालि सूरि
७४	कलिकाल स्वरूप रास	१४३०	हीरानंद सूरि
७५	कुमारपाल रास	१४३५	देवप्रभ गणि
७६	आराधना रास	१४५०	सोमसुन्दर सूरि
७७	देवसुन्दर सूरि रास	१४५५	कवि चांप
७८	शालिभद्र रास	१४५५	साधु हंस
७९	शान्तरस रास	१४५५	मुनि सुन्दर जैन
८०	हस शालिभद्र रास	१४५५	हंस कवि
८१	हमीर रासो	१४६०	नयचंद सूरि
८२	परदेशी राजा नो रास	१४७२	सहज सुन्दर
८३	जिनभद्र सूरि पट्टाभिषेक रास	१४७५	समयप्रभ गणि

---

१ डॉ० ब्रजमोहन जावलिया (मेवाड़ का जैन साहित्य : मझमिका १९७१, पृष्ठ १३६) ने इसको सम्वत् १४८६ की रचना बतलाया है।

८४	बस्तुपाल तेजपाल रास	१४८४	(i) शालि सूरि (ii) हीरानद सूरि (iii) पार्श्वचंद्र सूरि
८५	विद्याविलास रास	१४८५	हीरानंद सूरि
८६	वेग्ररस्वामी गुरु रास	१४८६	जयसागर उपाध्याय
८७	वेग्ररस्वामी रास	१४८६	" "
८८	सागरदत्त रास	१४९३	शांति सूरि
८९	दशार्णभद्र रास	१४९५	(i) शालि सूरि (ii) हीरानन्द सूरि
९०	सिद्धचक्र श्रीपति रास	१४९८	माण्डण कवि
९१	गौतम रास	१४९८	(i) जयसागर उपाध्याय (ii) विजयचंद (iii) विनयचंद
९२	विक्रमचरित कुमार रास	१४९९	साधु कीर्ति
९३	सोलह कारण रास	१४९९	(i) सकलकीर्ति (ii) चंद्रकीर्ति
९४	प्रसन्नचंद्र राजर्षि रास	—	सहज सुन्दर[१]
९५	चूनड़ी रास	—	विनय चंद्र
९६	जोग रास	—	अज्ञात कवि
९७	ईरियावली रास	—	सहजसुन्दर
९८	रोहिणीय चोर प्रवन्ध रास	—	मुनि सुन्दर सूरि
९९	समाधि रास	—	मुनि चरितसेन
१००	नेमिनाथ रास	—	मुनि कुमुदचन्द्र
१०१	रोहिणिया चोर रास	—	देपाल
१०२	सहस पदी रास	—	नरसी मेहता

सोलहवीं शताब्दी

१०३	सुदर्शन श्रेष्ठि रास	१५०१	मुनि सुन्दर सूरि
१०४	राम सीता रास	१५०८	(i) ब्रह्मजिनदास (ii) गुणकीर्ति

---

१ क्र० सं० ९४ से आगे उल्लेखित कृतियों के रचनाकाल निर्दिष्ट रूप में उपलब्ध नहीं हैं।

१०५	रामराज्य रास	१५०८	ब्रह्मजिनदास
१०६	नल दवदंती रास (नलराज चउपई)	१५१२	ऋषिवर्धन सूरि
१०७	धन्नारास	१५१४	मतिशेखर वाचक
१०८	नागश्री रास	१५१६	ब्रह्मजिनदास
१०९	यशोधरे रास	१५३६	(i) ब्रह्मजिनदास (ii) सोमकीर्ति
११०	करकण्डु रास	१५३७	(i) ब्रह्मजिनदास (ii) मतिशेखर वाचक
१११	मयनरेहा रास	१५३७	मतिशेखर वाचक
११२	मयनरेहा सती रास	१५३७	" "
११३	नल दवदन्ती रास	१५३९	(i) महीराज (ii) चम्प कवि
११४	नेमिनाथ रास	१५५८	जिनसेन
११५	कुमारपाल रास	१५५९	(i) गुरु ऋषभदास[1] (ii) बल्लरगणि
११६	विक्रमरास	१५६५	धर्मसिंह
११७	विक्रमसेनरास	१५६५	उदयभानु
११८	सुदर्शन रास	१५६७	धर्मसमुद्र गणि
११९	शकुन्तला रास	१५६७	"
१२०	सुमित्रकुमार रास	१५६७	"
१२१	वस्तुपाल तेजपाल रास	१५६७	पार्श्वचंद्र सूरि[2]
१२२	विमल मन्त्री रास	१५६८	लावण्य समय गणि
१२३	रत्नचूड़को रास	१५७१	अज्ञात कवि
१२४	ऋषिदत्त रास	१५७२	(i) सहजसुन्दर (ii) जयवन्त सूरि
१२५	जम्बू अन्तरंग रास	१५७२	सहजसुन्दर

१ डॉ० टीकमसिंह तोमर (हिन्दी वीर काव्य) इस कृति का रचना-काल १५५६ विक्रम बतलाते हैं ।

२ डॉ० ब्रजमोहन जावलिया के अनुसार पार्श्वचंद्र सूरि (१५३७–१५९९) की अवधि में हुऐ हैं।

१२६	श्रावकाचार रास	१५७४	प्रतापकीर्ति
१२७	विक्रमादित्य चरित्र रास	१५८०	—
१२८	आत्मराज रास	१५८३	सहजसुन्दर
१२९	विक्रम प्रबन्ध रास	१५८३	विनयसुमुद्र
१३०	इलापुत्र रास	१५८३	,, ,,
१३१	कुलध्वज कुमार रास	१५८४	धर्मसमुद्र गणि
१३२	विजयकुंवर रास	१५९०	रिसलाल चंद्र
१३३	राउ जैतसी रौ रासो	१५९५	अज्ञातकवि[१]
१३४	रास कैलाश	१५९५	ईशरदास बारहठ
१३५	तैतली मंत्री रास	१५९५	सहजसुन्दर
१३६	श्रीपाल रास	१५९६	(i) विनयविजय (ii) ब्रह्मजिनदास (iii) ब्रह्मरायमल्ल
१३७	रतनकुमार रास	—	सहजसुन्दर[२]
१३८	शुकसहेली कथा रास	—	,, ,,
१३९	रात्रिभोजन रास	—	धर्मसमुद्र गणि
१४०	राम रासा	—	कृष्णभक्त[३]
१४१	रुक्मिणी रास	—	नंदि नदलाल
१४२	जावड़ भावड़ रास	—	देपाल
१४३	पार्श्वमाथरी राउला रास	—	,,
१४४	श्रेणिक राजा नो रास	—	,,
१४५	जल गालणरास	—	ज्ञानभूषण
१४६	नागद्रा रास	—	,,
१४७	षट्कर्म रास	—	बिनयचंद्र मुनि
१४८	कल्याणक रास	—	,,
१४९	पंचकल्याणक रास	—	,,
१५०	पृथ्वीराज रासो	—	चंद

१ डॉ० दशरथ ओझा के अनुसार इसका रचना-काल १५८७ विक्रम तथा डॉ० माता-प्रसाद गुप्त के अनुसार १५०३–१५१८ वि० के मध्य है।

२ क० सं० १३७ से आगे कृतियों का रचना-काल उपलब्ध नहीं होता है।

३ डॉ० कृष्णकुमार शर्मा इसे १८ वीं विक्रम की रचना मानते हैं।

१५१	शत्रुंजय रासो	—	जिनहर्ष गणि
१५२	शीलश्री रास	—	—
१५३	सुकुमाल स्वामी को रास	—	ब्रह्मधर्मरुचि
१५४	अभयकुमार श्रेणिक रास	—	मुनिसुन्दर सूरि
१५५	अजितनाथ रास	—	ब्रह्मजिनदास
१५६	अनन्तव्रत रास	—	"
१५७	अणवीस मूल गुण रास	—	"
१५८	अम्बिका रास	—	"
१५९	रोहिणी रास	—	"
१६०	ज्येष्ठ जिनवर रास	—	"
१६१	जीवन्धर रास	—	"
१६२	दसलक्षणा रास	—	"
१६३	धन्यकुमार रास	—	"
१६४	धनपाल कथा रास	—	"
१६५	धर्मपरीक्षा रास	—	"
१६६	नेमिश्वर रास	—	"
१६७	पुष्पंजलि रास	—	ब्रह्मजिनदास
१६८	परमहंस रास	—	" "
१६९	प्रद्युम्न रास	—	" "
१७०	बंकचूल रास	—	" "
१७१	भविष्यदत्त रास	—	" "
१७२	भद्रबाहु रास	—	" "
१७३	श्रेणिक रास	—	" "
१७४	समकित रास	—	" "
१७५	समकित मिथ्या तत्व रास	—	" "
१७६	सुकौशल स्वामी रास	—	" "
१७७	सुभौम चक्रवर्ती रास	—	" "
१७८	सुदर्शन रास	—	" "
१७९	होली रास	—	" "
१८०	हनुमत रास	—	" "
१८१	हितशिक्षा रास	—	" "
१८२	चारुप्रबन्ध रास	—	" "
१८३	नागकुमार रास	—	

१८४	कर्म विपाक रास	—	,, ,,
१८५	जम्बू स्वामी रास	—	(i) ब्रह्मजिनदास (ii) भुवनकीर्ति

सत्रहवीं शताब्दी

१८६	शील रास	१६०४	विनयसमुद्र
१८७	चित्रसेन पद्मावती रास	१६०४	,, ,,
१८८	रोहिणेय रास	१६०५	,, ,,
१८९	कुट्टनी रासक	१६०५	तिल्हडा कवि
१९०	प्रद्युम्नरास	१६०६	(i) ब्रह्म गुणराज (ii) कृष्णराय
१९१	मृगांक पद्मावती रास	१६१२–१४	मालदेव
१९२	पद्मावती पद्मश्री रास	१६१२	मालदेव[1]
१९३	चन्दनबाला रास	१६१४	विनयसमुद्र
१९४	चंदनबाला नो रास	१६१४	,,
१९५	नलदवदन्ती रास	१६१४	,,
१९६	नेमिश्वर रास	१६१५	ब्रह्मरायमल्ल
१९७	नागश्री रास	१६१६	ब्रह्मजिनदास
१९८	रोहिणीव्रत रास	१६२०	विशालकीर्ति
१९९	श्रेणिक रास	१६२१	धर्मशील
२००	स्त्री चरित रास	१६२३	
२०१	तेजसार रास	१६२४	(i) कुशललाभ[2] (ii) महीराज
२०२	सम्यकत्व कौमुदी रास	१६२४	हीरकलश
२०३	पार्श्वनाथ रास	१६२४ १६६७	(i) विनयसमुद्र (ii) ब्रह्मकपूरचंद्र
२०४	धर्मपरीक्षा रास	१६२५ १६६७	(i) सुमतिकीर्ति (ii) सहजकीर्ति

---

१ श्री भवंरलाल नाहटा इसका रचना काल १६९२ वि० तथा डॉ० हीरालाल माहेश्वरी वि० १४५० मानते हैं।

२ डॉ० राम बाबू शर्मा इसका रचना काल १६१६ वि० मानते हैं।

२०५	जम्बूस्वामी रास	१६२५	(i) त्रिभुवन कीर्ति
		१६४२	(ii) राजपाल
२०६	अगड़दत्त रास	१६२५	(i) कुशललाभ
			(ii) गुण विनय उपाध्याय[1]
२०७	प्रद्युम्न रासो	१६२५	ब्रह्मरायमल्ल
२०८	श्रीपाल रास	१६२६	पद्मविजय
२०९	अकबर प्रतिबोध रास	१६२८	(i) समय प्रमोद
			(ii) जिनचंद्र सूरि
२१०	सुदर्शन रास	१६२९	ब्रह्मरायमल्ल
२११	शील रक्षा रास	१६२९	नयसुन्दर
२१२	श्रीपाल रास	१६३०	ब्रह्म रायमल्ल
२१३	श्रीपाल चरित रास	१६३०	ब्रह्मराय
२१४	शील रासा	१६३०–३२	जैतराम
२१५	जिनपालित जिनरक्षित रास	१६६२	कनकसोम
२१६	वीसलदेव रास	१६३३	नरपति नाल्ह
२१७	शील रासा	१६३३	विजयसेन सूरि
२१८	भविष्यदत्त रास	१६३३	(i) ब्रह्मरायमल्ल
		१६४३	(ii) विद्यांभूषण सूरि
२१९	विक्रमरास	१६३८	मंगल माणिक्य
२२०	जोगी (योगी) रासा	१६४२	पांडे जिनदास
२२१	माली रासा	१६४२	,, ,,
२२२	सगर प्रबन्ध रास	१६४३	नरेन्द्र कीर्ति
२२३	नेमिनाथ शील रास	१६४४	विजय सूरि
२२४	मंगल कलश रास	१६४९	कनक सोम
२२५	बुद्धि रासा	१६५०	जल्ह कवि[2]
२२६	भोजचरित रास	१६५१	(i) परमाल
		१६५४	(ii) हीरानंद
२२७	युगप्रधान निर्वाण रास	१६५२	समयप्रमोद
२२८	अंजना सुन्दरी रास	१६५२	भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति

---

१ डॉ० हीरालाल माहेश्वरी इसका रचना काल १६१४ वि० मानते हैं।

२ डॉ० हीरालाल माहेश्वरी इसका रचना काल १४५० वि० तथा डॉ० रामबाबू शर्मा १६२७ वि० मानते हैं।

२२९	रत्नसिंह रास	१६५२–१६८४	ऋषि सूजा
२३०	बारह व्रत रास	१६५५	गुणविनय उपाध्याय
२३१	कर्मचंद वशावली रास	१६५६	,, ,,
२३२	पार्श्वनाथ रासो	१६५६	ब्रह्मवस्तुपाल
२३३	प्रद्युम्नकुमार रास	१६५६	भट्टारक श्रीभूषण
२३४	श्री शीलरास	१६५७	विजयदेव सूरि
२३५	शाम्ब प्रद्युम्न रास	१६५९	समयसुन्दर
२३६	अन्जनासुन्दरी रासा	१६६१	कवि महानन्द
२३७	नल दमयन्ती रास	१६६१	मेघराज
२३८	सुदर्शन श्रेष्ठि रास	१६६१	सहजकीर्ति
२३९	सेल सेली नो रास	१६६१	मेघराज
२४०	अंजनासुन्दरी रास	१६६२	गुणविनय उपाध्याय
२४१	रोहिणी रास	१६६२	ऋषभदास
२४२	कलावती रास	१६६७	सहजकीर्ति
२४३	गुणसागर रास	१६६७	अज्ञातकवि
२४४	पृथ्वीचंद्रकुमार रास	१६६७	गुणसागर
२४५	सगालशाह रास	१६६७	—
२४६	दान शील तप भाव रास	१६६८	(i) समयसुन्दर (ii) कृष्णदास
२४७	विक्रम चरित्र रास	१६६९	विमलेन्द्र
२४८	जम्बूरास	१६७०	गुणबिनय उपाध्याय
२४९	साम्ब प्रद्युम्न रास	१६७२	समयसुन्दर[1]
२५०	रतन रासा	१६७३	कुम्भकरण[2]
२५१	नेमिकुमार रास	१६७३	वीरचन्द्र
२५२	लीलावती रास	१६७३	हेमरतन सूरि
२५३	हंसराज बच्छ रास	१६७४	मानसिंह (मानकवि)
२५४	राणा रासा	१६७५	दयालदास
२५५	अमर तेजराज धर्मबुद्धि रास	१६७५	रतनविमल[3]

---

१ लेखक के विचारानुसार इसका रचनाकाल भी १६५९ वि० ही है।

२ डॉ०माताप्रसाद गुप्त के मतानुसार इसका रचनाकाल १६७५ वि० है।

३ श्री नरोत्तमदास स्वामी के अनुसार इसका रचनाकाल १८ वीं० वि० है, डॉ० सत्येन्द्र इसका रचनाकाल १६७७ वि० मानते हैं।

२५६	राम रासो	१६७५–९०	माधोदास दधिवाड़िया
२५७	राणा रासो	१६७५–७७	दयालदास भाट
२५८	रामायण रासो (राम रासो)	१६८०	माधोदास चारण
२५९	अगड़दत्त रास	१६८१	श्री सुन्दर वाचक
२६०	आइमताकुमार रास	१६८३	—
२६१	राम यशो रसायन रास (राम रसायन)	१६८३	केशराज[1]
२६२	शत्रुंजय महात्म्य रास	१६८४	सहजकीर्ति
२६३	पवनजय अंजना सुन्दरी सुत हनुमत चरित रास	— १६८४	पुण्यभवन
२६४	विजयतिलक सूरि रास	१६८६	दर्शनविजय
२६५	क्याम रासा (क्यामखां रासा या अलफखां रासा)	१६९०–९१	न्यामतखा (जान कबि)
२६६	यादव रासा	१६९०	पुण्यरतन
२६७	विनोद रास	१६९१	सुमति हंस
२६८	जम्बू स्वामी रास	१६९१	पाठक भुवनकीर्ति
२६९	शिवजी आचार्य रास	१६९२	धर्मसिंह
२७०	चारुदत्त रास	१६९२	कल्याणकीर्ति
२७१	श्रुतपंचमी रास	१६९२	पृथ्वीपाल अग्रवाल
२७२	नेमिनाथ रास	१६९२	(i) भाउ कवि
		१६९२	(ii) कनककीर्ति
		१६८४	(iii) रूपचन्द पाण्डे
२७३	नवकार रास	१६९२	(i) रिखकदम
			(ii) कनक कीर्ति
२७४	सुर सुन्दरी रास	१६९७	नयसुन्दर
२७५	आदित्ति व्रत रासा	—	पं० भगवतीदास[2]
२७६	रोहिणीव्रत रास	—	,, ,,
२७७	जोगी रास	—	,, ,,
२७८	टंडाणा रास	—	

१ डा० नरेन्द्र भानावत इसका रचनाकाल १६८० वि० तथा श्री अगरचन्द नाहटा १३ वीं वि० मानते हैं। कुछ विद्वान् इसे १६८७ वि० की कृति मानते हैं।

२ क्र० सं० २७५ से आगे की कृतियों का रचनाकाल अज्ञात है।

२७९	दसलक्षणी रास	—	,, ,,
२८०	पखवाड़ा रास	—	,, ,,
२८१	खिचड़ी रास	—	,, ,,
२८२	साधु समाधि रास	—	,, ,,
२८३	समाधि रास	—	,, ,,
२८४	मनकरहा रास	—	,, ,,
२८५	आसाढ़भूति रास	—	— —
२८६	राजसिंह कुमार नो रास	—	— —
२८७	रामसीता रास	—	ब्रह्मगुणकीर्ति
२८८	रायसा जसवंतसिंह	—	शिवनाथ असनीवाले
२८९	जती रास	—	करणीदान
२९०	कुमारपाल राजा नो रास	—	—
२९१	देवराज बच्छराज रास	—	रूपविजय गणि
२९२	नेम राजमती रास	—	विनयदेव सूरि
२९३	नेमिसर राजमती रास	—	रतन मुनि
२९४	नवकार को रास	—	—
२९५	पृथ्वीराज रासो	—	चन्द
२९६	पोषह रास	—	ज्ञानभूषण
२९७	प्रताय रासो (लछिमणगढ़ रासो)	—	खुशाल कवि
२९८	भद्रबाहु रास	—	—
२९९	शान्तिनाथ रो रास	—	—
३००	विक्रमादित्य पंचदण्ड रास	—	—
३०१	श्री वीरविजय निर्वाण रास	—	—
३०२	विवुध विमल सूरिरास	—	—
३०३	सुजाहसिंछ रासो (वरसलपुर गढ़ विजय)	—	गणविजय
३०४	महापुराण रास	—	कवि गंगदास
३०५	मेघकुमार रास	—	पुनो कवि
३०६	महावीर रास	—	रामदास
३०७	मोह विवेक नो रास	—	—
३०८	अन्जनासती रास	—	—
३०९	कमलावती रास	—	विजयभद्र
३१०	मृगावती रास	—	समयसुन्दर
३११	शालिभद्र रास	—	जिनराज सूरी

३१२	मिहलसुत रास	--	
३१३	हीरवलमाछी रास	--	कुशलसंयम
३१४	लोक निराकरण रास	—	राजभूषण
३१५	पार्श्वनाथ रासो	--	ब्रह्मवस्तु
३१६	वाणिजारो रास	१६९९	रूपचन्द

अठारहवीं शताब्दी :

३१७	हंसवच्छराज रास	१७०४	विनयप्रभ उपाध्याय[1]
३१८	हसवच्छ रास	१७०४	" "
३१९	अंजनारास	१७०६	—
३२०	पानी गालपानी रास	१७०६	अनन्तनाथ
३२१	पल्य विधान रास	१७०६	"
३२२	चंद राजा का रास	१७०७	तेजमुनि (तेजल)
३२३	रामरासो या गुणराम रासो	१७०७	माधवदास दधवाड्या
३२४	चंदनमलयगिरि रास	१७०६	हेमहर्ष
३२५	पुण्यसार रास	१७०६	मुनिपद्म
३२६	शत्रुशाल रास (सत्रशाल रास)	१७१०	डूंगरसी
३२७	स्त्रीचरित रास	१७१०	—
३२८	चन्द्रनृप रास या नृपचन्द्र रास	१७१३	लब्धरुचि या विबुधरुचि
३२९	रतनरास	१७१५	(i) जग्गाजी
		१७३२	(ii) कुम्भकरण
३३०	इलायचीरास	१७१९	ज्ञानसागर
३३१	स्थूलभद्र का नव रासो	१७१९	उदयरत्न
३३२	स्थूलभद्र नव रासो	१७१९	"
३३३	धर्मरासो	१७२३	अचलकीर्ति
३३४	पालकुमार रास	१७२५	नरसिंह गणि
३३५	रास	१७२४	व्यास
३३६	नंदिसेण रास	१७२५	ज्ञानसागर
३३७	शाम्ब प्रद्युम्न रास	१७२७	(i) ज्ञानसागर
		१७३४	(ii) ऋषि हेतराज
३३८	राजाभोज (चरित) रास	१७२९	कुशलधीर
३३९	धन्ना रास	१७३२	मुनिखेता

---

१ डॉ० रामबाबू शर्मा इसका रचनाकाल १४१२ वि० मानते हैं।

३४०	रत्नपाल रास	१७३२	सुरचंद
३४१	रामजी सीताजी कउ रास	१७३३	मुनि मनोहर
३४२	जिटारि रास	१७३४	तेजमुनि (तेजल)
३४३	सकत रासो	१७३५	(i) गिरिधर आसिया[1]
		१७५५	(ii) गिरधर चारण
३४४	नेमिनाथ राजमती रास	१७३५	विनयदेव सूरि
३४५	श्रीपालरास	१७३७	यशविजय
३४६	गुरु गुणमाला रास	१७४३	कहानजी (कान्हजी)
३४७	सीता चरित्र रास	१७४५	रामचन्द्र
३४८	राम रासो	१७५०	माधोदास
३४९	कृष्णदास का रासो	१७४६	—
३५०	पर्वत पाटणी को रासो	१७५४	(लिपि)
३५१	माकड़ रासो (रास)	१७५७	कीर्तिसुन्दर
३५२	स्थूल भद्र नो रास	१७५९	उदयरत्न
३५३	स्थूलभद्र नो नव रासो	१७५९	,,
३५४	स्थूलभद्र नव रासो	१७५९	,,
३५५	णमोकार रास	१७६०	किशनसिंह
३५६	दलपत राव रासा	१७६४	जोगीदास
३५७	लीलावती रास	१७६७	उदयरत्न
३५८	व्रतविधान रास	१७६७	दौलतराम
३५९	खुमाण रास	१७६७–८०	दलपत विजय
३६०	सुजाणसिंघ रासो	१७६९	जोगीदास महात्मा
३६१	गुणराम रासो या राम रासो	१७६९	महाराज अजीतसिंह
३६२	रासा भगवतसिंह का	१७६९	सदानंद
३६३	रतनपाल रत्नवती रास	१७७५	—
३६४	सुदर्शन सेठ का रास	१७७५	हीरमुनि
३६५	राणा रासा	१७७६	दयालदास
३६६	पृथ्वीराज रासो	१७७६	चंद कवि
३६७	अनूप रास	१७७७	—
३६८	श्रीपाल रास	१७८०	(i) जिनहर्ष
			(ii) विनयविजय गणि
३६९	मानवती का रास	१७८०	पूनमचंद
३७०	चंद रास	१७८३	मोहनविजय

१ नरोत्तमदास स्वामी इसका रचनाकाल १७२५ वि० बतलाते हैं।

३७१	केसरियाजी रो रास	१७८३-८४	सीहविजय
३७२	केबन्ना रास	१७८६	--
३७३	चुड़लो रास	१७८६	पं० रघुनाथ
३७४	पथैना रास	१७९०	चतराराम
३७५	अभयकुमार आदि पंच साधु रास	१७९२ से पूर्व	कीर्तिसुन्दर कान्हजी
३७६	हंसराज बच्छराज रास	१७९१	जिनोदय सूरि
३७७	यादव रास	१७९४	चौथमल
३७८	नायक रायसा	१७९६	दुर्गाप्रसाद
३७९	रासा भैया बहादुरसिंह का	१७९६	शिवनाथ
३८०	जैन रासो	१७९८	दौलतराम पाटणी
३८१	अन्जना सती को रास	--	(i) विनयचंद्र[1] (ii) केशराज
३८२	अंजनाजी को रास	--	—
३८३	अमरकुमार रास	--	लक्ष्मीवल्लभ
३८४	ऋषभ रास	--	गुणरत्न सुरि
३८५	रास विलास	--	रसिकराय
३८६	रायमल रासो	--	कविराजा श्यामलदास
३८७	राव जैतसी रासा	—	सल्लसिंह
३८८	झांसी कौ रायसौ	—	कल्याणसिंह कुड़रा
३८९	चदनबाला रो रास	—	पूनमचंद
३९०	चंदराजा रास	—	—
३९१	ब्रज विलास रास	--	महाराजा जैसिंह
३९२	बिन्है रासो	—	महेशदास
३९३	भावदेव रास	--	—
३९४	भावदेव सूरि रास	--	जगरूप
३९५	विद्याविलास रास	--	हीरानंद
३९६	वस्तुपाल तेजपाल रास	--	समयसुन्दर
३९७	सगलशा रास	--	कनकसुन्दर
३९८	सप्तव्यसन रास	—	वीरचद
३९९	सिद्धचक्र रास	—	चम्पकवि
४००	मृगावती रास	—	समय सुन्दर

१ क्र. सं. ३८१ से आगे कृतियों का रचनाकाल उपलब्ध नहीं है।

४०१	माणिकदेवी रास	—	निहालसिंह
४०२	आगम रासो	—	—
४०३	वीतरागजी रो रासो	—	—
४०४	गौतमरास	—	—
४०५	गौतम स्वामीजी रो रास	—	—
४०६	शत्रुंजय (रो) रास	—	समयसुन्दर
४०७	रत्नपाल चरित्र रास	—	मोहनविजय
४०८	पुण्डरीक कण्डरीक रास	—	नारायण मुनि
४०९	विजय रास	—	लाभवर्धन
४१०	ढुढे रासो	—	—
४११	विजयपाल रासो	—	बल्लभ कवि भट्ट
४१२	यशोधर चरित्र रास	—	सोमदत्त सूरि
४१३	माली रासा	—	जिनदास
४१४	आचार रासा	—	—
४१५	यादु रासो	—	गोपालदास
४१६	रात्रि भोजन वर्जन रास	—	भुवनकीर्ति
४१७	गौतम स्वामी गणघट रास	—	—
४१८	रुक्मणि कृष्ण रास	—	—
४१९	लघुशील रास	—	—
४२०	पंच परमेष्ठी रास	—	—
४२१	कृपण रासो	—	—
४२२	त्र्योदशमार्गी रास	—	—
४२३	अढ़ाई रास	—	विनयकीर्ति

उन्नीसवीं शताब्दी

४२४	धर्म रासो	१८०५	—
४२५	प्रद्युम्नकुमार रास	१८१८	मयाराम भोजक
४२६	शीलवर रास	१८२१	ज्ञानचंद्र
४२७	शील रास	१८२३	विजयदेव सूरि
४२८	करहिया को राइसो	१८२५	गुलाब कवि[1]
४२९	वीसलदेव चौहान रास	१८२६	—

१ डॉ० माताप्रसाद गुप्त इसको वि० १८३४ की कृति मानते हैं।

४३०	श्रीपाल रास	१८२७	—
४३१	श्रीपाल रास	१८३२	नय विनय
४३२	राम रास (नल मंजरी)	१८३२	सुज्ञानसागर
४३३	शील बिजय विजय सेठ विजया सती को रास	१८३३-४३	रायचंद्र
४३४	जती रासो	१८३६	—
४३५	विद्याविलास रास	१८४०	—
४३६	राम रासो	१८४० १८५५	(i) माधोदास (ii) समयसुन्दर
४३७	शाम्ब प्रद्युम्न रास	१८४२	हर्षविजय
४३८	नेमिश्वर राजमती रास	१८४३	—
४३९	कृष्णदत्त रास	१८४४	—
४४०	रूप सेनरास	१८५०	महानंद
४४१	सुक सहेली कथा रास	१८५०	—
४४२	रायसी अजीतसिंह	१८५३	शिवनाथ
४४३	रायसा ···· कवियो	१८५३	शिवनाथ असनीवाले
४४४	नायक रायसा (अजीतसिंह फतहगढ)	१८५३	दुर्गाप्रसाद
४४५	शत्रुजीत रायसा	१८५८	किशुनेश जाट
४४६	दरुलक्षण रास	१८६०	पं० भगवती प्रसाद
४४७	राम रासा	१८६५	आनंद नगदमणि
४४८	कलिजुग रासो	१८६५	रसिक गोविंद
४४९	गौतम रासो	१८६८-६९	रिखि रायचंद,
४५०	शत्रुंजय रासो	१८६९	—
४५१	पद्मावती जीव रास	१८७०	मुनि पद्म
४५२	हमीर रासो	१८७२ १८८५	(i) महेश कवि (ii) जोधराज
४५३	सभाविलास रास	१८७३	लालकवि
४५४	बाघाइट का रायसो	१८७३	आनंदसिंह कुड़रा
४५५	पारीछत रासा	१८७३	श्रीधर[1]
४५६	अंजना सुन्दरी रास	१८७३	—
४५७	जतीरासो	१८७६	(i) जैनजुहार (ii) ऋषभदेव

१ डॉ० गुप्त इसे १२२५ वि० की कृति बतलाते हैं।

४५८	हमीर रासो	१८८५	जोधराज
४५९	नवकार रास	१८९१	तिलोकचंद
४६०	शील का रास	१८८९	विजयदेवसूरि
४६१	श्रुत पंचमी रास	१८९९	धर्मपाल कवि
४६२	आदिनाथ रास (निरमलो रास)	—	(i) ब्रह्मजिनदास[1] (ii) भुवनकीर्ति
४६३	राम रासो	—	सुरजन कवि (विष्णोई)
४६४	कलजुग चलन रस रास	—	
४६५	परमाल रासो	—	जगनिक
४६६	श्रीपाल रास	—	(i) यशोविजय (ii) विनय विजय
४६७	शत्रुंजय गिरिवर रास	—	—
४६८	विमल रासो	—	—
४६९	मुक्तावली रास	—	पं० छाजमल
४७०	मानतुंग मानावती रास	—	—
४७१	लीला रास	—	—
४७२	वस्तुपाल तेजपाल रास	—	समयसुन्दर
४७३	शालिभद्र धन्नासा (रा) रास	—	
४७४	अयवन्तीगज सुकुमाल रास	—	जिनहर्ष
४७५	अन्जना सती रो रास	—	—
४७६	बुद्धिसागर निर्वाण रास	—	दीप मुनि
४७७	नेमिरास	—	—
४७८	नेमीश्वर रास	—	रूपचंद
४७९	गोदा रासो	—	सेवग गेनदास
४८०	सीताजी रामजी रास	—	—

बीसवीं शताब्दी

४८१	लावा रासो	१९३०	गोपालदान कविया
४८२	फूंफी रासो	१९३०	मुरारीदान चारण
४८३	बीबी रासो	१९३०	" "
४८४	ऊंट रासो	१९९७	रामकरण चारण

---

१ क्र० सं० ४६२ से आगे की कृतियों का रचनाकाल अनुपलब्ध है।

४८५	वाणियां रासो	१९९७	रामकरण चारण
४८६	उदाई राजा रासो	२०००	आचार्य तुलसी
४८७	रास होटी	—	रूपसखी

इक्कीसवीं शताब्दी

४८८	नांटनी रासो	२००७	आसकरणदास चारण
४८९	गौतम स्वामी रास	२००९	विनयचंद्र
४९०	ऊंदर रासो	—	—

इस सूची में उल्लेखित कृतियों के अतिरिक्त कुछ ऐसी कृतियां हैं जिनका उल्लेख ऊपर नहीं हो पाया है, वे हैं–

४९१	कर सम्वाद रास	लावण्य गणि
४९२	रावण सम्वाद रास	" "
४९३	रावण मंदोदरी सम्वाद रास	मुनि लावण्य
४९४	हरिवंश रास	गुण सूरि
४९५	प्रत्येक बुद्धि रास	समयसुन्दर
४९६	वल्कल चोरी रास	" "

उपर्युक्त रासो काव्य सूची में उपलब्ध रासो काव्यों का वर्ण्य वीररस युक्त युद्धात्मक वर्ण्य विषय से लेकर शृंगारपरक प्रेमाख्यानक तथा व्यंग्य–प्रधान है। घूंघी रासो, बीबी रासो ऐसे काव्य हैं जो युद्ध में एक दल के हार जाने पर दूसरे दल की खिल्ली उड़ाने के लिये लिखे गये हैं तो वाणिया रासो दूकानदार द्वारा उधार दिये गये सौदे के पैसे चुका देने पर पुनः मांगने पर ग्राहक द्वारा कहा गया रासो है। ऊंदर और माकंड़ रासो भी व्यंग्यपूर्ण कृतियां हैं।

कुमायूं के चन्द राजाओं का वंश

कृष्णपालसिंह

अभिलेखों में चन्द राजाओं के वंश के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता। हिमालियन गजेटियर के अनुसार चन्दों का आदिपुरुष सोमचन्द कन्नोज के सोमवंशी अथवा चन्द्रवंशी राज परिवार का सदस्य था जो कि 'झूंसी' से कुमायूं आया था।[1] गजेटियर के विद्वान लेखक का विश्वास है कि 'झूंसी' एक प्राचीन नगर प्रतिष्ठानपुर के अवशेषों पर अवस्थित है तथा बहुत पहले से ही राजपूतों का गढ़ रहा है।[2] परन्तु केवल उक्त आधार पर चन्दों को सोमवंशी स्वीकार करना तर्कसंगत नहीं होगा। साथ ही कन्नोज के इतिहास के अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नवीं शती ईसवीं के पश्चात मुसलमानों के आगमन तक कन्नोज सम्भवतः कभी भी चन्द्रवंशी राजपूतों के अधिकार में नहीं रहा।[3] अतएव हिमालियन गजेटियर की उक्त सूचना विश्वसनीय प्रतीत नहीं होती। सर एच० एम० इलियट के अनुसार चन्दराजा चन्द्रवंशी नहीं वरन् चन्देल राजपूत थे।[4] परन्तु इलियट महोदय ने अपने विचार के पक्ष में कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया। बहुत सम्भव है कि विद्वान लेखक की विचारधारा उसके इस विश्वास पर आधारित है कि चन्द राजाओं का

---

१ एटकिन्सन हिमालियन डिस्ट्रिक्ट्स, भाग २, इलाहाबाद, १८८४, पृष्ठ ४९७-९८।

२ पूर्वोक्त, पृष्ठ ५०४।

३ डा० त्रिपाठी, आर० एस० "हिस्ट्री आफ कन्नोज" तथा भारतीय विद्याभवन प्रकाशन 'एज आफ इम्पीरियल कन्नोज'।

४ एटकिन्सन हि० डि०, भाग २, पृष्ठ ५०४

आदि-स्थान झांसी था। परन्तु पूर्व पृष्ठों में[1] इस विश्वास का सकारण खण्डन किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त स्वयं इलियट महोदय द्वारा अन्यत्र 'भूंसी'[2] को आदि-स्थान स्वीकार किये जाने के पश्चात उनके उपर्युक्त कथन को स्वीकार करने के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता।

बदरीदत्त पाण्डे महोदय के विचारानुसार सोमचन्द चन्द्र-वंशी चन्देल राजपूत था जो भूंसी या प्रतिष्ठानपुर में रहता था। विद्वान लेखक का मत है कि वहां (भूंसी में) कभी चन्द्रवंशी राजा राज्य करते थे। वह सम्राट जयचन्द्र के साम्राज्यान्तर्गत था। राजा माण्डा जयचन्द के खानदान का है। सम्भवतः इन्हीं चन्देलों में कोई कुमायूं से आये हों।[3] यहां यह तर्क किया जा सकता है कि प्रथम तो, जैसाकि हम अध्ययन कर चुके हैं, सोमचन्द के चन्देल होने की कोई संभावना प्रतीत नहीं होती; द्वितीय, चन्देलों के इतिहास से ज्ञात होता है कि वे और चाहे कुछ भी रहे हों सम्भवतः चन्द्रवंशी नहीं थे; तृतीय, सोमचन्द के राजा माण्डा से सम्बन्ध की सम्भावना को स्वीकार करना पाण्डे महोदय द्वारा एक कुतर्क प्रस्तुत किये जाने के समान होगा, क्योंकि एक ओर तो वे ई० सन् ७०० को सोमचन्द की कुमायूं आगमन की तिथि[4] स्वीकार करने के पक्षपाती हैं तथा दूसरी ओर उसे (सोमचन्द को) जयचन्द के परवर्ती राजा माण्डा के भी परवर्ती के रूप में प्रस्तुत करते हैं। अन्त में, यह निर्विवाद रूप से ज्ञात है कि जयचन्द चन्देल नहीं वरन् गहरवाड़ वंश का शासक था। अतः पाण्डे महोदय के कथन को स्वीकार करना नितान्त असुरक्षित होगा।

---

१ एटकिन्सन ने इस सम्बन्ध में इलियट महोदय से असहमति व्यक्त करते हुए तर्क दिया है कि झांसी की स्थापना बीरसिंह देव द्वारा जहांगीर के शासनकाल में की गई थी। हम जानते हैं कि जहांगीर का शासनकाल १६०५ से १६२७ ई० सन् है जबकि कुमायूं में उस समय रूद्रचन्द का पुत्र लक्ष्मीचन्द शासन कर रहा था। इस प्रकार झांसी को चन्दों का आदि-स्थान मानने का अर्थ चन्दों के आदि-पुरुष सोमचन्द को अपने परवर्ती शासकों से भी पीछे ले जाना होगा।

२ इलियट एण्ड डाउसनः, 'हिस्ट्री आफ इन्डिया', भाग २, इलाहाबाद, १९६१, पृष्ठ ४६२

३ पाण्डे, बद्रीदत्त; "कुमायूं का इतिहास" लखनऊ १९३७, पृष्ठ २३१, ।

४ उपरोक्त, पृष्ठ २३०।

मनोरथ पाण्डे महोदय का कथन है कि सोमचन्द कन्नोजाधिपति यशोवर्मन का पुत्र था। एक अन्य विद्वान त्रिलोचन पन्त के विचारानुसार भी सोमचन्द कान्यकुब्जाधीश यशोवर्मन का पुत्र था।[१] परन्तु साथ ही पन्त महोदय ने सोमचन्द को शालिवाहन का वंशज भी घोषित किया है।[२] डॉ० आर० एस० त्रिपाठी का मत है कि यशोवर्मन संभवतः ७२५–७५२ के मध्य शासन कर रहा था।[३] साथ ही विद्वान लेखक ने राजशेखर के प्रबंध-कोष के आधार पर लिखा है कि वप्पा भट्टि नामक एक जैन साधु ने यशोवर्मन के पुत्र एवं उत्तराधिकारी आमराज को जैन धर्म में दीक्षित किया था एवं आमराज ने वि० सं० ८११ (ई० सन् ७५४) में अपने राज्यारोहण के अवसर पर उक्त जैन साधु का सम्मान किया था।[४] इस विवरण से यशोवर्मन के किसी अन्य पुत्र का संकेत नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त यह निर्विवाद है कि दसवीं सदी के अन्तिम चरण तक कुमायूँ पर शक्तिशाली कत्यूरियों का शासन था।[५] पुनः पन्त महोदय ने बिना किसी हिचक के सोमचन्द को शालिवाहन वंशज कहा है जबकि दूसरी ओर चन्दों का पूर्ववर्ती कत्यूरी शासन भी निर्विवाद रूप से शालिवाहन के वशजों के रूप में प्रख्यात है।

यदि यह सत्य है तो उपर्युक्त दोनों विद्वानों (मनोरथ पाण्डे तथा त्रिलोचन पन्त) की विचारधारा विश्वसनीय नहीं कही जा सकती। राजा शिवराजसिंह[६] के कथनानुसार सोमचन्द्र परिमालदेव (सम्भवतः पद्मादिन) के नाती मणिचन्द[७] की सन्तति परम्परा में से थे। परन्तु राजा साहब के कथन के पीछे कोई ठोस आधार नहीं है। अतः पूर्व पृष्ठों[८]

---

१ जोशी, जी० सी० द्वारा सम्पादित 'अचल', सितम्बर १६३९, पृष्ठ ३

२ पूर्वोक्त।

३ डा० त्रिपाठी, आर० एस०, "हिस्ट्री आफ कन्नोज", पृष्ठ १९७।

४ पूर्वोक्त, पृष्ठ १९६–१९७।

५ भारतीय विद्याभवन प्रकाशन, की 'एज आफ इम्पीरियल कन्नोज', १९५३, पृष्ठ १२३

६ चन्दों के तथाकथित वंशज जो सम्भवतः १९३६ में जीवित थे।

७ जोशी, जी० सी०; 'अचल', पृष्ठ ३।

८ पर्वतीय अनुश्रुति इस सम्बन्ध में एक मत है कि सोमचन्द कन्नोज के राजपरिवार से सम्बन्धित था तथा परमार्दिन अथवा परिमालदेव चन्देल था एवं कन्नोज सम्भवतः कभी भी चन्देलों के अधिकार में नहीं रहा।

में किये गये विश्लेषण के परिप्रेक्ष्य में राजा साहब के कथन को विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि किसी निश्चित समसामयिक साधन के अभाव में चन्दों के वंश को लेकर विद्वानों में अनेक परस्पर विरोधी एवं भ्रामक धारणायें रही हैं। अतएव इस समस्या का एक स्वीकार्य समाधान प्राप्त करने के लिये यह उचित प्रतीत होता है कि इस वंश के संस्थापक एवं उसके मूल निवास स्थान से सम्बन्धित विवेचन को गम्भीरता पूर्वक ध्यान-गम्य करते हुए उसके परिप्रेक्ष्य में सोमचन्द की तिथि से सम्बन्धित विश्लेषण को स्वीकार्य कर लिया जाय तो उसके आधार पर चन्दों के वंश क विषय में कोई तर्कपूर्ण निष्कर्ष सुगमतापूर्वक निकाला जा सकता है।

संक्षेप में, सोमचन्द को चन्दवंश का संस्थापक एवं प्रयाग के निकट भूंसी को उसका आदि-स्थान स्वीकार कर लेने तथा ग्यारहवीं शताब्दि के प्रथम चरण को उसके (सोमचन्द के) कुमायूं आगमन तथा राज्यारोहण की तिथि के रूप में स्वीकार कर लेने पर ई० सन् १०२७ के त्रिलोचनपाल के भूंसी अभिलेख के आधार पर चन्दों को कन्नोज तथा प्रयाग (भूंसी) के तत्कालीन शासनरूढ़ वंश प्रतिहार की ही एक शाखा स्वीकार करने का सुझाव दिया जा सकता है।

प्रदेश में उपलब्ध समसामयिक स्थापत्य एवं मूर्तिकला के साक्ष्य उपर्युक्त सुझाव का एक वर्ग सीमा तक समर्थन करते प्रतीत होते हैं। के० एम० मुन्शी महोदय का विचार है है कि अल्मोडा से प्राप्त विष्णु की सुन्दरतम प्रतिमायें प्रतिहारों के ही काल की हैं। विद्वान लेखक के अनुसार मूर्तियों में ईश्वरीय तथा उच्च कोटि की निर्लिप्तता के भावों का समावेश करने की विधि के प्रति वही प्रवृति, जो कि गोरखपुर की सूर्य-प्रतिमा में स्पष्ट है, हिमालय में स्थित अल्मोडा भी पहुंच गई थी और जो वहां से प्राप्त इस काल की विष्णु प्रतिमाओं में उपलब्ध है।[१] इसके अतिरिक्त जर्मन विद्वान हरमेन गोट्ज का कथन है कि 'द्वाराहाट जोगेश्वर तथा लाखामण्डन मन्दिर प्रतिहार मन्दिर है।'[२] डा० नैटियाल ने भी कुमायूं एवं गढवाल के स्थापत्य का विस्तृत अध्ययन करने के पश्चात यही निष्कर्ष निकाला है कि बैज-

---

१ मुन्शी, के० एम०, "इन्डियन टेम्पल स्कल्पचर", कलकता, १९५६, पृष्ठ २३।

२ गोट्ज एच; 'फाइव थाउजेन्ड इयर्स आफ इण्डियन आर्ट' बम्बई, १९६४, पृष्ठ १५८।

नाथ द्वाराहाट कटारमल आदि के बद्री वागेश्वर तथा चम्पावत के मन्दिर प्रतिहार–सोलंकी स्थापत्य की विशेषताओं से युक्त हैं।[१] प्रदेश में सर्वत्र बिखरे पड़े मन्दिर वास्तु के भग्नावशेषों की शिखर शैली एवं उनकी मूर्तिकला तथा सौन्दर्य-प्रसाधन हेतु प्रयुक्त प्रतीकों आदि का गम्भीरता पूर्वक एवं सूक्ष्म अध्ययन करने पर डा० नौटियाल महोदय का उपर्युक्त कथन युक्तियुक्त प्रतीत होता है। अतएव यदि यह सत्य है तो चन्दों के वश से सम्बन्धित अन्य किसी धारणा के पक्ष में निश्चित प्रमाण की प्राप्ति तक उन्हें प्रतिहारों की ही एक शाखा स्वीकार करना आपत्तिजनक न होगा। इसके अतिरिक्त चन्दों का गुर्जरों के साथ रोटी-बेटी का व्यवहार[२] भी इस सम्भावना की पुष्टि करता है।

—रिसर्च स्कालर,
राजकीय महाविद्यालय
नैनीताल

---

१ डॉ० नौटियाल, के० पी०; "आर्क्योलाजी आफ कुमायूं", वाराणसी १९६९, पृष्ठ ११८।
२ पाण्डे बी० डी०; "कुमायूं का इतिहास" पृष्ठ २७७।

समीक्षा

चुरू मण्डल का इतिहास

लेखक-गोविन्द अग्रवाल, प्रकाशक-लोक संस्कृति शोध संस्थान, नगर श्री, चुरू; मूल्य-५० रु० पृष्ठ ५२४.

चुरू मण्डल का शोधपूर्ण इतिहास राजस्थान के नवीन इतिहास लेखन के प्रयास की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। राजस्थान में क्षेत्रीय इतिहास लेखन की परम्परा नवीन नहीं है और पिछले सौ वर्षों के दौरान कई लब्धप्रतिष्ठ एवं राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वानों ने राजस्थान की भूतपूर्व रियासतों के इतिहास-लेखन का चिरस्मरणीय कार्य किया है। ऐसा अधिक कार्य भारतीय स्वतंत्रता-प्राप्ति तथा एकीकृत राजस्थान के निर्माण के पूर्व किया गया। तत्कालीन समय, परिस्थितियों एवं धारणाओं के परिप्रेक्ष्य में निश्चय ही उन प्रयासों की अपनी विशेषताए एवं सीमाएं रहीं। अब जबकि परिस्थितियां बदल गई हैं, इतिहास लेखन के नये क्षितिज खुल गये हैं, विपुल ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध हो रही है, सभी प्रकार के साधन एवं अवसर सुलभ हो रहे हैं, विशाल भारतीय राष्ट्र के विभिन्न क्षेत्रों का व्यापक सांस्कृतिक-ऐतिहासिक अध्ययन-अनुशीलन इतिहास के शोध कर्मियों के लिये न केवल एक आकर्षण एवं प्रेरणाजनक कार्य हो गया है बल्कि क्षेत्रीय इतिहास का अध्ययन-लेखन राष्ट्रीय सांस्कृतिक एकता एवं प्रगति की दृष्टि से भी आवश्यक एवं अनिवार्य हो गया है। चुरू मण्डल का शोधपूर्ण इतिहास लेखक श्री गोविन्द अग्रवाल तथा श्री सुबोध अग्रवाल के वर्षों के अथक एवं निष्ठापूर्ण प्रयासों का सुफल है।

राजस्थान के इतिहास लेखन की नवीन परम्परा की दृष्टि से कई विशेषताएं इस ग्रंथ में दृष्टिगत होती हैं। ग्रंथ में व्यापक शोध के आधार पर चुरू क्षेत्र के प्राचीन काल से अब तक के सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक परिवर्तनों एवं प्रगति का गहन अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। ग्रंथ में इस मण्डल की कला, संस्कृति धर्म, सम्प्रदाय, भाषा, लिपि, साहित्य, शिक्षा, वाणिज्य, व्यवसाय आदि सभी विषयों के विशद ऐतिहासिक अध्ययन का उपलब्धि-पूर्ण प्रयास किया गया है।

इस इतिहास ग्रंथ का यह अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग है — जिसको तैयार करने में लेखक को निरन्तर प्राचीन स्थलों की खोज एवं निरीक्षण करना पड़ा है। प्राचीन शिलालेखों

एवं दस्तावेजों को ढूंढ़ ढूंढ़ कर निकालना पड़ा है, तथा सभी प्रकार की हस्तलिखित सामग्री का उपयोग करना पड़ा है। इस अथक और कर्मठ प्रयास के कारण इतिहास की कई नवीन जानकारियां प्रस्तुत हुई हैं और कई भ्रांतियों का निवारण भी हुआ है। मौर्य प्रतिहार, चौहान, राठोड़ और जाट आदि वंशों की विशेषताओं, तथा इस मण्डल में उनके कार्य, प्रभाव उपलब्धियों आदि के सम्बन्ध में जो जानकारी इस ग्रन्थ में दी गई है, वह बड़ी उपयोगी है, साथ ही मराठों, पिण्डारियों और मुख्यतः अंग्रेजी काल के दौरान की घटनाओं, शासन व्यवस्था तथा राजनैतिक गतिविधियों का बड़ा उपयोगी विवरण एवं विश्लेषण भी इस ग्रंथ में प्रस्तुत किया गया है।

ग्रंथ में पाद-टिप्पणियाँ, अध्यायोत्तर परिशिष्ट, मूर्तियों, शिलालेखों, भित्ति चित्रों आदि के चित्र दिये गये हैं तथा अन्त में प्रकाशित संदर्भ ग्रंथों एवं पत्र-पत्रिकाओं की सूची दी गई है तथा चुरू मण्डल के ऐतिहासिक स्थलों को दर्शाने वाला एक नक्शा जोड़ा गया है, इससे ग्रंथ की उपादेयता बढ़ गई है।

डॉ० देवीलाल पालीवाल
निदेशक
साहित्य संस्थान, रा. वि.

कांच के टुकड़े

लेखक-मनोहर शर्मा 'कान्त' प्रकाशक-साहित्य सदन देहरादून पृष्ठ-८८, मूल्य ४ रु०

'राधा युगों से प्यासी है' सदियों से पीड़ित, प्रताड़ित, दलित, शमित भारतीय नारी की इस कसमसाहट, छटपटाहट एवं पीड़ा को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाला युवा लेखक श्री मनोहर शर्मा 'कान्त' अपनी प्रथम औपन्यासिक प्रकाशित कृति 'कांच के टुकड़े' के माध्यम से एक सदी से घुटी इस अबला को अभिव्यक्ति देने का प्रयास करता है।

प्रस्तुत उपन्यास लघु कलेवर में औपन्यासिक विशालता की गंध को तो लिये हुए है ही, परन्तु सामान्य पाठक का इस भ्रम में पड़ जाना भी सहज है कि यह एक लंबी कथा है अथवा उपन्यास ?

उपन्यास का नायक ग्ररुण, इस दशक का युवा प्रतिनिधि है। सत्ता शासन का दिशाहीन निदेशन, अटपटी–व्यवस्था, वैयक्तिकता (झूठा दर्प), अहम्, संस्कारविहीनता, निश्चित बिम्ब एवं लक्ष्य का अभाव, अराजकता, असंतोष, उच्छृंखलता, अनुशासन में निष्ठा का अभाव, विधि एवं न्याय के प्रति उदासी अथवा उपेक्षा जैसे मुख्य बिन्दुओं पर लेखक सतही दृष्टि से छूते हुए चले हैं।

अस्सी पृष्ठ की इस पुस्तिका में कथा का विकास शिथिल रहा है, तथा लम्बे लम्बे सम्वादों और कहीं–कहीं अनावश्यक संवादों की भरमार हो गई है। नायक का चरित्र घोर पलायनवादी, अस्थिर एवं चंचल है, जबकि नायिका का चरित्र अपेक्षाकृत अधिक गंभीर है। पात्र प्रस्तुतीकरण के समय लेखक दूरी बनाये रखने में सफल रहा है।

"कांच के टुकड़े" मुझे रुचा तथा इस सुपाठ्य कृति के लिए श्री मनोहर शर्मा 'कान्त' बधाई के पात्र हैं।

—कैलाश 'शलभ'
सहायक शोध अधिकारी
साहित्य संस्थान, उदयपुर

शोध पत्रिका के बारे में—

१ पत्रिका का प्रकाशन वर्ष में चार बार होता है—[क] जनवरी–मार्च [ख] अप्रेल–जून [ग] जुलाई–सितम्बर [घ] अक्तूबर–दिसम्बर।

२ लेख की पांडुलिपि कागज के एक ओर टंकित या सुपाठ्य लिखी होनी चाहिए।

३ लेख प्राप्ति, स्वीकृति, अस्वीकृति की सूचना एक माह के भीतर दे दी जाती है।

४ लेख प्रकाशित होने पर लेखक को पत्रिका के सम्बन्धित अङ्क की एक प्रति और लेख के बीस अनुमुद्रण दिये जाते हैं।

५ पत्रिका में समीक्षा के लिये पुस्तक की दो प्रतियां आना आवश्यक है।

अतिरिक्त संचालक, प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा, राजस्थान, बीकानेर के परिपत्र [क्रमांक–ई डी बी/स० शि०/साधा०/डी/जी/ १/ विशेष /६५–६६, [दिनांक २२-३-६६ द्वारा] उच्च, उच्चतर व बुनियादी शिक्षण–प्रशिक्षण विद्यालयों तथा सार्वजनिक पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत।

साहित्य संस्थान राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर के लिये उमाशंकर शुक्ल अध्यक्ष, साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर द्वारा प्रकाशित एवं नारायणलाल गुर्जरगौड़ द्वारा विद्यापीठ प्रेस, उदयपुर में मुद्रित।

उदयपुर.

पुरातन इतिहास, पुरातत्त्व, साहित्य,
भाषा, दर्शन, कला व संस्कृति की
त्रैमासिक अनुसंधानिका

परामर्शदाता

डॉ॰ रघुवीरसिंह
डॉ॰ दशरथ शर्मा
डॉ॰ मोतीलाल मेनारिया
श्री रत्नचन्द्र अग्रवाल
श्री अगरचन्द नाहटा

इस अंक का मूल्य : तीन रुपया

वार्षिक | देश में— दस रुपया
विदेश में— पन्द्रह रुपया

शोध-पत्रिका

वर्ष २५, अंक ३-४
जुलाई-सितम्बर, १९७४
अक्टूबर-दिसम्बर, १९७४

सम्पादक
डॉ० देवीलाल पालीवाल

प्रबन्ध-सम्पादक
उमाशंकर शुक्ल

साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर

विषयानुक्रम

विश्व हिन्दी सम्मेलन

नागपुर में विश्व हिन्दी सम्मेलन बड़ी धूमधाम से सम्पन्न हुआ। लगभग १५ वर्षों पूर्व कोटा में अन्तिम अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन हुआ था। उसके बाद यकायक विश्व हिन्दी सम्मेलन का आयोजन एक सुखद आश्चर्य के रूप में सामने आया। विशेष बात यह रही कि इस सम्मेलन के आयोजन में केन्द्रीय सरकार एवं राज्य सरकारों ने कई प्रकार से सहयोग प्रदान किया इस देश में राष्ट्र-भाषा हिन्दी की आज तक जो भी स्थिति रही हो, विश्व हिन्दी सम्मेलन ने अवश्य हिन्दी के अन्तर्राष्ट्रीय महत्व को उजागर किया है। विश्व के लगभग हर भूभाग से हिन्दी प्रेमी, लेखक, शिक्षक एवं विद्वान इस सम्मेलन में शरीक हुए और सभी ने एक स्वर से हिन्दी के राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय महत्व एवं उपयोगिता को स्वीकार किया। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इस सम्मेलन से देश में राष्ट्रभाषा के आन्दोलन को विपुल बल एवं प्रोत्साहन मिला है और सम्पूर्ण देश में हिन्दी के लिये एक नवीन स्फूर्तिमय वातावरण बन गया है।

राष्ट्रीय दृष्टि से विश्व हिन्दी सम्मेलन के सुपरिणाम इस बात पर निर्भर करेंगे कि जिस उत्साह एवं प्रेरणा पूर्ण भावना और लगन के साथ सरकार, प्रशासन एवं हिन्दी भाषा के रचनाकारों, प्रचारकों एवं उन्नायकों ने सम्मेलन की सफलता के लिये कार्य किया, वे नवीन परि–स्थितियों एवं वातावरण का उपयोग करते हुए उसी उत्साह और लगन के साथ देश में हिन्दी की उन्नति एवं प्रसार के लिये कार्य करते रहें। इस बहु भाषा-भाषी देश में जहां लोगों में अपनी प्रादेशिक भाषा के प्रति अधिक लगाव मिलता है और कहीं कहीं ऐसी घटनाएं भी होती हैं जबकि अनावश्यक रूप से प्रादेशिक भाषा और राष्ट्रभाषा के बीच कलह का वातावरण बन जाता है तो सबके साथ भारतीय जनता के उच्च वर्गों में अभी तक अंग्रेजी भाषा का मोह बना हुआ है। भारत का धनिक वर्ग, शासक वर्ग और राजनीतिज्ञ अभी भी अंग्रेजी भाषा में पठन-पाठन और सम्भाषण को समाज में विशिष्ट स्थिति एवं अधिकार-भावना के रूप में स्वीकार करते हैं और उससे वे भारतीय गणतंत्रात्मक व्यवस्था से ब्रिटिश उपनिवेशवादी मनोवृत्ति को जारी रखने के लिये जिम्मेवर बने हुए हैं। निश्चय ही अफसरशाही सर्वाधिक रूप से आड़े आई है, किन्तु सरकारों द्वारा राष्ट्रभाषा के प्रयोग, प्रचार, प्रसार एवं उन्नति के लिए किये गये अधूरे, अनिश्चित एवं सतही प्रयत्न भी राष्ट्र

भाषा की स्थिति को कमजोर बनाये रखने के लिये कम जिम्मेवर नहीं रहे हैं।

विश्व हिन्दी सम्मेलन में जो बात सर्वोपरि रूप से उभर कर आई, वह थी संयुक्त राष्ट्र संघ में हिन्दी की स्थापना का प्रस्ताव। इस प्रस्ताव को देशी-विदेशी प्रतिनिधियों ने बड़े उत्साह से पारित किया। भाषा की व्यापकता के आधार पर ही राष्ट्र संघ किसी नई भाषा को अपनी स्वीकृति प्रदान करता है। व्यापकता का विचार इस दृष्टि से किया जाता है कि वह भाषा विश्व में कितने देशों में बोली जाती है कितने व्यक्ति बोलते हैं तथा उस भाषा का अन्तर्राष्ट्रीय महत्व कितना है। इस आधार पर उस भाषा की समर्थता सिद्ध होने पर भी आर्थिक पहलु रह जाता है एक भाषा को संयुक्त राष्ट्र संघ से अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में स्वीकार किये जाने पर सम्बन्धित देश के लिये यह आवश्यक होता है कि वह उस पर होने वाले खर्च को बड़ी सीमा तक स्वयं वहन करे। अरबी भाषा को जो संयुक्त राष्ट्र संघ में छठी भाषा के रूप में मान्यता मिली है, उसका बहुत बड़ा कारण अरब देशों की सम्पन्नता है। अरबी भाषा की स्थापना के लिये अरब देशों ने प्रथम तीन वर्षों का सम्पूर्ण व्यय संयुक्त राष्ट्रसंघ को दिया है। किन्तु इस दृष्टि से सर्वोपरि बात यह है कि केन्द्रीय सरकार स्वयं हिन्दी को कितना महत्व देती है? अबतक तो राष्ट्र भाषा का मामला निरन्तर अनिश्चित, उलझनपूर्ण एवं परस्पर विरोधी दबावों की राजनीति का शिकार बना रहा है। विश्व हिन्दी सम्मेलन के बाद भारत सरकार राष्ट्र भाषा के लिये क्या नये एवं ठोस कदम उठाती है, यह देखने परही कुछ कहा जा सकता है। कोई सन्देह नहीं है कि इन सब बातों के बावजूद इसमें राष्ट्रभाषा हिन्दी की समृद्धि तथा राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता की बात सर्वाधिक हिन्दी के अपने रचनाकारों एवं लेखकों की कर्तव्यपरायणता पर ही निर्भर करेगी। पं० जवाहर लाल नेहरू ने एक बार कहा था-'हिन्दी अपनी शक्ति से ही बढ़ेगी।' विश्व हिन्दी सम्मेलन की समाप्ति के बाद एक भेंट में हिन्दी के अनन्य सेवी श्रद्धेय काका कालेलकर ने कहा है कि हिन्दी को विश्व की सब संस्कृतियों सेसहयोग करने के योग्य बनाना है। विश्व मानवता की सेवा करने के लिये हिन्दी में विश्व के सब राष्ट्रों का वहां की जनता का और वहां की संस्कृति का परिचय देने वाला साहित्य तैयार कराना चाहिये। जिस तरह अनेक देशों के लोग अंग्रेजी साहित्य के परिचय के द्वारा अपने ज्ञान की वृद्धि करते हैं, वैसा ही साहित्य तैयार करने का आदर्श हिन्दी को रखना चाहिये।

—डॉ० देवीलाल पालीवाल

१८-१९ वीं शती में राजस्थान की वेशभूषा

[जयपुर स्थित महाराजा सवाई मानसिंह द्वितीय संग्रहालय में सुरक्षित वस्त्रों पर आधारित अध्ययन]

● डॉ० चन्द्रमणि

महाराजा सवाई मानसिंह द्वितीय संग्रहालय में राजा, महाराजाओं उनकी रानियों, परदायतों, दरबारियों और दास-दासियों के कई प्रकार के वस्त्र सुरक्षित हैं । इस संग्रह में केवल कीमती वस्त्र ही नहीं वरन् दैनिक जीवन में काम आने वाले घाघरे, ओढ़नियां, अचकन, पजामे और पगड़ी एवं साफे आदि भी हैं । यह भडार वस्त्र उद्योग के इतिहास की दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है ही, किन्तु १७—१९ वीं शती के सांस्कृतिक जीवन के अध्ययन के लिए विशेष महत्वपूर्ण है। विभिन्न उत्सवों पर शासक, उसके सामन्त, दरबारी एवं परिवार के लोग उस अवसर की निश्चित पोशाक पहनते थे, उनके रंग निश्चित होते थे, चुनरी और लहरिये में उसकी भांति निश्चित होती थी, यथा होली पर फागणिया, तीज एवं गणगौर पर पंचरंग लहरिया और दिवाली पर गोटा टंकी काली पोशाक ही पहनी जाती थी ।

पगड़ी :

पगड़ी मध्ययुगीन पोशाक का महत्वपूर्ण अंग थी, नंगे सिर बड़ों के सामने जाना उनका अपमान समझा जाता था अतएव समाज में ऊंचे-नीचे सभी के लिए पगड़ी अत्यावश्यक थी । अंगरखी या अचकन पहने बिना तो लोग दरबार तक में जा सकते थे किन्तु पगड़ी के बिना नहीं । पगड़ी प्रतिष्ठा की प्रतीक थी । पिता की मृत्यु के पश्चात द्वादशे के दिन समाज के सब भाई बांधवों के समक्ष ज्येष्ठ पुत्र के सिर पर पगड़ी रखने की विधि सम्पन्न की जाती थी जिसका अर्थ यह होता था कि परिवार की प्रतिष्ठा की जिम्मेदारी । जिसे मृत पिता ने इतने दिनों तक संभाल कर रखा, अब पुत्र के सिर आई अर्थात प्रतिष्ठा की रक्षा अब ज्येष्ठ पुत्र के हाथ में है ।

ये पगड़ियां विभिन्न प्रकार की होती थीं यथा सादी रंगी हुई अर्थात् एक रंग की, बंधेज में लहरिया, मोठड़ा और चुनरी भांत आदि की। रंगरेज लोग, एक खास प्रकार की पगड़ी को, जिसमें लाल रंग के लहरिये बने होते थे, "राजाशाही" पगड़ी कहते हैं, संभवतः पहले यह केवल राजाओं के लिए बनती हो। जयपुर राज घराने के कपड़द्वारे के पुराने कागजातों में भी "राजाशाही" नाम मिलता है। पगड़ी को पाग या पेंचा भी कहते थे। रंगीन पागों में "पंचरंग" पाग का विशेष महत्व था जो शुभ अवसरों–व्याह–शादी, रणयात्रा आदि के समय बांधी जाती थी। पंचरंग पाग में पांच रंग बहुधा नीला, पीला, हरा, लाल और काला होता था। कभी नीले में हल्के गहरे दो रग होते थे जिसमें गहरा नीला कालौंच लिए होता था। इन्हीं पांच रंगों से लहरिया, सलाईदार, गडादार या मोठड़ा आदि बनता था। ये अलंकरण कभी कभी तीन रंगों में भी बनते। राजस्थान के लोक साहित्य में पंचरंग पागों के उल्लेख भरे पड़े हैं यथा–

म्हारी भावज रो घमक्यो चूड़लो
म्हारी वीरा जी री पचरंग पाग

तथा

सुपना में देख्या भंवर जी ने आवता जी
कोई माथे पंचरग जी पाग

तथा

बांकी बांकी पेंच राठोड़ां नी सोहे
पंचरंग पाग ढूंढार भूपाल

कसूमल या लाल और पीले या वसंती रग की पाग भी शुभ अवसरों या प्रतिदिन बांधने के काम आती थी। यद्यपि पगड़ी सभी वर्ग और जाति वालों के लिए आवश्यक थी किन्तु अपनी २ जाति के अनुसार पगड़ी की बधेज या बांधने का ढंग अलग अलग था। यह विभेद कई अन्य प्रकार का भी था यथा क्षेत्रीय जैसे उदयपुर की पगड़ी चपटी होती थी तो जयपुर की खूंटेदार और इसी तरह जोधपुर एवं बीकानेर आदि रियासतों की पगड़ियों की बधेज भी अलग थी। १९ वीं शती के उत्तरार्द्ध और २० वीं शती के पूर्वार्द्ध में जयपुर में म० माधोसिंहजी के समय में यह प्रथा भी शुरू हुई कि राजा या उनके प्रमुख सभासद जिस ढंग से पगड़ी बांधते थे, उसी प्रकार उनके मुसाहिब भी बांधने लगे। इस प्रकार की बधेजों में "सिकन्तर शाही" बंधेज प्रमुख है। जयपुर में कई वृद्ध लोगों को मैंने सिकन्तरशाही पगड़ी की चर्चा करते सुना, मुझे उत्सुकता हुई तो पूछा कि सिकन्तरशाही से क्या तात्पर्य है, उन्होंने कहा कि म० माधोसिंहजी के सेक्रेटरी थे नन्द किशोर जी, वह ऐसी पगड़ी बांधते थे और उन्हीं सेक्रेटरी का अपभ्रंश सिकन्तर और उनकी पगड़ी के बंधेज का "सिकन्तरशाही" बन गया।

पगड़ी पर राजा और उनके सरदार लपेटा बांधते थे, जो समय और पहनने वाले की आर्थिक स्थिति के अनुसार किमखाब का, जरी के कामयुक्त, छपा या रंगा होता था। आम लोग भी सर्दियों में कान ढकने के लिए पगड़ी के ऊपर दुपट्टा बांध लेते थे। पगड़ी पर गोटा "टंका" होता था। इस संग्रहालय की प्रदर्शित पगड़ियों की बंधेज खूंटेदार है। उन पर गोटे और सरावंडे लगे हैं। कभी कभी इनमें पल्लू भी लगता था। जयपुर में म० मानसिंहजी के समय में पगड़ी का बधेज बदल गया था और "खूटेदार" पगड़ी की जगह लगभग सपाट पगड़ी बंधने लगी जिसे आम बोल चाल में "जयपुर शाही" कहा जाता था। म० मानसिंहजी की पगड़ी में गोटा या बादला लगा होता था।

पगड़ी बांधना सबको नहीं आता था, इस विषय में यह उक्ति प्रसिद्ध है—राग रसोइया पागड़ी, कभी कभी बंध जाय" अर्थात् संगीत, भोजन बनाने की कला तथा पगड़ी की बधेज कभी कभी ही ठीक होती है। अतएव इस काम के लिए बाजार में पगड़ी की दुकान वाले बधेरों को नौकर रखते थे जो पगड़ी बांधने का ही काम करते थे। राज महलों में भी जैसे जयपुर के सिटी पैलेस में भी पगड़ी बांधने के लिए बंधेरे नियुक्त थे।

पगड़ी की शोभा बढाने के लिए कई प्रकार के गहने यथा सरपेंच, कलगी, चन्द्रमा आदि पहने जाते थे। दुल्हे की पगडी में तोड़ा लगता था, तोड़ा बादले का बनता था जिसमें बादले की ही फुंदियां लगी होती थीं।

इस सग्रह में सांगानेरी छपाई की कई पगड़ियां है जो अपनी बूटियों और कपड़े के कारण १८ वीं शती के उत्तरार्द्ध या १९ वीं शती के पूर्वार्द्ध की जान पड़ती हैं, इनके अतिरिक्त म० स० माधोसिंहजी के समय की भी कई खुली और बंधी हुई पगड़ियां हैं। २० वीं शती में पगड़ी का स्थान साफे ने ले लिया और शुरू के कुछ वर्षों में दोनों का ही प्रचलन था किन्तु आज तो केवल कुछ परम्परावादी वृद्ध या ग्रामीण समाज ही पगड़ी या साफा बांधता है। अथवा विशेष अवसरों पर लोग साफा या पगड़ी का प्रयोग कर लेते हैं।

१९ वीं शती के उत्तरार्द्ध से पगड़ी या साफे के स्थान पर टोपियों का रिवाज चल गया, लोग दुपलिया टोपी पहनने लगे। आमतौर से ये टोपियां सादी होती थी। किन्तु राजे-महाराजे और सम्पन्न वर्ग के लोग किमखाब, साटन रेशम आदि की टोपियां भी पहनते थे जिन पर कलाबत्त से सुईकारी हुई रहती थी या गोटा आदि टंका होता था। एक विशेष प्रकार की टोपी खांखसेनुमा टोपी कहलाती थी। खांखसा कंधा को कहते हैं और पुराने ढ़ग के कंधों—जैसे ही इसका आकार होता था। इस संग्रह में टोपियों के कई उदाहरण हैं जिनमें से अधिकांश खांखसेनुमा है।

अंगरखी

पगड़ी और विभिन्न शिरोवस्त्रों के बाद पहनने के वस्त्र आते हैं— आमतौर पर लोग अंगरखी पहनते थे जिसके सामने की काट गोल होती थी और इसमें बांधने के लिए बंद या कसें लगी होती थीं। कभी कभी अंगरखी की काट गोल न होकर लंबोतरी होती थी और कई बार यह काट–गोल या लंबोतरी दोनों ही बन्द होती थी और कसों की जगह सामने घुंडिया होती थी अर्थात काट तो होती थी किन्तु उस पर परदा सिल दिया जाता था, उसे खुला नहीं रखा जाता था, और अंगरखी सामने से खुली रहती थी— जिसमें कई घुंडिया लगी होती थीं। संभवतः यह अंगरखी और अचकन के बीच की चीज रही होगी। पहले तो काट वाली अंगरखियां बनती रही होंगी। किन्तु कुछ वर्षों के बाद जब लोगों ने इस फैशन में फेर बदल की आवश्यकता अनुभव की होगी तो काट का परदा उसी पर सिल दिया जाने लगा होगा और सामने से खुली अंगरखी बनने लगी होगी। लंबोतरे काट की अगरखियों के सम्बन्ध में श्री गुलाबचन्दजी भूतपूर्व मुशरफ, कपड़ द्वारा, जयपुर राजघराना, ने बताया कि ये अंगरखियां ग्वालियर से बन कर आती थीं और मराठा चाल की कहीं जाती थी। इस प्रकार के कई उदाहरण संग्रह में हैं जिसमें उनके काम की रेशमी अंगरखी उल्लेखनीय है।

लम्बाई की दृष्टि से अगरखी दो प्रकार की होती थी-एक कमरी अंगरखी और दूसरी बंधेज की अंगरखी। कमरी अंगरखी की काट तो अंगरखी जैसी ही होती थी केवल उसकी लम्बाई कमर तक होती थी इसीलिए उसे कमरी अंगरखी कहते थे और साधारण अगरखी की लम्बाई घुटने तक होती थी। अंगरखी का कपड़ा आम तौर से सूती होता था, और अपनी अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार लोग महीन और मोटे कपड़े की अंगरखी बनवाते और पहनते थे। बधेज की अंगरखी का बड़ा प्रवचन था कभी पूरी अंगरखी लाल या काली रंग की होती जिसमें सफेद पीले, डुबके होते और कभी दामन में पुतली आदि भांत की वेल बनी होती—और ऊपरी हिस्सा दूसरे रंग का होता। समृद्ध वर्ग रेशमी कपड़े की अंगरखी भी पहनते थे और अपनी रुचि तथा स्थिति के अनुसार रेशम या कलाबत्तू से कढ़ाई करवा लेते थे या बांहों में, किनारों पर, गले पर बेल या चीप लगवा लेते थे। जरी की बैलों को, जिनमें कलाबत्तू तथा रेशम का बहुरंगी काम होता था, जयपुर में 'दिवाले की वेल' के नाम से जाना जाता है। यद्यपि बनारसी कारीगर (अधिकांश बेलें बनारसी है) इन्हें मीनाकारी की बेल कहते हैं। एक प्रकार की अंगरखी जिसके गले, कधे और पीठ पर काम होता था फर्रुखशाही कहलाती थी। सम्भवतः मुगल बादशाह फर्रुखशियर के नाम पर इसका नाम फर्रुखशाही पड़ा। संभव है, उसे यह काट और कढ़ाई का ढंग विशेष प्रिय रहा हो। यह कढ़ाई कलाबत्तू या रेशमी धागों से होती थी।

इस संग्रह में सुरक्षित दो अंगरखियां उल्लेखनीय है। संख्या टी० सी० । ए–५–१६ वीं शती की इस अंगरखी का कपड़ा लाल रंग का है जिस पर सुनहरे तारों से झाड़ बूटा बना हुआ है। इसकी बांहे खुली हुई हैं जिन पर सुनहरी घुंडियाँ लगी हैं।

इस अंगरखी में हरे और फालसई रंग के सलाईदार रेशमी कपड़े का अस्तर और लाल रेशमी कपड़े का संजाव लगा है।

एक दूसरी अंगरखी, जिसकी संख्या टी० सी० । ए-१३ है, में फालसई रंग की जमीन पर छोटी-छोटी सुनहरी बूटियां बनी है। इस प्रकार की अंगरखी बहुधा १९ वीं शती के पूर्वार्द्ध के चित्रों में दिखाई देती है।

बाद में १९ वीं शती के उत्तरार्द्ध और २० वीं शती के पूर्वार्द्ध में जयपुर तथा अन्य उत्तर भारतीय रियासतों में जाली की अंगरखियों का बड़ा प्रचलन था। इन पर गोटे आदि टंके होते थे और रंग बिरंगे रेशमी तागों से आड़ी या सीधी बेल तथा फूल पत्तियां होती थीं। कलात्मक दृष्टि से ये अंगरखियां, तजेब, बघेज, जामदानी और रेशमी अंगरखियों की तुलना में अत्यन्त निम्न स्तर की जान पड़ती हैं किन्तु कला के अन्य क्षेत्रों की भांति उस समय वस्त्रों में भी लोगों की रूचि उतनी परिष्कृत नहीं रही और समाज का सभी वर्ग क्या सामान्य क्या समृद्ध विलायती कपड़ों को अधिक महत्व दे रहा था, भले ही वे कैसे भी हों ये अंगरखियां उसी युग की रूचि की परिचायक हैं।

अंगरखी का ही उत्तर रूप अचकन है; अचकन में कली तो होती थी किन्तु बटन सीधे लगते थे और जब ये कलियां भी निकाल दी गई तो आधुनिक शेरवानी बन गई जिसे हम आज देखते हैं।

चुगा:—अंगरखी के ऊपर सम्पन्न वर्ग चुगा पहनते थे जो प्रायः रेशमी या किमखाब वगैरह का होता था। चुगा हमेशा पहनने की पोशाक नहीं थी, कहीं जाने के वक्त, विशेष अवसरों पर रेशमी, सूती कढ़े हुए या किमखाब वगैरह के और ठंड के मौसम में ऊनी चुगे पहने जाते थे। इसकी उपयोगिता यूरोपीय समाज के कोट जैसी थी जैसे विशेष अवसरों पर सर्दियों में ऊनी और गर्मियों में हल्के कपड़े का कोट-सूट पहना जाता है। चुगा में बटन के स्थान पर घुंडियां लगाई जाती थीं और बटन के काज के स्थान पर बहुधा जरी के गोल फंदे बने होते थे जिनमें घुंडियां फंसा दी जाती थीं। चुगों का इतना प्रचलन था कि ढाका और बनारस के कारीगर, काट के अनुसार चुगा का थान तैयार करते थे जिसमें कंधे, दामन और पीठ पर कैरी, सरोवृक्ष पान या मुकुट आदि अलंकरण बने होते थे। दर्जी फिर उसी के हिसाब से सिलाई करता था। चुगे या अचकन के ये टुकड़े आजकल के ड्रेस पीस की तरह होते थे। कैरियों के अन्दर प्रायः फूल पत्तियां बनती थी किन्तु कभी कभी इनके अन्दर बड़े सुन्दर शिकारगाह के अलंकरण भी होते थे। भारत कला भवन संग्रह काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय में एक इस प्रकार का चुगा है जिसके दामन में, कंधे और पीठ पर कलंगा या केरी बूटा बना है— बूंटों के अन्दर व बाहर शिकारगाह अलंकरण बना है जिसमें पशु पक्षियों की आकृतियां बड़े ही मनोहारी ढ़ंग से बुनी गई हैं। विशेष अवसरों पर पहने जाने वाले ऐसे

कई चुगे सवाई मानसिंह संग्रहालय में संग्रहीत हैं जो मुख्यतः बनारस के किमखाब के ही बने हैं। यद्यपि अपने सुन्दर अलंकरणों और लुभावने रंगों के कारण वे सब उच्च कोटि के हैं किन्तु उन सबका वर्णन करना यहां असम्भव है अतएव दो तीन उदाहरण दिए जा रहे हैं।

संख्या टी० सी०। ए०-१० बनारसी किमखाब का बना चुगा है जिसमें मखनियां रंग की जमीन पर कैरी आकृति की मीनाकारी की बूटियां है। सामने सरोवृक्ष की आकृति वाले दो बड़े बूटे और कन्धे पर मुकुट बूटे हैं। मोहरी में गले एवं सामने तथा नीचे सलाईदार ज़री के कपड़े की दुहरी पट्टी लगी है। इस चुगे में सफेद सिल्क का अस्तर और गहरे हरे रेशमी कपड़े का संजाब लगा है।

संख्या टी० सी०। ए-१४ भी बनारसी किमखाब का ही चुगा जिसमें लाल जमीन पर सुनहले तारों से छोटी-छोटी बूटियां बनी हैं। मोहरी पर सामने, गले और दामन में मीनाकारी की बेल टंकी है। इस चुगे में फालसई रंग के रेशमी कपड़े का अस्तर और पीले रेशमी कपड़े का संजाब लगा है।

इसी प्रकार के एक अन्य बनारसी कपडे से बने चुगे (सं० टी० सी०। ए-७ में मखनिया रंग की ज़मीन पर सुनहरे तारों से बादरुम का जाल बना है।

संख्या टी० सी०। ए०-१५ भी बनारसी किमखाब का चुगा है जिसमें मखनियां रंग पर सुनहरे तारों की बूटियां बनी हैं। सामने सरोवृक्ष की आकृति वाले अलंकरण हैं, दामन में कोनियां हैं, कंधों पर पर मुकुट बूटा और पीछे दुहरा मुकुट बना है। चारों ओर कैरी की बेल है जो जरी तारों और नीले रेशमी तारों से बनी है इस बेल के आगे सलाईदार जरी कपड़े की दुहरी पट्टी लगी हैं। चुगे के सामने दो जरी घुड़ियां है और बैंगनी रंग के रेशमी कपड़े का अस्तर तथा हरे रेशमी कपड़े का संजाब लगा है। इस पर कपड़द्वारे में जमा होने का टिकट भी लगा है, जो इस प्रकार है "चुगो सपेद कीमत ३४०) रुपये जमामिति सावण बुदी १० संबत १९२६ खरीद बंदे अली सौदागर बनारस का की थान।[1]"

सर्दी के मौसम में ऊनी चुगे पहने जाते थे, आमतौर से इन पर सुईकारी का काम होता था। सुईकारी रेशमी धागों या कलाबत्तू तारों से की जाती थी तथा समाज के विभिन्न वर्गों के अनुसार चुगे कम और अधिक कढ़े होते थे। सिटी पैलेस संग्रहालय में महाराजाओं के कई ऊनी चुगे सुरक्षित है, जिनमें अधिकांश पर कलाबत्तू से सुईकारी का काम है। हरे रंग के एक उनी चुगे में सुनहले तारों से पूरे में बादरुम का जाल बना है जिसके अन्दर छोटे छोटे-फूल कढ़े हैं।

१९ वीं शती का एक अत्यन्त ही जीर्ण चुगा इस संग्रह में है, संख्या टी० सी० ४३१-७३, इसे बनारसी चुगे के थानों की तरह ही चुगे की काट के अनुसार बुना गया

और फिर उसी के अनुसार इसकी सिलाई हुई। भूरे रंग के पशमीने के इस चुगे में विविध रंगों से काश्मीरी शैली के अलंकरण बाहों कंधों और पीठ पर बने हैं। दामन में चारों ओर बहुरंगी बेल है। इस चुगे में तसर का अस्तर और अबीरी रंग के रेशमी कपड़े का संजाब लगा है। आमतौर से ऐसे उनी चुगों में दो अस्तर लगाए जाते हैं। एक अच्छे कपड़े का जो बाहर दिखता है और दूसरा जो उसके अन्दर रहता है। अन्दर रहने वाला कपड़ा साधारणतया मोटा सफेद कपड़ा होता है। इस चुगे में भी वैसा ही है।

गर्मियों के लिए तनजेब और जामदानी के चुगे बनते थे। जामदानी तो बूटी या बेलदार होती ही थी, तनजेब के चुगों पर रेशमी या सूती धागों या कलाबत्तू के तारों से कढ़ाई की जाती थी चूंकि तनजेब या जामदानी चुगे गर्मी या बरसात में काम आते थे, अतः इन पर मौसम की दृष्टि से कढ़ाई का काम भी कम होता था–प्रायः दामन में, कंधे पर पीठ पर हल्की कढ़ाई की जाती थी। सिटी पैलेस संग्रह में इस प्रकार के भी कई चुगे हैं जिनमें तनजेब पर सुनहरे तारों से कढ़ाई की गई है, कुछ चुगों में सूती तागों से भी सुईकारी की गई है।

तेज सर्दी में इन चुगों पर पुरुष "आतम सुख" पहनते थे। "आतमसुख" चुगे से थोड़ा बड़ा होता था, इसमें बीच में रुई होती थी, इसकी बांहें छोटी और पतली होती थीं क्योंकि आमतौर से लोग इन्हें हाथ में नहीं पहनते थे, ओढ़कर बैठ जाते थे या चलते समय केवल ओढ़े रहते थे। इसकी उपयोगिता बहुत कुछ काश्मीरी 'फिरन' जैसी होती थी। १९ वीं शती के पूर्वार्द्ध तक रेशमी या सूती कपड़ों के आतमसुख का ही प्रचलन था किन्तु बाद में राजा–महाराजाओं तथा सम्पन्न वर्ग में जब विलायती कपड़े पहनने की होड़ लगी तो विलायती छींटों और मखमल का भी प्रयोग होने लगा। म० ख० मानसिंह द्वितीय संग्रहालय में सुरक्षित एक आतमसुख यहां उल्लेखनीय है जिसका समय संभवतः १८ वीं शती का मध्य है। हल्के लाल रंग के सुनहले बूटीदार कपड़े के इस आतमसुख की सिलाई बड़ी सादी है। केवल दामन एवं गले में तथा बांहों में सुनहली बेल लगी है। कहा जाता है कि महाराजा माधोसिंह प्रथम इसे पहना करते थे। यद्यपि ऐसा कहने के लिए कुछ निश्चित प्रमाण नहीं हैं किन्तु महाराजा माधोसिंह के असाधारण शारीरिक बनावट जैसाकि चित्रों में मिलता है– को देखते हुए यह तथ्य असंगत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि इस आतम सुख की लम्बाई–चौड़ाई भी असाधारण है।

जामा

ब्याह शादी या युद्ध के अवसरों पर जामा पहनने का रिवाज था। जामा में ऊपर चोली होती थी और नीचे घेर जो घुटनों तक आता था। यह विशेष अवसरों पर पहनने की पोशाक थी हमेशा पहनने की नहीं। अर्थात् दरबार आदि में लोग जामा पहन कर जाते थे किन्तु घर पर हमेशा कोई जामा नहीं पहने रहता था। १९ वीं शती के उतरार्द्ध तक या

यों कहा जाए कि अकबर के पूर्व तक चाकदार जामा दरबारी पोशाक था जिसे कचोटिया जामा भी कहते थे। इस प्रकार के जामे का घेरा नीचे बराबर न होकर कोनदार होता था। १६ वीं शती के मुगल चित्रों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि अकबर ने इसे बदल कर गोल घेर वाले जामे को अपनी दरबारी पोशाक बनायी। क्योंकि आरंभिक अकबर काल में ये जामे कोनदार ही हैं बाद में "अकबर नामा" "बाबर नामा" आदि ग्रन्थ चित्रों में गोल घेर के जामे बनाए गए हैं।

पहले जामें घुटने तक लम्बे होते थे किन्तु बाद में इनकी लंबाई बढ़ने लगी, मुगल दरबार में इसका फैशन लम्बा होने से अन्य मुसाहिब, सरदार तथा उनकी प्रजा ने भी वही फैशन अपनाया और जामें की लम्बाई बढ़ती बढ़ती ऐसी बढ़ी कि मुहम्मद शाह (१७१९–१७४८) के जमाने में और अवध के नवाबों के समय में जामा जमीन तक नीचे होने लगा जिसमें से पैर भी बड़ी कठिनाई से दिखाई देते थे। सिटी पैलेस संग्रह में स्व० महाराजा प्रतापसिंह जी (१७७९–१८०३) का जामा सुरक्षित है, इसके साथ "बीटली"[१] भी है जिससे अनुमान लगाया जाता है कि यह पोशाक महाराजा के विवाह की होगी। मलमल का यह जामा लालरंग का रहा होगा, जो अब हल्का हो गया है। इस पर रूपहला गोटा लगा है और हरे रंग के सोनकिखा के पंख भी लगे हैं जिससे गोटे का सौन्दर्य बढ़ गया है। इसके लावन में नौदाने का लप्पा और किनारे पर बादले के मोती लगे हैं। जामें की चोली में बंद लगता था जिसे "कस" भी कहते थे और बटन की जगह इन्हें ही बांध लेते थे। बंद में अन्दर एक बाँधने वाला हिस्सा होता था। किन्तु और कलियां केवल दिखाने के लिए लटकती रहती थीं। उपर्युक्त संदर्भ में इस संग्रह का एक और जामा उल्लेखनीय है। जिस पर हरे रेशम और रूपहले तारों से कलाबत्तू का काम किया गया है।

अंगरखी पहनने के बाद सर्वसाधारण वर्ग कंधे पर दुपट्टा रखते थे, ये दुपट्टे सादे और छपे दोनों ही प्रकार के होते थे। कभी-कभी पूरे दुपट्टे में छोटी छोटी बूंटियां, पल्लू में बड़े बूटे और दोनों ओर पतली बेल छपी होती थी कभी होद सादा एवं केवल पल्लू और पतली बेल ही होती थी। पुरोहित या ब्राह्मण वर्ग अपने-अपने मतों के अनुसार "राम राम", "नमः शिवाय" या "हरे कृष्ण" वगैरह छपा हुआ दुपट्टा ओढ़ते थे।

इस संग्रह में केवल बेल छपे और पूरे छपे दुपट्टों के अतिरिक्त रामनामी और नमः शिवाय वाले दुपट्टे भी बहुत हैं। ये प्रत्येक वर्ष महाराजा, महारानी तथा राज परिवार के सदस्यों के जन्म दिवस पर ब्राह्मणों की ओर भेंट किए जाते थे। ब्राह्मण अपने

---

१ "बीटली" कपड़े की प्रायः ६ इंच लम्बी पट्टी होती है जिसे लप्पा टांक कर ढंक दिया जाता है अर्थात उस पर उतना ही चौड़ा लप्पा लगा दिया जाता है। यह "बीटली" वर-वधू के गठ-बंधन के लिए होती है। वधू की चादर का छोर इसी बीटली से बंधा होता है।

इष्ट. देवता के नाम छपे हुए दुपट्टे लाते थे जैसे शिव मन्दिर के महंत "नमः शिवाय" के और राधा गोविन्द मन्दिर वाले "राधा गोविन्द" छपे हुए इत्यादि। इन पर विभिन्न मतों के अनुसार प्रतीक भी बने होते थे यथा नमः शिवाय के साथ धतूरे के फूल, बेल पत्र, त्रिशूल, त्रिपुंड, ध्वज आदि बने होते थे और राधा गोविन्द वाले दुपट्टों में पद-चिन्ह, कमल-फूल आदि।

जामा या अंगरखी के ऊपर कमर बन्द या पटका बांधने की प्रथा थी, जिसमें तलवार या कटार लटकती होती थी। चित्रों में देखने से ज्ञात होता है कि १६–१७ वीं शती में पटका या कमरबन्द अधिक लम्बा चौड़ा न होता था, इसके दोनों पल्लू पर कढ़ाई, छपाई या बुनाई के माध्यम से सजावट हुई होती थी। १७ वीं शती के पहले के पटके अप्राप्य हैं किन्तु चित्रों में इनके अंकन के आधार पर कहा जा सकता है कि इन पर तत्कालीन रूचि और प्रथा के अनुसार ज्यामितिक अलंकरण बने होते थे। १७ वीं शती के उदाहरणों से ज्ञात होता है कि सर्व साधारण तो सूती प्रायः मलमल के पटके काम में लाते थे जो छपे या कढ़े होते थे। कभी–कभी बुनते समय करवे पर ही पल्लू और बेल बुनी जाती थी। सम्पन्न वर्ग उत्तम सूती, रेशम और सर्दियों में ऊनी पटके भी काम में लाते थे। इसी प्रकार अकबर काल के बाद अलंकरण भी बदल गए १६ वीं शती के ज्यामितिक अलंकरणों का स्थान फूल पत्तियों के संयोजन ने ले लिया। १८–१९ वीं शती में पटकों की लम्बाई चौड़ाई अधिक हो गई थी और कई प्रकार के पटके प्रचलित हो गए थे, यथा कुछ लोग चौकोरों को दुहरा कर तिकोना बना लेते थे और पटके की जगह काम में लाते थे, ऐसे पटकों की लम्बाई चौड़ाई डेढ़ से दो मीटर के बीच होती थी।

इस संग्रह में उपर्युक्त प्रकार के दो पटके हैं जिन पर गंगा–जमनी का काम है। शो केस सं० ५० में प्रदर्शित उदाहरण में फालसई रंग के होद में बादरूम का जाल बना है जिसके बीच छोटे छोटे सुनहले रूपहले फूल बने हैं। चौड़ी पोपट भांत की किनारी और पल्लू ऊपर से टंका है। उसी शो केस के दूसरी ओर प्रदर्शित पटके में गहरे नीले रंग की जमीन पर पत्तियों का सुनहला जाल है जिसके बीच–बीच में रूपहले फूल बने हैं। किनारी में गंगा–जमनी का हीरा जाल है और दोनों ओर चौड़ा पल्लू हैं।

पुरुष वर्ग अंगरखी पर नीचे धोती या चूड़ीदार पजामा पहनते थे। पजामों में विशेष सजावट नहीं होती थी, सूती पजामों में लाल काले रंग की सींकिया गोट लगाई जाती थी और किमखाब या अन्य कीमती कपड़ों के पजामे की मोहरी पर बेल टंकी होती थी। जो रेशमी या जरी दोनों ही प्रकार की होती थी।

---

१ कमरबन्द

स्त्रियों के वस्त्र

स्त्रियां साधारणतया नीचे घाघरा और ऊपर कुर्ती-कांचली पहनती थीं जिस पर ओढ़नी ओढ़ती थीं, जिन्हें जयपुर में लुगड़ी भी कहते हैं। घाघरे में कलियां होती थीं जिन्हें इस प्रकार जोड़ा जाता था कि संकरा हिस्सा ऊपर आ जाए और चौड़ा हिस्सा नीचे चला जाए, इस प्रकार नीचे खूब घेर हो जाता था। घाघरे ऊँचे होते थे जिससे कि पांवों के सारे गहने दिखाई दें। घाघरे में नीचे कपड़े को मोड़ने की जगह संजाब या पट्टी लगाते थे और ऊपर मगजी। राजा, सामंतवर्ग और सम्पन्न परिवार की स्त्रियां मलमल, साटन, किमखाब के घाघरे पहनती थीं किन्तु सर्व साधारण में तो मोटे सूती कपड़े के घाघरों का ही प्रचलन था। घाघरे के लिए छपे लाल, नीले और हरे टुकड़े आते थे जिन्हें "मैण की फड़द" कहते थे यह कपड़ा मारकीन या रेजी होता था, जो प्रायः हरे, नीले या लाल रंग का होता था और जिस पर छपाई होती थी। लाल पर बहुधा काले से सलाईदार और हरे एवं नीले रंग की फड़द पर लाल और पीले-एक या कभी कभी दोनों रंगों से छपाई होती थी। ये फड़द अभी भी बनते हैं और घाघरे बनाने के काम आते हैं। आधुनिक समाज में भी इनकी बड़ी मांग है।

ऊपर स्त्रियां कांचली पहनती थीं और उसके ऊपर कुर्त्ती, बाहें कांचली में ही होती थीं और कुर्त्ती हमेशा ही बिना बांहों की होती थी।

ओढ़नी या लुगड़ी की लम्बाई प्रायः ढ़ाई से तीन मीटर चौड़ाई डेढ़ से पौने दो मीटर होती थी जिससे कि घूंघट निकालने पर भी ओढ़नी नीचे घाघरे तक रहती थी। इनके पल्लों, किनारों और बहुधा होद में भी छपाई, कढ़ाई या बुनाई द्वारा सजावट की जाती थी। गोटे, लप्पे या फीते आदि टांक कर भी इन्हें अलंकृत किया जाता था। सांगानेर से छपी ओढ़नियों में आमतौर से होद में छोटी-छोटी बूटियाँ, पतली किनारे और दोनों पल्लों पर सोसन के फूल के बड़े बूटे, उसके पौधे, नरगिस के पौधे, धतूरे के पौधे या विभिन्न प्रकार के फूलों के संयोजन से बने केरी के बूटे बने होते थे। सलाईदार भांति की छपी ओढ़नियों में लहरिया मोठड़ा और चुंदरी में ओढ़नियां बनती थी। ओढ़नियां सभी तरह के कपड़ों की आती थी और समाज में लोग अपनी-अपनी वित्तीय स्थिति और जातीय प्रथाओं के अनुसार पहनते थे। रानियों एवं ठकुरानियों आदि की ओढ़नियां बड़े सूफियाने ढ़ंग की होती थीं जो बहुत अच्छे किस्म के मलमल या अच्छे रेशमी कपड़े की होती थीं। व्यापारी वर्ग की स्त्रियों में गोटे, लप्पे का प्रचलन, अधिक था, वे कलावत्तू से कढ़ी ओढ़नियां अधिक पसन्द करती थीं। उच्च वर्ग की स्त्रियां पुरुषों के जैसे कमरी अगरखी भी पहनती थीं केवल इनके काट में थोड़ा अन्तर होता था और लम्बाई प्रायः पुरुषों की कमरी अंगरखी जितनी ही होती थी। ये जनानी कमरी अंगरखियां अधिकतर एक रंग के कपड़े की बनती थीं, इनके बांहों, गले और किनारों पर संजाब और सीकिया गोठ लगी होती थी,

सर्दी के मौसम के लिए ऐसी रुईदार अगरखियां भी बनती थीं। यद्यपि स्त्रियों की पोशाकों में बहुत अधिक विभिन्नता न थी किन्तु उन्हें नाना भांति से सजा कर बहुत आकर्षक और विविध बना लिया जाता था, वर्ष भर में आने वाले पर्व-त्यौहारों पर अलग-अलग ढंग के रंगे और छपे वस्त्रों को पहनने का विधान था-दिवाली पर गोटा टंकी काली ओढनी, और कुर्ती-कांचली, तीज पर पंचरंग लहरिया की तथा होली पर फागणियां ढंग की रगी पोशाक स्त्रियां पहनती थीं।

इस संग्रह में प्रायः सभी प्रकार की पोशाकें सुरक्षित हैं-शो केस सं०७५ में प्रदर्शित पचरंग लहरिये के घाघरे, कुर्ती-कांचली और ओढ़नी की पूरी पोशाक है। जिसमें गंडादार लहरिया बना है तथा गोटे, गोखरू एवं किरन से इसे सजाया गया है।

उपर्युक्त शो केस में ही दिवाली की पोशाक भी रखी है जो काले रंग के सूती कपड़े की है और उस पर गोटा लगा है ओढ़नी में अत्यन्त ही सुन्दर चार और आठ पंक्तियों वाले फूलों का भराव है। घाघरे के घेरे में गोटे से चौखाना बना है जिसमें छोटे-छोटे फूल हैं और घाघरे के ऊपरी हिस्से में गोटे की सीधी धारियां बनी है।

इस संग्रह में बच्चों के कपड़े प्रायः नहीं के बराबर हैं। किन्तु इस संदर्भ में एक पचकाला कुरता उल्लेखनीय है, जो तास का बना है, संभवतः यह किसी विशेष अवसर पर पहना जाता होगा क्योंकि यह रोजमर्रा की पोशाक नहीं लगती। सर्दियों में बच्चे रुईदार "घूघी" पहनते थे। घूघी सिर से लेकर पांव तक लम्बी पोशाक होती थी जो सामने से खुली होती थी, सिर पर टोपी बनी होती थी, ऊपर दिखने वाले हिस्से में तो बहुधा अच्छी छींट या किमखाब ही काम में लाया जाता था किन्तु अस्तर के लिए मोटा रंगीन कपड़ा, जो प्रायः लाल या हरा एक रंग का था, जो प्रयुक्त होता था।

प्रायः १६ वीं के पूर्वार्द्ध से १९ वीं शती के उत्तरार्द्ध तक उत्तर भारत में यही वेशभूषा प्रचलित थी। अंगरेजों के आने के बाद धीरे धीरे उनके वस्त्रों का प्रचलन उच्च तथा धनी वर्ग में बढ़ा और बाद में सर्व साधारण ने भी पश्चिमी वस्त्रों को अपना लिया। पारंपरिक वस्त्र पहले तो ब्याह शादी तथा अन्य अवसरों पर प्रयुक्त होते थे किन्तु अब धीरे-धीरे यह प्रथा भी उठती जा रही है। इसका कारण है-आधुनिक समाज की भिन्न प्रकार की आवश्यकताएं-आज के औद्योगिक युग में भारी वस्त्र उतने उपयोगी नहीं सिद्ध होते उदाहरणार्थ अब मध्यम श्रेणी की स्त्रियां, जो प्रायः दफ्तरों में काम करने लगी हैं, भारी घाघरे पहन कर दौड़ते भागते बस और ट्राम का सफर नहीं कर सकतीं। इसी प्रकार पुरूष वर्ग भी ऐसे कपड़े पहनना पसंद करता है जो आज के तेज जीवन के अनुरूप हो।

रजिस्ट्रार, महाराजा सवाई मानसिंह
द्वितीय संग्रहालय, सिटी पेलेस, जयपुर

सूरति मिश्र का टीका-साहित्य*

● डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

४ जोरावर प्रकाश

सूरति मिश्र ने केशवदास कृत 'रसिक-प्रिया' की टीका 'जोरावर प्रकाश' नाम से व्रज भाषा गद्य में लिखी है। आरम्भ में गणपति की वंदना में उन्होंने एक छंद प्रस्तुत किया है, तत्पश्चात् २१ दोहों में आश्रयदाता और उसके वंश का वर्णन है। उन्होंने लिखा है कि बीकानेर एक प्रसिद्ध, पवित्र और शुभ स्थान है। वहां पर लक्ष्मीनारायण परम अभिराम इष्ट हैं एवं लोग गणेश देवता की सेवा करते हैं। वहां नागनेची देवी रात-दिन सहायता करती है। दुःखों को हरने वाली और सुख देने वाली करणीमाता की लोग पूजा करते हैं। वहां सदा गुणों की चर्चा और धर्म का प्रचार होता रहता है। ऐसे पवित्र नगर में जोरावरसिंह राज्य करते हैं। वे सभी विद्याओं में निपुण और अद्वितीय हैं। वे वेद, ज्योतिष न्याय एवं कविता का आनन्द लेते हैं। मुझ पर उन्होंने विशेष कृपा की है।[1]

---

* गतांक में प्रकाशित लेख का शेषांश

१ देखिए, जोरावर प्रकाश, हस्तलिखित प्रति, सम्पादक डॉ० दिनेश, दोहा २-६

राजा जोरावरसिंह के वंश का वर्णन करते हुए सूरति मिश्र ने लिखा है कि सूर्यवंश में 'जोध' नाम के राजा उत्पन्न हुए उन्होंने सुंदर, सुख देने वाला और सुभ नगर जोधपुर नाम से बसाया। उनके १२ पुत्र हुए, जिनमें बीकाराव पृथ्वी पर अधिक प्रसिद्ध और प्रभावशाली बना। उसने अपनी तलवार से सभी दिशाओं में राज्य का विस्तार किया और बीकानेर नाम का नगर बसाया। उनकी वंश-परम्परा में लोनकरण, राव जेतसी, कल्याणमल, कल्याणस्वरूप, रायसिंह आदि उत्पन्न हुए। रायसिंह बहुत दानी था, उसने चारणों को नागोर का क्षेत्र दान किया। उसके पुत्र का नाम सूरसिंह था, जो बहुत गुणी और बलवान् था। उसका पुत्र करणसिंह भी करण के समान दानी हुआ। उसके पश्चात् अनूपसिंह, सुजानसिंह और फिर जोरावरसिंह उत्पन्न हुए जिनके लिए 'जोरावर प्रकाश' ग्रंथ की रचना की गई।[1]

सूरति मिश्र ने आरम्भ में यह भी बताया है कि जोरावरसिंह केशवदास कृत 'रसिक-प्रिया' को अत्यन्त गम्भीर अर्थमय मानते थे, इसलिए उन्होंने अनेक प्रकार से सम्मान करके सूरति मिश्र से उसकी टीका लिखने के लिए प्रार्थना की थी। वे चाहते थे कि एक ऐसी टीका लिखी जाय, जिसे प्रत्येक व्यक्ति समझ सके।[2]

सूरति मिश्र ने जोरावरसिंह की रुचि और प्रेरणा के कारण 'रसिकप्रिया' की टीका लिखी थी, इसलिए उन्हीं के नाम पर इस ग्रंथ का नाम 'जोरावर प्रकाश' रखा गया है।

> तब तिन के हित यह रच्यौ, अति निस्तार विलास।
> नाम धरचौ यह ग्रंथ कौ; जोरावर प्रकाश ॥[3]

टीका-पद्धति

'रसिक-प्रिया' की इस टीका में सूरति मिश्र ने विश्लेषणात्मक गद्य-शैली का प्रयोग किया है। उन्होंने केशवदास-कृत प्रथम मंगलाचरण से अन्त तक सर्वत्र इसी शैली में विस्तार से छंदों के रहस्यों का उद्घाटन किया है। वे स्वयं ही स्वयं से प्रश्न करते हैं और उत्तर के रूप में एक अर्थ से दूसरे अर्थ तक बढ़ते जाते हैं। केशवदास ने अपने छंदों में किस शब्द का किस संदर्भ में और किसलिए प्रयोग किया है, इन सब बातों पर वे व्याख्यात्मक दृष्टि डालते हैं। यदि बीच में कोई पारिभाषिक या विशेष शब्द आ जाता है, तो उसकी भी व्याख्या करते चलते हैं। यदि कोई शास्त्रीय शब्द मिलता है, तो अर्थ को रोक

---

१ देखिए, जोरावर प्रकाश, हस्तलिलित प्रति, सम्पादक डॉ॰ दिनेश, दोहा १०-१९

२ ,, ,, ,, ,, दोहा ७-८

३ ,, ,, ,, ,, दोहा ९

कर वे उसकी परिभाषा बतलाते हैं। अन्य काव्यों में यदि कोई सन्दर्भ होता है, तो उसे भी वे साथ-साथ संकेतित कर देते हैं। उदाहरणार्थ, 'रसिक प्रिया' के प्रथम छंद "एक रदन गज वदन............लम्बोदर असरन सरन की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है–

"या छप्पै में गणेस जूको मंगलाचरन कियो। मंगलाचरण कहा ? जो ग्रन्थारंभ मैं प्रथम ही इष्ट देवता मनाइये सो मंगलाचरन कहावै। सो मंगलाचरन तीन भाँति को है—एक तो नमस्कारात्मक। दूजो आसीर्वादात्मक, तीजो वस्तु-निर्देश। तहां नमस्कारात्मको तो वह जहां इष्ट देवता कौं नमस्कार काव्य में करिये। जैसे नन्ददास की नाममाला विषै—"तनमामि पद परम गुरू" जैसे सुन्दर सिंगार मैं—"नमस्कार कर जोरिकैं कहे महाकविराय" असैं सर्वत्र जानि लीजै। और आशीर्वादात्मक सो जहाँ 'जय' शब्द आवै। इष्टदेव के वर्जन में जैसें इहाँ—"केसवदास निवास निधि" जैसें अलंकार माला विषै—"जय जुगलकिसोर" असैं जानिये। और वस्तु निर्देश कहा ? जहाँ इष्ट देवता को रूप। अथवा गुण वर्णन होइ। जैसें कविप्रिया में—"गज मुख सनमुख होत ही बिघंन विमुख ह्वै जात।" इहाँ नमस्कार अरू 'जय' शब्द नाहीं केवल गुण वर्णन है। और जैसें श्री रामचन्द्र चंद्रिका मैं प्रथम ही गणेस जूको कवित्व—"बालक मृनालनि ज्यौं।" उहाँ हू वस्तु निर्देश ही है। ए तीन भाँति के मंगलाचरन कहे है। तहां इतनों विचार समुझ लीजें। वस्तु निर्देश केवल होतु है और नमस्कारात्मक केवल नहीं होत, क्योंकि नमस्कार इतनो ही शब्द कहिबो। इहैं नवनै दोहा छन्द कह्यो चाहिये [1]।"

इस उद्धरण में उन्होंने केशवदास कृत छन्द के विषय का सोदाहरण विस्तार से स्पष्टीकरण किया है। वस्तुत: वे मंगलाचरण, उसके भेद, लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत करके छन्द की व्याख्या को जो आधार प्रदान करते हैं, उससे यह स्पष्ट है कि उन्होंने आलोचनात्मक टीका-पद्धति अपनाई है। इस पद्धति के द्वारा वे विषय के सम्बन्ध में सदर्भों के आधार पर उठने वाली जिज्ञासाओं का एक कुशल अध्यापक के रूप में शमन करते चलते हैं और एक दक्ष आलोचक के रूप में काव्य की अन्तरात्मा का भी उद्घाटन करते जाते हैं। वे काव्य के अन्तर्निहित सौन्दर्य का उद्घाटन करके अर्थ की गम्भीरता तक पहुंचते हैं। उदाहरण के लिए पूर्वोक्त उद्धरण से आगे का एक अंश देखिए—

"और जहां केवल वस्तुनिर्देश होइ। सोइ वस्तुनिर्देश होइ। सोइ वस्तुनिर्देश मंगलाचरन जानिये। सो इहाँ जय केसवदास निवासनिधि में जय शब्द के साथ वस्तु वस्तुनिर्देश गणेस जू को है। एक हदन गज रदन यह स्वरूप वर्णन है और सुखदाइक इत्यादि गुण वर्णन है। या तैं यह मंगलाचरण आसीर्वादात्मक जानिये तहां प्रथम ही प्रथम। एक रदन गज वदन ये अंग इष्टदेवता के काहे तैं कहे। तहां ए अंग ध्यान,

---

१ जोरावर प्रकाश, हस्तलिखित प्रति, सम्पादक डा० दिनेश, छन्द १ की व्याख्या।

के लिए कहे। सर्व पदार्थन तें ध्यांन मुख्य हैं। फेर गणेसजू कैसे कहैं। बुद्धि के सदन हैं। यामै बुधि के दाता सूचन कीयो। फेर कैसे हैं मदन कदन सुत। मदन कदन सदाशिव जू तिनके सुत हैं। पुत्र हैं। मदन कदन को अर्थ मदनुजू हैं, कामदेव। ताके कदनकर्त्ता, नासकर्ता असे वली के पुत्र है। तहां प्रश्न, यह पोथी रसिकप्रिया को रस वर्नन सो रस शृंगार सो मदन ही सौंहै। चाहिये कि मदन की अधिकाई कहैं। प्रथम ही जहां मदन को कदन बतायो, यह रस ग्रन्य में उचित नाहीं। यह प्रश्न तहाँ उत्तर—मदन धतूरे की नाम है ता धतूरे क मदन कर्त्ता कहा। धतूरे को चर्वन करत हैं। धतूरे को अमल तिनपें नहीं चलत। तहां फेरि प्रश्न, इहा गणेस जू की स्तुति करी है। तहां उनके पिताको इश्वर्य कह्यो चाहिए।"[1]

स्वयं प्रश्न 'करके' अर्थों के रहस्यों और इनके संदर्भों को खोलना "जोरावर प्रकाश" की टीका-पद्धति की एक मौलिक विशेषता है। समस्त 'जोरावरप्रकाश' में प्रश्नोत्तरों और संदर्भ-गत व्याख्याओं के माध्यम से आलोचनात्मक टीका लिखने की पद्धति का प्रयोग किया गया है, जिससे केशवदास द्वारा रचित 'रसिकप्रिया' के समस्त गूढ़ार्थ सहज बोध-गम्य बन गए हैं।

पाठक्रम और पाठान्तर

सूरति मिश्र ने 'रसिकप्रिया'का समस्त पाठ उसी क्रम से प्रस्तुत किया है जिस क्रम से वह 'रसिकप्रिया'के अन्य प्रकाशित संस्करणों में मिलता है। छन्दों में वर्णित विसयों के अनुसार शीर्षक लगाकर छंद लिखे गए हैं और फिर उनकी व्याख्याएं की गई हैं। केशवदास ने 'रसिक-प्रिया'के अध्यायों को 'प्रभाव'नाम दिया है, सूरति मिश्र ने प्रभावों के अन्त में उस अध्यायक्रम का उल्लेख करने के साथ-साथ टीका के अध्याय के लिए 'विलास' शब्द का भी प्रयोग किया है। आजकल 'रसिकप्रिया' के जो पाठ मिलते हैं उनसे 'जोरावरप्रकाश' में प्रस्तुत पाठ का कोई विशेष अन्तर नहीं मिलता। कहीं-कहीं मात्राओं की ह्रस्वता-दीर्घता या शब्दों की तत्समता-तद्भवता के आधार पर कुछ पाठ-भेद अवश्य पाया जाता है, जो नगण्य है।

रचना-तत्व

'जोरावर प्रकाश' में 'रसिक प्रिया' का मूल पाठ और उसकी गद्य-टीका-ये दो अंश मिलते हैं। प्रथम अंश की रचना केशवदास ने की है और द्वितीय अंश सूरति मिश्र की रचना है। यद्यपि सूरति मिश्र ने विषय की स्वयं रचना नहीं की है, क्योंकि यह 'रसिक प्रिया' के मूल विषय को ही गद्य में प्रस्तुत करना चाहते थे, तथापि प्रस्तुत करने का जो ढ़ंग उन्होंने अपनाया उससे सहज रूप में विषय की पुनर्रचना हो गई है। केशवदास ने

---

१ जोरावरप्रकाश, हस्तलिखित प्रति, संपादक डा० दिनेश, छंद १ की व्याख्या।

जिस विषय को छंदों की सीमाओं में जटिल बनाकर बांधा है, उसे सूरति मिश्र ने गद्य में निर्बन्ध बनाकर नया अर्थ-तत्त्व प्रदान किया है। उन्होंने इस कार्य में अपने ज्ञान, प्रतिभा, विवेक और कल्पना का रचनात्मक प्रयोग किया है। उन्होने केवल छंद के अर्थ प्रस्तुत करके संतोष नहीं कर लिया, बल्कि अर्थों में नए भावों की रचना करके अपनी सर्जनात्मक क्षमता का परिचय दिया है। सामान्यत: साहित्यिक कृति में दो प्रकार का रचना-तत्त्व मिलता है, एक का सम्बन्ध कृति के अंतरंग विषय से होता है और दूसरा उसके बहिरंग अर्थात् अभिव्यंजना-पक्ष से सम्बन्ध रखता है। सूरति मिश्र ने केशवदास के विषय-वर्णन को उसके सन्दर्भों के साथ विस्तार देकर तथा नई भाव-छायाओं से नए रूप में परिवर्तित करके आलोचनात्मक व्याख्या के रूप में अन्तरंग रचना-तत्त्व का परिचय दिया है। जहां तक अभिव्यंजना-पक्ष का प्रश्न है वह तो सूरति मिश्र की निजी गद्य-लेखन क्षमता का एक सुन्दर परिणाम है ही। उन्होंने ब्रज-भाषा की बोल-चाल की शैली में साहित्यिक शब्दावली का प्रयोग करके तथा जिज्ञासाओं के समाधान के लिए प्रश्नोत्तर के माध्यम से तर्क-पूर्ण शैली अपनाकर भाषा-गत रचनात्मकता प्रदर्शित की है। वे कथन को प्रभाव-शाली बनाने के लिए कभी छोटे और कभी बड़े वाक्य अपनाते हैं, बीच-बीच में अपनी तथा अन्य कवियों की कविताओं की पंक्ति का उल्लेख करके उद्धरण भी देते चलते हैं। परिणामतः उनकी गद्य-भाषा सुबोध और आकर्षक बन गई है। गद्य में भी आलंकारिक एवं चित्रात्मक शब्दावली तथा लाक्षणिक वाक्यावली का प्रयोग करके उन्होने जिस कलात्मकता का परिचय दिया है, उसे हम रचना-तत्त्व का ही विस्तार मान सकते हैं। कहीं-कहीं पर सूरति मिश्र ने विषय को प्रस्तुत करने के लिए जिस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है, उसमें अंतरंग और बहिरंग दोनों दृष्टियों से औपन्यासिक रचनात्मकता का आभास मिलता है। मिश्रजी ने कई छंदों की व्याख्याएं इतने सरस ढंग से की हैं कि उन्हें पढ़ने में मूल से अधिक आनन्द की अनुभूति होती है। एक उदाहरण देखिए—

"जब प्यारी जू कौं देख्यौ तब विभ्रम हाव भयौ। पांन गिरि गए। कमल के पातन की बिरी खान लगे। जब विहंसि गोपसुता हरि कौ। लोचन मूंदि कै कहा आंखें छिपाई कैं। तब नाइक तो सुरौचि कहा। एक भली रूचि सौभा अपने द्रगंचलौं में करी। सखी कहति है—एक खिस्याहट की रूचि करी, अपने नैंनन में हमैं बहुत सुरोचि लागी। प्यारो लागी इहां हू असंगति अलंकार भयौ। कमल के पात डारि दैवे लाइक। तिन्हैं वीरी बनाइ मुख में धरे। इत्यर्थं जानिए। इहां दरसन के रस सौं तन मन रस्यो। पानि गिरिजात है हाथ सों इहां तन। पंकज दल की वीरी खात है, इहां मन! वृषभानु कुमारि कौं देखनों हेतु औ विभ्रम को होनो कार्ज सो संग ही है भयो चपलातिसयोक्ति। पंकज कें पात कों पान जाननों भ्रांति। लोचन फेरिवो वस्तु। तासों निकरचौ नायक लज्जित न होय यह वस्तु। वस्तु सों वस्तुध्वनि, ऐसें जानिए।"[1]

---

1 जोरावर प्रकाश,हस्तलिखित प्रति,संपादक डॉ. दिनेश,छठा विलास,छंद ३२ की व्याख्या

निष्कर्ष

'जोराबर प्रकाश' का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूरति मिश्र काव्य शास्त्र-मर्मज्ञ और सफल टीकाकार थे। उनकी टीकाएँ 'रसिक प्रिया' के अर्थों तक ही सीमित नहीं है, अपितु विषय के संदर्भों को भी उद्घाटित करती हैं, जिसके कारण केशवदास की शास्त्रीय दृष्टि को पर्याप्त गहराई से समझने का अवसर मिलता है। 'रसिक प्रिया' के मूल स्वरूप को सुरक्षित रखते हुए सूरति मिश्र उसके भावों के उद्घाटन में जितने सफल हुए हैं उसी अनुपात में उन्होंने भाव, कल्पना और भाषा के आधार पर अपनी मौलिक रचनात्मक क्षमता का भी परिचय दिया है। रीति काल में आलोचनात्मक शैली में में प्रवाह-पूर्ण गद्य का प्रथम और महत्वपूर्ण उदाहरण सूरति मिश्र की इस कृति को माना जा सकता है।

५ कविप्रिया-टीका

यह केशवदास कृत 'कविप्रिया' की पद्य-बद्ध टीका है। सूरति मिश्र ने इस ग्रंथ में सभी छंदों का भाष्य प्रस्तुत नहीं किया है, केवल कठिन स्थलों को ही स्व-रचित छंदों में समझाने की चेष्टा की है। कहीं-कहीं पर वार्ता के रूप में भी व्याख्याएं दी गई हैं, किन्तु ऐसे स्थलों की संख्या अधिक नहीं है।

टीका के आरम्भ में उन्होंने निम्नांकित मंगलाचरण प्रस्तुत किया है—

> गरुड़पाल गिरिपाल. गौरि गिरा गज ग्रहण गुरु।
> ए जिहि रूप रसाल, बंदो पग तेहि जुगल के।[1]

मंगलाचरण के पश्चात् कवि ने टीका आरम्भ की है। केशवदास-कृत मंगलाचरण की व्याख्या अपनी प्रिय प्रश्नोत्तर शैली में करते हुए वे लिखते हैं—

> विघनन को विमुखै कह्यो, पापनि कह्यो विलात।
> एक को भगिवो एक को, नासन यह सम बात॥
> ताते यह दृष्टान्त की, क्रिया मध्य सम तीनि।
> वर्णनीय की नूनता, यह कवि जन सुख दीनि॥
> विमुख अर्थ यह विगत मुख, कहा कि शिर बिन होत।
> जाते विमुख विलात को, नसिबो अर्थ उदोत॥[2]

---

१ कविप्रिया-टीका, हस्तलिखित प्रति, सम्पादक डॉ० दिनेश, छंद १

२ कविप्रिया-टीका, हस्तलिखित प्रति, संपादक डॉ० दिनेश, छंद २-४

केशवदास का मूल दोहा इस प्रकार है—

गज मुख सनमुख होत हीं, विघन विमुख ह्वै जात।
ज्यों पग परत प्रयाग मग, पाप पहार बिलात ॥[1]

इस दोहे में केशवदास ने गणेशजी के दर्शन का महत्व बतलाया है। सूरति मिश्र ने विघ्नों के विमुख होने और पापों के अदृश्य होने में समता की क्रिया की ओर ध्यान आकर्षित करके अलंकार पर बल दिया है और उसके पश्चात् अर्थ को स्पष्ट किया है। विमुख होने और अदृश्य हो जाने के विशेष अर्थ नष्ट होजाने से अर्थ तक पहुंचने के लिए अलंकार तक पहुंचना बहुत आवश्यक था और वह कार्य करके सूरति मिश्र ने एक सफल व्याख्याकार की प्रतिभा का परिचय दिया है। इसी प्रकार उन्होंने अन्यत्र भी अर्थों के रहस्य स्पष्ट करने के लिए अलंकारों का आश्रय लिया है और संदर्भों को स्पष्ट करते हुए गूढ़ भावों के उद्घाटन में सफल हुए हैं। एक अन्य उदाहरण देकर हम सूरति मिश्र की अर्थोद्घाटन क्षमता को स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे। केशवदास सरस्वती की बंदना करते हुए लिखते हैं-

बानी जू केवरण युग, स्ववरण कन परमान।
सुकवि सुमुख कुरखेत परि, होत सुमेरु समान ॥[2]

सूरति मिश्र ने उपर्युक्त दोहे के उन शब्दों को व्याख्या का केन्द्र बनाया है, जिनके संदर्भों को समझ लेने से अर्थ स्वतः स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने प्रश्न उठाया है कि यदि कुरुक्षेत्र में पड़ने से स्वर्ण के कण सुमेरु पर्वत के समान हो जाते हैं, तो इसमें स्वर्ण का नहीं कुरुक्षेत्र का महत्व है और कुरुक्षेत्र से कवि के मुख की समता स्थापित करके अप्रत्यक्ष रुप से यह सिद्ध किया गया है कि वाणी की अपेक्षा कवि के मुख का अधिक महत्व है। मिश्र जी ने प्रश्न उठाया है कि ऐसी दशा में वाणी की श्रेष्ठता कैसे सिद्ध होती है? अप्रत्यक्ष रूप में वे स्पष्ट करना चाहते हैं कि शब्द का अधिक महत्व है या शब्द के प्रयोगकर्त्ता का तर्क-पद्धति का आश्रय लेकर वे स्वयं उठाए गए प्रश्न का स्वयं ही इस प्रकार उत्तर देते हैं-

बाणी जू के वरण युग, तिन को सुनो बखान।
सुवरण कन ते पर कहा, उत्तम जिन को मान ॥
कन अधीन कुरखेत उहि, इक थल के वृधि माहि।
बरणि जहां तहं मुखनि परि, सुकवि सु अति सरसाहि ॥[3]

---

१ रसिक प्रिया टीका में केशवकृत छंद संख्या १।
२ कविप्रिया-टीका, हस्तलिखित प्रति, संपादक डा० दिनेश, छंद ५
३ " " " ८-६

अलंकार का सहारा लेकर वे अर्थों के रहस्यों को प्रश्नोत्तर–शैली में ही आगे इस प्रकार समझाते हैं—

सुवरण सो सम्बन्ध है, मेरु वृद्धि पद माहिं।
अक्षर वृद्धि सम्बन्ध है, ग्रन्थ मेरु यह नाहिं॥
उपमा ही को कहत है, धर्म काव्य की रीति।
नेह लता कुम्हिलात ज्यों, कुम्हिलन लता प्रतीति॥
तैसे वानी को कहो, सुवरन कम एहि ठाम।
सुवरन कन बढ़िवो अवधि, होई मेरु ही नाम॥[१]

इस प्रकार कवि के अर्थगत सत्य को उसके समस्त आयाम में उद्‌घाटित करने की अद्‌भुत क्षमता सूरति मिश्र में पाई जाती है। इस ग्रंथ में कुछ छंदों तक टीका की दृष्टि सीमित रहने के कारण "कविप्रिया" की पूर्ण अर्थ–गरिमा का वैसा उदघाटन नहीं हुआ है; जैसा "जोरावर प्रकाश" में मिलता है और 'अमरचंद्रिका' के समान अलंकारों के लक्षण प्रस्तुत करने की ओर भी कवि ने विशेष ध्यान नहीं दिया। गद्य में वार्ताएं भी उतनी अधिक नहीं हैं, जितनी अधिक 'अमरचंद्रिका' में मिलती हैं। तथापि, गद्य और पद्य दोनों के प्रयोग में सूरति मिश्र की रचनात्मक प्रतिभा का वहुत अधिक परिचय इस ग्रन्थ से भी मिलता है। कहीं कहीं कवि ने केशवदास के सामान्य भाव को कल्पना भाषा, अलंकार और छंद के स्तर पर इतना अधिक विस्तार दिया है कि वह मूल से अधिक प्रभावशाली बन गया है। उदाहरणार्थ, "वानी जू के वरण युग सुमेरु समान" नामक पंक्तियों में सीमित भाव को सूरति मिश्र द्वितीयार्थ के रुप में इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं:—

सुमुख संबोधन दै कहे शिक्षा
वानी जू के वरण को युग सो तूं वरण बनाइके।
याको सुनि फल कन परमान सोऊ कवि
होतु है सुमेरु के समान फूल पाइके।
कैसो है सुमेरु ताको कहत विशेषन यों
कुरुखेत पर याको अर्थ इहि भाई के।
कुजु भूमि औरखें को अरथ अकास विषै
तप रहै कहां तप अग्नि रह्यो छाइके॥[२]

---

१ कविप्रिया टीका, हस्तलिखित प्रति, संपादक डॉ० दिनेश, छंद १०–१२
२ कविप्रिया–टीका, " " छंद १३

पद्य के समान ही उन्होंने यत्र-तत्र प्रयुक्त गद्य में भी केशवदास के भावों को अपनी कल्पना और व्याख्यान-शक्ति के द्वारा नये रूप में रचना-तत्व से मंडित करके प्रस्तुत किया है। एक उदाहरण देखिए

> सीतल सुगंध मंद जु पवन है तामैं वाच्यादि चारौ कहत हैं। सीतल सुगंध मंद यह तौ वाच्य पवन द्रव्य सुवासना कौ हरके आयो यह क्रिया, सुगंधादि को देनौ यह गुन, सीतल तौ दक्षिण ते मलयाचल सौं स्पर्श करि आयौ मंद दूरिते आयो अरु सुगंध चंपादि स्पर्शन सौं।[१]

इस प्रकार 'कविप्रिया' की टीका से उनकी व्याख्या-शक्ति, काव्यशास्त्र-मर्मज्ञता, काव्य-रचना--कौशल और प्रवाहपूर्ण गद्य-शैली के प्रयोग की दक्षता का परिचय मिलता है।

'कविप्रिया-टीका' में एक अन्य विशेषता यह मिलती है कि केशवदास-कृत कई छंदों का स्थान-परिवर्तन किया गया है। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'कविप्रिया' का जो पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया है, वह सूरति मिश्र कृत 'कविप्रिया-टीका' में यथावत नहीं मिलता। उदाहरणार्थ, विश्वनाथ मिश्र द्वारा संपादित 'कविप्रिया' में तृतीय प्रकाश में जो छंद संख्या २४ पर है, वह सूरति मिश्र ने सख्या २९ पर रखा है; चतुर्थ प्रकास में जो छंद संख्या १० पर है; उसे सूरति मिश्र ने संख्या ११ पर रखा है। अन्य कई छंद भी इसी प्रकार परिवर्तित क्रम से मिलते हैं। छंदों के पाठान्तर की दृष्टि से विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा संपादित 'कविप्रिया' का पाठ व्रजभाषा के आगरा और मथुरा के आस-पास बोले जाने वाले सहज रूप के निकट उतना नहीं है जितना निकट सूरति मिश्र द्वारा प्रस्तुत किया हुआ पाठ है। अतः भाषा की दृष्टि से भी सूरति मिश्र कृत 'कविप्रिया-टीका' का एक विशेष महत्व है।

६ रसगाहकचंद्रिका

यह पुस्तक 'रसिकप्रिया' की पद्य में लिखित संक्षिप्त टीका है। इस टीका में सूरति मिश्र ने 'रसिकप्रिया' के मूल छंदों को उद्धृत नहीं किया है केवल छंदों के संकेत देकर व्याख्या प्रस्तुत की गई है। कवि ने आरम्भ में राधा और कृष्ण की वंदना की है और फिर टीका लिखने का कारण, आश्रयदाताओं का परिचय तथा उनकी प्रशंसा आदि का वर्णन किया है। मूल टीका छंद ४७ के पश्चात् आरम्भ हुई है। कवि ने केशवदास कृत मंगलाचरण के प्रथम छंद की प्रमुख शब्दों के गूढ़ार्थों को केन्द्र बनाकर जो व्याख्या की है, उससे उनकी

---

१ कविप्रिया-टीका, हस्तलिखित प्रति, संपादक-डॉ० दिनेश, पंचम प्रभाव।

तर्क-पद्धति का प्रभावशाली रूप सामने आता है। 'जोरावर प्रकाश' में उन्होंने उक्त मंगलाचरण का जो अर्थ गद्य में प्रस्तुत किया था, उसी के अंश संक्षिप्त करके वे पद्य में इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं:—

प्रथम मंगलाचरन की छप्पै कही बखानि।
ऐक रदन गज बदन है, यामे प्रश्न सुजानि।।
मदन-ग्रंथ रसिकप्रिया, काम केलि इहि मांहि।
मदन-कदन कहि क्यों बनें, रस-पोषक यह नांहि।।
तहाँ सुनो उत्तर यहै, दोष निवारन अर्थ।
मदन धतूरे कौं कहत, ताके कदन समर्थ।।
तहाँ इहाँ अब प्रश्न द्वै छ्टे आई चित माँहि।
शब्द-विरोधी एक है, अरू कछु प्रभुता नाहिं।।[1]

इस प्रकार 'जोरावरप्रकाश' में अर्थों का जो विस्तार मिलता है, वह 'रसगाहकचंद्रिका' में नहीं है। इस ग्रंथ में हमें संक्षेप में गम्भीर अर्थों को व्यक्त करने की क्षमता मिलती है। कहीं-कहीं गद्य में लघु वार्ताएं इस ग्रंथ में भी दी गई हैं। इस प्रकार 'रसगाहकचंद्रिका' भी गद्य-पद्य दोनों क्षेत्रों में कवि की रचना शक्ति का परिचय देती है। यद्यपि अलंकारों को स्पष्ट करने का अवसर मिश्रजी को नहीं मिला तथापि उन्होंने स्वयं आलंकारिक भाषा का जो रूप प्रस्तुत किया है, उससे उनके अलंकार-ज्ञान का बोध होता है। इस ग्रन्थ की भाषा शुद्ध ब्रज भाषा है, जिसमें तत्सम शब्दों के प्रयोग भी मिलते हैं। दोहा, ककुभा, कवित्त, सवैया आदि छंदों का सफल प्रयोग करके सूरति मिश्र ने अपने छंद-शास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान का परिचय दिया है। निश्चय ही यह ग्रन्थ सूरति मिश्र के टीकाकार एवं कवि-स्वरूपों को एक साथ प्रकाशित करता है।

७ रसरत्न-टीका

यह सूरति मिश्र के स्व-रचित 'रसरत्न' नामक ग्रंथ की गद्य-टीका है। इस में उन्होंने पंडिताऊ शैली में छंदों के केवल सामान्य अर्थ प्रस्तुत किए हैं। उदाहरणार्थ, एक छंद लीजिए—

नव रस आदि सिंगार पुनि, हास करुन रुद्र वीर।
भय विभत्स अद्भुत वरनि, शान्त परमगुन धीर।।[2]

इस दोहे का सूरति मिश्र ने जो अर्थ लिखा है वह इस प्रकार है—

"नव रस है या संसार में, तिनमें प्रथम ही सिंगार रस है। सिंगार रस तौ यह जो नायक-नायिका की प्रीतिपूर्ण काम-केलि सम्बन्धी। हास रस जहां स्वांग दैखिकै बात सुनि

१ रस-गाहक चंद्रिका, हस्तलिखित प्रति, संपादक डॉ. दिनेश, प्रथम-विलास छंद ४८-५१
२ 'रसरत्न', हस्तलिखित प्रति, सम्पादक डॉ॰ दिनेश, दोहा २

हांसी पूर्ण ग्रावै। करुना रस सोक में होत है। रौद्ररस क्रोधमय होत है। रन में ग्रथवा कहूँ बीर रस। जहां डर की बात भयानक। वीभत्स रस ग्लनि वर्णन। ग्रद्भुत रस ग्रचंभो जहां होइ। सांति रस परमार्थ। संसार सौं विरक्त होनौं प्रभु में चित्त लगै। ए नव रस कहे। तहां ग्रब सिंगार वर्णन करतु है।"[1]

इस ग्रर्थ से स्पष्ट है कि सूरति मिश्र मूल भाव को सरल गद्य में सरल ढ़ंग से समझाने की ग्रद्भुत क्षमता रखते थे। वस्तुत: जहां एक ग्रोर वह टीका उनकी व्याख्या शक्ति का परिचय देती है, वहां दूसरी ग्रोर उससे उनकी गद्य-लेखन-शक्ति ग्रौर गद्य-भाषा पर उनके ग्रधिकार का भी सरलता से बोध हो जाता है। व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले सरल शब्दों के साथ तत्सम शब्दावली का भी प्रयोग करके उन्होंने ग्रपनी भाषा-प्रयोग-कुशलता का ग्रच्छा परिचय दिया है। काव्य शास्त्रीय विषय को संक्षेप में पारिभाषिक शब्दावली से साथ सरल ढंग से प्रस्तुत करने की जो क्षमता ग्रपेक्षित होती है, वह 'रसतत्व-टीका' में सर्वत्र मिलती है। एक ग्रन्य उदाहरण इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए यहां दिया जाता है:—

"मनाइवे कै छह उपाइ हैं ते कहत हैं। एक तो सांम उपाइ सांम कहा जहां वचन की रचना सों मनाइ लीज्यै मीठी-मीठी बातैं करि कैं। दूजो दांन उपाय कछू मिस सों भेंट दीज्ये जैसे कहियतु गोरी है। तेरे कर में नीलमनि कि पोची है यह सोहैगी, ऐसो कही दीज्यै ग्रौरै भांति सौं सामान्य ह्वै जाय। एक भेद उपाय सषीवा कयै ग्रंग की होइ ताको कछु राजी करि ग्रपनी करि लीज्यै वह मनाइ देइ प्रणाती उपाइ। पाइ परि मनाइये। उपेक्षा उपाय कछु ग्रन्योक्ति सी बातैं कहि ग्रोर ही प्रसंग की तासो मान छुड़ाइयै। जैसे कहिये ग्राज के दिन प्रीति करी हो। इक नाइक नें सो वह प्रीति कबहूंन घटो ग्रैसै कहि कैं। प्रसंग विध्वंस उपाइ। कछू काहू भांति सो डर दै मान छुड़ै यह ग्रैसै कहैं। ग्राजि राति मदन की है जोतिय। रूठैं तापै मदन हिसाइगो ऐसैं कहि। ग्रौर एक मान सहज हू मैं छूटै। तऊ दीपन हू मैं जैसैं घटा, घेरि ग्रायै लपटाइ जाइ। ग्रथवा सुन्दर प्रवीनता सों रागादिक सुनाइबो। एतो उपाय मांन छुड़ाइवै के कहै।[2]

इस उदाहरण से रीतिकाल में प्रयुक्त होने वाली गद्य की व्यावहरिकता भली-भांति सिद्ध होती है ग्रौर साम, मान, उपेक्षा, ग्रन्योक्ति, नायक, प्रसंग-विध्वंस, उद्दीपन ग्रादि पारिभाषिक शब्दों के उचित प्रयोग का भी प्रमाण मिलता है।

---

१ रसरत्न-टीका, हस्तलिखित प्रति, संपादक डा० दिनेश, छन्द २ का ग्रर्थ।

२ रसरत्न-टीका, हस्तलिखित प्रति, संपादक डा० दिनेश, छन्द ३० का ग्रर्थ पृ० १५।

८. टीकाओं में प्रयुक्त गद्य-भाषा का स्वरूप

जैसा कि पूर्व विवेचन से स्पष्ट है कि सूरति मिश्र कृत ५ टीका-ग्रन्थों में से केवल 'जोरावरप्रकाश' और 'रसरत्न-टीका' की रचना गद्य में हुई है तथा शेष ३ ग्रन्थों की टीकाएं पद्य में लिखी गई हैं; उनमें संदर्भानुसार यत्र-तत्र कुछ वार्ताएं गद्य में मिलती हैं । 'जोरावर प्रकाश' एक बड़ा ग्रन्थ है और इसकी टीका भी विस्तार से की गई है, इसलिए इस ग्रन्थ में सूरति मिश्र की गद्य-लेखन-क्षमता का सबसे अधिक परिचय मिलता है ।

सूरति मिश्र ने टीकाओं के लिए गद्य में सर्वत्र व्रजभाषा का प्रयोग किया है । शब्दावली का चयन तत्सम, तद्भव और देशज तीन रूपों में किया गया है, जहां तत्सम शब्द मिलते हैं, वहां भी उन पर व्रजभाषा की प्रकृति का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है । जैसे–प्रच्छनताई, त्यागिवो इत्यादि । तद्भव शब्द अपने मूल रूप से केवल उच्चारणगत भिन्नता रखते हैं । यथा–नाइक, प्रकास, जोग, संजोग इत्यादि । बोली के ठेठ शब्द सहज कोमल रूप में प्रयोग किए गए हैं । यथा–माइ, दुरावत, यातैं, हूलि । कहीं-कहीं तत्सम शब्दों का प्रयोग व्रजभाषा के प्रभाव की उपेक्षा करके भी किया गया है । यथा, पक्ष, बहिरंग, वियोग, पुष्ट, अलंकार, अभिन्नार्थ, श्लेष, वचन इत्यादि । गद्य-भाषा में संस्कृत शब्दावली की शुद्धता की रक्षा करने की प्रवृत्ति इस बात की द्योतक है कि सूरति मिश्र के समय में ही व्रजभाषा गद्य-भाषा की उन प्रवृत्तियों को मुक्त-भाव से स्वीकार कर रही थी जिन का पूर्ण विकास हो जाने पर हिन्दी का आधुनिक स्वरूप आविर्भूत हुआ । पूर्वोक्त सभी तथ्यों के प्रमाण के लिए हम यहां 'जोरावर प्रकाश' से एक गद्य-खण्ड उद्धृत करते हैं:—

"सखी नायिका सौं कहति है । नाइक नैं जोग लियौ है कि तेरौ वियोग है । जोग हू औ वियोग हू में ए ही बातें होति हैं । बात न कहिवो । खान-पान को त्यागिवौ दोऊ पक्ष लगै है, तहां प्रश्न प्रकास कैसैं । एक सखी है बहिरंग कैसैं जानिएं । तहां कहिए वियोग कि तेरौ याकौ वियोग निरधार नाहीं या तैं बहिरंग सखी है । तहां प्रश्न-जौ वियोग निरधार नाहीं तौ वियोग की प्रच्छन्नताई भई । तहां उत्तर अर्थ यौं कीजै । तीन तुक तौ सखी वचन । फेरि नायिका बोली । जानैं को माई कहा भयौ कान्ह कौं । जोग-संजोग कि वियोग है काहू कौ । यह बात बहिरंग सखी जानि कै दुराव सुं कही सो वह सखी तौ जानति हुती । ज्यौं उन कह्यौ वियोग की, तब सखी नें कह्यौ तेरौ सो । तौ तेरौ सौ वियोग है । अर्थ कि मो सौं क्यौं दुराव करति है । या में जा सौं दुरावत ही सो सखी बहिरंग ही । फेर सो तौ जानति ही या तैं प्रकास । इहां हूलि उठि यातें प्रकास पुष्ट हैं । इहां अलंकार अभिन्नार्थ श्लेष अर्थ इह दुहुनि प्रति अभिन्नार्थ सुश्लेष । सो इहां बात कहै न इत्यादि वचन वियोग हू में संभवै है ।[1]

---

१ जोरावर प्रकाश,हस्तलिखित प्रतिलिपि,संपादक डॉ.दिनेश,प्रथम-प्रभाव छंद२६की टीका

इस उद्धरण में शब्दों के प्रयोग की दृष्टि से सूरति मिश्र की गद्य-भाषा और आधुनिक गद्य-भाषा में जो अन्तर लक्षित होता है, वह बहुत सामान्य है। यथा—

संज्ञा शब्द

सूरतिमिश्र द्वारा प्रयुक्त	आधुनिक रूप
नाइक	नायक
जोग	योग
प्रकास	प्रकाश
माई	माता
कान्ह	कृष्ण
संजोग	संयोग

सर्वनाम शब्द

तेरो	तेरा
याको	इसका
को	कौन
काहूको	किसी का
वह	वह
मोसौं	मुझ से
यामें	इसमें
जासौं	जिससे
उन	उन्होंने

विशेषण शब्द

एही (बातें)	यही (बातें]
दोऊ (पक्ष)	दोनों (पक्ष)
तीन (तुक)	तीन (तुक)
यह (बात)	यह (बात)
बहिरंग (सखी)	बहिरंग (सखी)

अव्यय शब्द

औ	और
तहां	वहां
फेरि	फिर
कहा (भयो)	क्या (हुआ)
तब	तब
इहां	यहां

क्रिया-शब्द

कहति है	कहती है
लियौ है	लिया है
होति हैं	होती हैं
कहिवौ	कहना
त्यागिवौ	त्यागना
नाहीं	(नहीं) है
भई	हुई
कीजै	कीजिए
बोली	बोली
भयौ	हुआ
है	है
कही	कही
जानति हुती	जानती थी
कह्यौ	कहा
करति है	करती है
उठि	उठी
संभवै है	(संभव) होता है

ब्रजभाषा में क्रियेत्तर शब्दों को भी कभी-कभी सहायक क्रिया के साथ मिश्रित रूप में सूरति मिश्र प्रयोग करते थे, जैसा कि 'नाहीं' तथा "संभवै है" से प्रकट है।

कारक शब्द

सौं	से
नैं	ने
रौ (तेरौ)	रा (तेरा)
कौ	का
कौं	के लिए
में	में
तैं	से

उपसर्ग प्रत्यय

वि (योग)	वि (योग)
निर (धार)	निर् (धार)
सं (जोग)	सं (योग)
(प्रच्छन्न) ताई	(प्रच्छन्न) ता

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि सूरति मिश्र हिन्दी भाषा के निर्माण में बहुत योग दे रहे थे। व्याकरण की दृष्टि से ब्रजभाषा धीरे-धीरे आधुनिक खड़ी बोली रूप की ओर किस प्रकार आ सकती है, इसका उन्होंने पर्याप्त ध्यान रखा था। आगे चलकर लल्लूलाल, सदलमिश्र, इंशाल्ला खां एवं मुन्शी सदासुखलाल ने इसी भाषा का वह संक्रातिकालीन रूप प्रस्तुत किया, जिसके आगे की कड़ी यदि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की भाषा है, तो निश्चय ही उसके पीछे की कड़ी सूरति मिश्र की गद्य-भाषा है।

जहां तक भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति का प्रश्न है, सूरति मिश्र ने अपनी गद्य-भाषा को सभी दृष्टियों से सम्पन्न और सशक्त बनाया है। उसमें विषय को अभिव्यक्त करने की पूर्ण क्षमता मिलती है। प्रवाह और लालित्य उसके सहज गुण हैं। चित्त पर पड़ने वाले प्रभाव की पूरी सामर्थ्य उसमें विद्यमान है। लक्षणा और व्यंजना शक्तियों से उसका अर्थ-जगत परिपुष्ट है। काव्यशास्त्र जैसे पारिभाषिक शब्दावली-युक्त विषय की प्रस्तुति में वह पूर्ण समर्थ है। पद्य भाषा के समान ही उसमें आलंकारिक चमत्कार समाहित करने की योग्यता है। मनोविकारों और हाव-भावों को व्यक्त करने के लिए जिस प्रकार की वाक्यावली अपेक्षित होती है, उससे सूरतिमिश्र भली प्रकार परिचित हैं।

सूरतिमिश्र की भाषा की एक अन्य विशेषता यह है कि उसमें वाक्य-रचना सरल और गूढ़ार्थ की संवहन-शक्ति-युक्त है। वे जटिल आशयों को भी सरल वाक्यों द्वारा प्रकट करते चलते हैं। संयुक्त और मिश्रित वाक्य-रचना का उनकी भाषा में बहुत कम प्रयोग हुआ है। वाक्य-रचना-सम्बन्धी उनकी इस विशेषता को समझने के लिए यहां एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है—

"सखी सों नायका कहति है। तेरी सीख हू न सीखी। या में सखी बहिरंग है। जाकी बात न मानी ही यातें प्रकास है। सीतल वस्तु जरावन लगी, उल्टी बात भई है। सो विधिने न्याइ ही कियो है। चंदनादिक ते जरन फल उपजे, विरुद्ध सु जोइ।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण से यह भी प्रकट है उनकी भाषा पर संगीतात्मक स्वराघात एवं पद्यात्मकता का भी पर्याप्त प्रभाव है।

निष्कर्ष

सूरतिमिश्र ने केशव कृत 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' तथा बिहारी कृत 'सतसई' की टीकाएं लिख कर जहां एक ओर अपनी काव्य-मर्मज्ञता का परिचय दिया है, वहीं दूसरी ओर उनके काव्यशास्त्रीय पक्षों को विस्तार से उद्घाटित कर अपने आचार्यत्व को भी प्रमा-

---

१ जोरावर प्रकाश, हस्तलिखित प्रति, सम्पादक डॉ० दिनेश, षष्ठ प्रभाव

णित किया है। रसिकप्रिया' की तर्क-पूर्ण विवेचनात्मक गद्य-टीका प्रस्तुत करने वाला कोई अन्य आचार्य रीतिकाल में नहीं मिलता। आधुनिक व्याख्याकारों पर भी मिश्र जी की टीका का पर्याप्त ऋण है। बिहारी-सतसई का अलंकार-निर्देश-पूर्वक उन्होंने जो व्याख्यान किया है, वह हिन्दी-साहित्य में अनुपम और अद्वितीय कहा जा सकता है। लल्लूलाल, लाला भगवानदीन और जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने उनकी अमरचंद्रिका टीका से विभिन्न रूपों में पर्याप्त लाभ उठाया है। गद्य और पद्य दोनों शैलियों को समान अधिकार से टीका का माध्यम बनाने के लिए सूरतिमिश्र की प्रतिभा सदैव समादृत होती रहेगी। रीतिकाल में गद्य की भाषा को व्याख्या और विवेचन की अपूर्व क्षमता देने के कारण हिन्दी गद्य के आरम्भिक निर्माताओं में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता रहेगा।

मध्यकालीन जयपुर राज्य के उद्योग धंधे

● कुमारी सुभद्रा दरयानी

गांवों में उद्योग धन्धे

कृषि उत्पादन के आधार पर गांवों में कई छोटे २ गृह उद्योगों एवं शिल्प कार्यों को प्रोत्साहन मिलता था। वैसे मध्ययुग में गांव आत्मनिर्भर होते थे समाज के प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति के लिये उसका कार्य व पेशा निश्चित होता था जिसमें वह वंशानुगत रूप से लगा होता था। उनके कार्य करने की पद्धति एवं उपयोग में आने वाले उपकरण परंपरागत होते हुए भी एक ही उद्योग में कई पीढ़ियों से कार्य करने के कारण वे अपने व्यवसाय में दक्ष एवं कुशल और अपनी कला में प्रवीण हो जाते थे।

कृषि उत्पादन पर आधारित प्रमुख उद्योग गुड़ और तेलों से बनी वस्तुएं थी। इसके अलावा एक अन्य प्रमुख उद्योग शराब बनाना था। जिसमें गांवों में कई कलाल लगे रहते थे। गृह उद्योगों में सूत कातना और बुनना भी महत्वपूर्ण उद्योग था। बुनने और कातने की वही प्रकिया थी। जो आज भी गांवों में पाई जाती है। जुलाहे सूत कात कर कपड़ा बनाने में व्यस्त रहते थे। लुहार कच्चे लोहे को पिघलाकर कृषि कार्य में उपयोग में आने वाले उपकरण बनाता था। उसके द्वारा बनाये हुए लोहे के हथियार, छुरी कांटे, ताले, चाबी आदि सामान्यतः घरों में काम में लाये जाते थे। सुनार सोने व चांदी के सादा व जड़ाऊ काम के विभिन्न प्रकार के आभूषण आदि बनाते थे। कुम्हार मिट्टी के बर्तन और खिलौने बनाते थे तो चमार चमड़ा और चमड़े की वस्तुएं जैसे चड़स और जूते इत्यादि बनाने में व्यस्त रहते थे। इसी तरह खाती (सुथार) लकड़ी के बर्तन, हल के पहिये, खिलौने आदि अन्य दैनिक जीवन में उपयोग में आने वाली वस्तुएं बनाकर गांव की

आवश्यकता पूरी करते।[1]

कस्बों में उद्योग धन्धे

गांवों में जहां कृषि–उत्पादन से कई गृह उद्योगों को प्रोत्साहन मिलता था वहां कस्बों में कच्चे माल से बनी वस्तुओं से छपाई व रंगाई उद्योग, धातु उद्योग लकड़ी व कागज उद्योग आदि अन्य उद्योगों के कारण व्यापार व व्यवसाय का प्रसार होता था। मध्यकाल में जयपुर अपने उद्योगों की विशेषता के कारण बहुत प्रसिद्ध रहा। संक्षेप में उनमें से कुछ उद्योगों का विवरण निम्नलिखित है।

छपाई व रंगाई उद्योग

उस समय जयपुर का रंगाई व छपाई का काम अपना प्रमुख स्थान रखता था। सांगानेर की छींट व अन्य रंगे व छपे कपड़े राजस्थान और उसके बाहर अन्य राज्यों में बहुत पसन्द किये जाते थे तथा जोधपुर, गुजरात और आगरा आदि राज्यों में यहां से चीरा, वाफता, महमूदी आदि रंगवाकर भेजे जाते थे।[2] सांगानेर जयपुर से आठ मील दूर सरस्वती नदी के किनारे बसा हुआ था।[3] नदी के पानी की यह विशेषता थी कि इसमें कपड़ा धोने पर वह हल्के गुलाबी रंग का हो जाता था। सर्व प्रथम कपड़ा नदी के पानी में धोकर उसे अलसी के तेल, पानी और कपड़ा धोने के सोडे में कुछ घंटे रखा जाता था फिर उसे धूप में सुखाया जाता था। यह क्रिया दो बार दोहरायी जाती थी। दूसरी बार कपड़े के सूखने पर उसे हरड़ के उबले पानी में जो पीले रंग का होता था, डाला जाता था फिर उसे धूप में सुखाया जाता था।

छापने की स्याही फिटकरी, हल्दी, जंगलगे लोहे के चूर्ण, मजीठ और धाण के फूलों में तेल डालकर बनाई जाती थी। इस स्याही को लकड़ी के बने सांचों पर लगाकर कपड़े पर

---

१ आवारीजे बकाया मोम कसबा सांगानेर, संवत् १७७८, पृ० १–७९; जमा खरच पोतदार परगना टोडाभीव; संवत् १७८०, पृ० २१६, २९३; स्याहै हजूर, संवत १७९०, पृ० ६५१; जमा खरच सिलैहखाना, संवत १७८७ पृ० १०५०, १०७६; स्याहै अमारती; संवत १७९३, पृ० ६.

२ तोजी दसतूर कोमवार, दसतूर राठोड़, पृ. ४९, जमाखरच रंगगृह संवत १७९६, पृष्ठ ८९।

३ सांगानेर जयपुर के राजा (उस समय आमेर) पृथ्वीराज के पुत्र सांगाजी ने बसाया था आज भी यहाँ पर सांगा बाबा के नाम से एक मंदिर है जहाँ स्थानीय लोग दर्शन करने जाते है सांगानेर रंगाई व छपाई उद्योग के अलावा कागज उद्योग के कारण भी उस समय व्यापार का प्रमुख केन्द्र था।

छापा जाता था। छापों पर विभिन्न प्रकार के बेल बूटे तथा फूल पत्तियों आदि के नमूने बने होते थे। छापने की प्रक्रिया दूसरी बार भी दुहराई जाती थी तब उसे आल मजीठ और हरड़के पानी में उबालकर धूप में सुखाया जाता था। सूखने पर इन्हें नदी के पानी में धोने के लिये भेजा जाता था। जहाँ से पानी में दो सप्ताह तक पड़े रहते थे तब कड़प लगाकर इन कपड़ों को बेचने हेतु बाजार में भेजा जाता था ?[1] तथा उस समय रुपारिवद्‌, अलाबक्श, रजना तथा ताजु प्रमुख रंगरेज थे तथा गोध्यो, मुहकम, कजोड़ियों, गीधो और खींवसी छपाई करने में कुशल कारीगर थे।[2] इन छपे व रंगे हुए कपड़ों के रंग कभी हल्के नहीं पड़ते थे और चटकीले व चमकदार रंगों के कारण मेले, त्यौहार, उत्सव आदि अवसरों पर बड़े चाव से पहने जाते थे। जैसे आलम लहरिये, कसूमल, गुल अनार, जरद गुलाबी, केसरिया आदि रंगों में रंगे व छापे जाते थे और साड़ियाँ कसूंमल, गुल अनार, गुलाबी सफतालु, जरद, सदण, नारंगी, केसरिया, बादामी, पिसताखी, आदि रंगों में रंगी हुई पसंद की जाती थी।[3]

छपाई व रंगाई के अलावा जयपुर में कपड़ों पर सलमें, सितारे और बादले का काम भी विशेष स्थान रखता था। तारकश और पटवा कपड़ों पर सोने व चांदी के तारों से फूल पत्तियों के तरह २ के नमूने बनाते थे। सुभाणदास प्रमुख तारकश माना जाता था तथा गंगाराम और साहिब राम उस समय के प्रमुख पटवा थे।[4]

धातु उद्योग

जयपुर में अन्य प्रमुख उद्योग धातु उद्योग था। उस समय निरन्तर युद्धों के कारण कई कुशल कारीगर विभिन्न धातुओं के हथियार और अस्त्र शस्त्र बनाने में लगे रहते थे। सांगानेर की बर्छियाँ अपनी तेजधार के कारण प्रसिद्ध थी[5] इसके अलावा अन्य धातुओं जैसे जस्ता, तांबा, कांसा, और पीतल आदि के बर्तन, खिलौने आदि वस्तुएं दैनिक जीवन के उपयोग में लाये जाने हेतु बनाये जाते थे।[6]

---

१ जयपुर थ्रू द एजेज, पृ. १५।

२ आवारीजे दफाया भोम कसबा सांगानेर, संवत १७७८, पृ० २०–७४

३ जमा खरच रंगरखाना, संवत १७९३, पृ. १८८, २४०, २४१, २७४, २७६, २८५, २८९, ३२६ और ५१७।

४ सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, द्वारा डा० जी० एन० शर्मा, पृ. ३०५

५ रोजनामा सिलैहखाना, संवत १७१५, पृ० २।

६ जमा खरच पातरखाना, संवत १३८६, पृ. ७३८, ७४९; वही, खसबोई रवाना, संवत १७८१, पृ. २०३–२४२।

जयपुर में धातु उद्योग में मीनाकारी का काम अपना विशिष्ट स्थान रखता था। मीने का काम जयपुर के अलावा बनारस में भी होता था लेकिन वह इतना उन्नत नहीं था। संक्षेप में, मीनाकारी करने की भिन्न प्रक्रिया थी। सर्व प्रथम सोने के गहने अथवा अन्य धातु पर जिस पर मीना करना होता था, किसी कुशल कारीगर द्वारा नमूना बनाकर बारीक खोद लिया जाता था। तब उस खोदे हुए स्थान में मीना भरकर कोयले की अंगीठी पर उतने तापक्रम तक गर्म किया जाता था कि मीना फैलकर अच्छी तरह खाली स्थानों में भर जाये। इस समय कारीगर को बहुत ध्यान रखने की आवश्यकता रहती थी क्योंकि थोड़ी सी भी असावधानी से नमूना बिगड़ जाने की सम्भावना रहती थी। मीने के पूरी तरह फैल जाने पर उसे नीचे उतार लिया जाता था और फिर नमूने के अनुसार उसमें हीरे-पन्ने आदि बहुमूल्य पत्थर लगाये जाते थे। इस समस्त प्रक्रिया में कारीगर को बहुत परिश्रम करना पड़ता था।[१]

हमें मीनाकारी किये हुए खिलौने, बर्तन तथा गहनों के उल्लेख प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं। सब्ज, नीले और लालरंग के मीने के काम के मोर की कीमत ५०) रुपये थी[२] मीने के काम का हुक्का जिसमें माणिक व पन्ने लगे हुए थे ६००) रु० का आता था।[3] एक प्याला १२१ ≡) रु० व कपूरदानी २११ =) रु० की आती थी।[४] इस चिलम का मूल्य ६ ≡ ।।।) रु० से लेकर १२०) रु० तक की होती थी। रिकाबी ३३६।।) रु० से १८०८) रु० तक आ जाती थी।[५]

बर्तनों के अलावा मीणे के काम के बने आभूषण बहुत सुंदर एवं कलात्मक होते थे। उस समय पूरणचंद, खुशालचंद, और माणिकचंद प्रसिद्ध जौहरी और सांवल, नंदा तथा सीताराम प्रमुख सुनार थे।[६] मीने के बाजूबंद की २६१ =) रु० और कांकड़ की १७०) रु० तथा चंपकली की १७००) रु० कीमत की थी। पायजेब जिसमें मीने के काम के अलावा हीरे जड़े थे ३०२३। ≡) रु० का था। हीरों व पन्नों से जड़ा पगपान ५०८।। =) रु० का

---

१ जयपुर थ्रू द एजेज, पृ० १६, हैण्ड बुक टु द जयपुर म्यूजियम द्वारा हैण्डले पृ. २०।

२ जमा खरच ख्याल खाना, संवत १७६६, पृ. १४२

३ वही, सोधा रवाना, संवत १७८८ पृ०, १२७-१३१।

४ जमा खरच खसबोईखाना, संवत् १७९१, पृष्ठ १-२६

५ वही, पृ० ३०.

६ फीरसती रोजनामा वुतात आंवेर, संवत १७५३, पृ० १५४; जमा खरच पातरखाना, संवत् १७८६, पृ० ६५०-६५१

बिछिये २२७) रु० और एक धुगधुगी ७२१।=) रु० की आ जाती थी।[१] सोने व जड़ाऊ का काम सरपेच ८१५) रु० का आता था।[२]

कागज का उद्योग

मध्यकाल में सांगानेर कागज उद्योग का प्रमुख केन्द्र था। यहाँ बनने वाला कागज सांगानेरी कागज कहलाता था वह कागज कहलाता था वह कागज की रद्दी, पुराने कपड़े और घास से बनी लुग्दी से बनाया जाता था।[३] इसके अलावा एक अन्य प्रकार का कागज महाराजा ईश्वरीसिंह के समय से बनाया जाने लगा था जिसे ईश्वरशाही पाठे कहा जाता था।[४] ये कागज मोटे किस्म के बने होते थे तथा इनका उपयोग भी सीमित मात्रा में जैसे पट्टे, परवाने और ग्रंथ लिखने तथा हस्तलिखित ग्रंथों की नकल करने और हिसाब किताब रखने आदि में किया जाता था। पत्रादि लिखने के लिये दौलताबाद तथा स्यालकोट आदि से कागज मंगाये जाते थे जो देखने में सुन्दर एवं सुनहरी तथा अन्य रंगों द्वारा विभिन्न प्रकार की फूल पत्तियों से चित्रित होते थे।[५]

इसके अलावा अन्य उद्योग जैसे हाथीदांत का काम और लकड़ी का काम आदि मुख्य थे। हाथीदांत के खिलौने-शतरंज और चौपड़ के मोहरे, तथा चूड़ियों के उल्लेख प्रचुर मात्रा में मिलते है। उस समय के लकड़ी के काम के दरवाजे, खिड़कियों, खिलौने, कुर्सी, मेज तथा पलंग आदि बड़े आकर्षक व कलात्मक बने होते थे।

कारखाने

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि मध्ययुग में जयपुर में कई उद्योग धन्धे विकसित थे। जिस कारण जयपुर का व्यापार एवं वाणिज्य अन्य मुगल राज्यों में फैला हुआ था। जयपुर के राजाओं ने भी औद्योगीकरण की इस प्रक्रिया में बहुत योग दिया। कई वर्षों तक मुगल दरबार में रहने के कारण वहां की शान शौकत, रहन-सहन और खान-पान

---

१ स्याहे बकाया, संवत् १७९२, पृ० ११, आसोजबदी ११.

२ दसतूर कोमवार, भाग १, पृ० ९२.

३ जमा खरच वुतात आंबेर; संवत् १७१७, पृ० ११८८-११९६.

४ जयपुर थ्रू द एजेज, पृ० २१.

५ जमा खरच पोतदार परगना आंबेर, संवत् १७३७, पृ० ९, ११,१९,३५,३६ ४०, अठसठे परगना सवाई जयपुर, संवत् १७८६, पृ० ६२० (विभिन्न प्रकार के कागजों पर लिखे गये पत्रादि राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर में सुरक्षित है जिससे उस समय के कागज शिल्प का अच्छा ज्ञान होता है)।

आदि का उन पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। वे भी अब मुगल रीतिरिवाज को अपनाने लगे थे; जैसे मुगल वेशभूषा धारण करना तथा कलात्मक एवं सुरुचिपूर्ण तलवारें एवं अन्य हथियार रखना, आदि। सामन्तवर्ग पर भी मुगल रहन-सहन का प्रभाव पड़ा। वे भी अब लकड़ी, विभिन्न धातुओं तथा कीमती पत्थरों से बनी कलात्मक वस्तुओं को पसन्द करने लगे। फर्श पर सुन्दर चटाइयों और दीवारों पर भित्ति-चित्र बनवाना रूचिपूर्ण माना जाने लगा। उनकी इस तरह की मांगों ने जयपुर के व्यापार को प्रोत्साहन दिया। मुगल राज्यों में बनी वस्तुओं को जयपुर मंगाया जाने लगा और उसी परिमाण में जयपुर में बनी वस्तुओं का मुगल राज्यों में निर्यात करने के लिये उनका उत्पादन बढ़ाया गया। यही नहीं मुगल दरबार में जिन चीजों का प्रचलन था राज्य में उनका उत्पादन किया जाने लगा। जिससे व्यापार, शिल्प, कला आदि अन्य उद्योगों को प्रोत्साहन मिला। (मुगल शासन काल में राज्य की आवश्यक वस्तुओं का निर्माण विभिन्न कारखानों में किया जाता था) जयपुर राज्य में, जैसा कि स्पष्ट है, मुगल शासन व्यवस्था का पूर्ण प्रभाव था। अतः यहां भी इस तरह के कारखानों का उल्लेख मिलता है। लेकिन इनकी संख्या निश्चित नहीं थी जिस वस्तु की आवश्यकता होती थी उसका एक अलग कारखाना अथवा गोदाम बना दिया जाता था। ये कारखाने दो तरह के होते थे। प्रथम प्रकार के कारखानों को विभिन्न वस्तुओं का विभाग कहा जा सकता है जहां खाने पहनने या अन्य प्रयोग में लाई जाने वाली वस्तुओं को जमा रखा जाता था तथा दूसरी प्रकार के कारखानों में राज्य के उपयोग में आने वाली आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन किया जाता था।[१] उदाहरणार्थ कीरकीखाना में राजा द्वारा आदेश दिये गये वस्त्रों के अलावा कीमती हीरे, जवाहरात, व गहने कपड़ों का संग्रह होता था। जीनखाना में घोड़ों के साज, जीन, लगाम आदि रखे जाते थे, रथखाना में रथ रखने के साथ रथ बनाये जाते थे। पोथीखाना में विभिन्न प्रकार की पुस्तकों के संग्रह के साथ अन्य राज्यों से पुस्तकें मंगवाई तथा उनकी नकल करवाई जाती थी। औखदखाना में दवाइयां रखने के साथ दवाइयां बनाई जाती थी। खसबोई खाना में विभिन्न प्रकार के इत्र बनाये व रखे जाते थे सूरतखाना में चित्रों के संग्रह के साथ नये चित्र बनाने के लिये कुशल चतेरों को नियुक्त किया था इसी तरह रंगखाना और छापाखाना में कपड़ों की रंगाई व छपाई का काम होता था। इन कारखानों में मुख्यतः राजा और राजपरिवार से सम्बन्धित उपयोग में आने वाली समस्त वस्तुओं का निर्माण किया जाता था। जैसे राजा प्रति वर्ष जागीरदारों (सामन्तों) एवं अन्य कर्मचारियों को इनाम स्वरूप एवं सिरोपाव में वस्त्र भेंट करता था तथा अन्य राज्यों के

---

१ हम यहां विभागीय कारखानों का उल्लेख न करके केवल औद्योगिक दृष्टि से महत्वपूर्ण उन कारखानों का वर्णन करेंगे जिनमें विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन किया जाता था।

राजाओं द्वारा उपहार भेजने पर या उनके जयपुर में मिलने आने पर उन्हें राज्य की ओर से उपहार व भेंट स्वरूप विभिन्न प्रकार के कीमती वस्त्र एवं अन्य वस्तुएं भेजी अथवा दी जाती थी ये सब प्रकार के कारखानों में तैयार की जाती थीं।

अतः संक्षेप में शाही उपयोग में आने वाली प्रत्येक वस्तु जैसे रेशम व चिकन आदि के कपड़े हथियार व गहनें आदि सब प्रकार की वस्तुएं इन कारखानों में बनती थी।[1] राजा को जब किसी वस्तु की आवश्यकता होती थी तब वह दीवान को उस वस्तु के प्रबंध का आदेश देता था[2] मुगल रिवाज़ (फैशन) की वस्तुएं अपने कारखानों में तैयार करने के लिये देश के विभिन्न राज्यों व परगनों से जैसे दिल्ली, आगरा, गुजरात आदि से से कुशल कारीगरों को बुलाया जाता था एवं हर तरह की सुविधा प्रदान की जाती थी एवं समय २ पर इनाम व सिरोपाव दिये जाते थे। कस्बा सांगानेर से कासिम कागदी को जयपुर में कागज का कारखाना खोलने के लिये बुलाया गया एवं उसे पाघ बंधाई[3] छीत्र व मथुरादास वगैरह छापगर को आगरा से नमूने छापने के लिये बुलाने पर उसे राहखर्च के १२॥) रु० दिये गये।[4] मुहम्मद सादिक चतेरे को दिल्ली से बुलाकर सूरतखाना में काम करने के लिये प्रतिमाह १५) रु० वेतन देकर काम पर रखा गया था।[5] कारीगरों को अधिक व अच्छी किस्म का उत्पादन करने या कलात्मक वस्तुएं तैयार करने पर इनाम दिया जाता था। लखमीदास को जो जरी के कारखाने में काम करता था ३६) रु० तथा धामणदास को जो गुजरात से आकर जयपुर में बस गया था। १७७) रु० इनाम दिया[6] इसी तरह बक्शीराम कारीगर को जरी की साड़ी बनाने पर २०) रु० दिये।[7] इसके अलावा जेठा, लालजी, तुलछीदास, रहमत, मनोहर, रणछोड़, जोगीदास, धनीसिंह, कुशलसिंह आदि को जो मखमल व फैंटे बनाने का काम करते थे उन्हें सिरोपाव दिये गये।[8] इसी तरह फते मुहम्मद और कमाल लुहार को तोप अच्छी बनाने पर २००) रु० इनाम

---

१ स्याहे हजूर, संवत १७८३, पृ० ६९९; तथा संवत १७९६, पृ० १८४९।

२ वही, पृ० ६६१।

३ अठसठे सवाई जयपुर-संवत् १७८६. पृ० ६१४।

४ जमा खरच छापाखाना, संवत् १८८८, पृ० ७२-७७।

५ स्याहे हजूर, संवत् १७९९, पृ० ९९९, आसाढ़ सुदी १४ शुक्रवार।

६ अठसठे सवाई जयपुर, सम्वत् १७८६, पृ० ६०३-६०८।

७ दसतूर कोमवार, भाग १७, पृ० ७३२।

८ वही, भाग २३, पृ० ३९५।

दिये गये।[१] जयपुर से भी कारीगरों को अन्य राज्यों में काम सीखने हेतु भेजा जाता था। जैसे लालंदास आदि को औषधियां बनाने के लिये बुरहानपुर भेजा गया था।[२]

इस प्रकार मध्ययुग के विभिन्न उद्योग धंधों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय उद्योग धन्धे काफी उन्नत अवस्था में थे फिर भी यह कहना गलत न होगा कि कृषि कार्य में व्यस्त व्यक्तियों की तथा-अन्य शिल्पकर्मियों की आर्थिक अवस्था संतोषजनक नहीं थी। फसल अच्छी होने पर कृषक लगान व कर चुकाने के बाद अपने दैनिक उपयोग की वस्तुऐं-जिन्हें वह दूसरे व्यक्तियों से खरीदता था, खरीद सकता था लेकिन पैदावार अच्छी न होने पर या फसल खराब होने पर या प्राकृतिक प्रकोप, जैसे अकाल, बाढ़ आदि आने पर भूख और परिवार के भरण-पोषण के लिये उसे ऋण लेने के लिये विवश होना पड़ता था जिसे वह बाद में जीवन पर्यन्त कभी चुका नहीं पाता था। फलस्वरूप उसे अपनी-जमीन या खेत बंधक रखना पड़ता था; जैसे हरराम डालु गूजर ने किखाराम के पास अपनी भूमि बंधक रखी थी।[३] इसी तरह मेवामाली ने कर्ज न चुका पाने की स्थिति में धतूरा खा लिया तथा, जैरामी ने अफीम खाकर आत्म हत्या कर ली।[४]

कम आय या पूंजी के बाद युद्ध आदि भी एक दम कमर तोड़ देते थे। जिस स्थान से युद्ध के लिये सेनायें गुजरती थी वहां की सारी खड़ी फसल नष्ट हो जाती थी और युद्ध के डर से लोग अपनी फसल व गांव छोड़कर भाग खड़े होते थे और इस तरह जन व धन की हानि होती थी।[५] यही नहीं मध्ययुगीन राजतंत्र में अपने से उच्च कर्मचारियों को प्रसन्न रखने के लिये बेगार अथवा अपने कार्य का पारिश्रमिक लिये बिना ही समय-समय पर राज्य को अपनी सेवायें समर्पित करनी पड़ती थी।[६] इसके अतिरिक्त लुहार-कुम्हार-चमार-जुलाहा-तेली आदि को पेशेवर के रूप में हासिल कराली, । घाणातेली-अधोड़ी अथवा

---

१ वही, पृ० ४५।

२ रोजनामा ओखदखाना, संवत् १७९९।

३ स्याहै हकीकत परगना निवाई, संवत १७७१, आसोज वदी १२, वही, परगना उवेही, संवत १७९० पृ. ८

४ चिट्ठी करार परगना चाटसु, संवत १७८४, भादवा सुदी १५

५ नकल चिट्ठी करार, संवत १७९२, भादवा सुदी १, तथा तोजी दस्तूर कोमवार, दसतूर नोमेड़ा, पृ. ७, जमा खरच पोतदार परगना आंवेर, संवत १७८१, पृ. ३७९८-३७९९ स्याहै हकीकत परगना जलालपुर, १७८७, चैत वदी ५ दीतवार

६ हकीकती परगना गीजगढ़, संवत् १७४३, पृ० ५

चमारपट्टा आदि कर राज्य को देने पड़ते थे।[1] शिल्पकार बाजार में उचित दामों पर अपनी वस्तुएं दलाल के माध्यम से बेचता था जिससे लाभ का अधिकांश भाग दलाल ले लेता था और उसके पास बहुत कम रह पाता था।[2] इसके अलावा आवागमन के साधन सुलभ न होने के कारण समय पर अन्य स्थानों से कच्चा माल उपलब्ध न होने की अवस्था में शिल्पकार केवल स्थानीय मांग की पूर्ति हेतु ही सामान बना पाता था उसके पास अपनी निजी पूंजी न होने के कारण कच्चा माल खरीदने और अपने माल की खपत होने तक महाजन पर निर्भर रहना पड़ता था उसकी इस विवशता का महाजन पूरा लाभ उठाता था और उसे मनमाने ब्याज पर पैसे देता था।[3] अन्त में यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि मध्ययुग में राज्य द्वारा संरक्षित विभिन्न कारखानों मे नियुक्त शिल्पकारों व कर्मचारियों को राज्य द्वारा समय-समय पर प्रोत्साहन मिलता था कुछ शिल्पकारों का जिनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका हैं अपनी कला की उन्नति पर इनाम व सिरोपाव से पुरस्कृत किये गये थे कुछ उच्चकोटि के कलाकारों को राज्य दरबार में सम्मान प्राप्त था लेकिन अन्य कारीगरों को जो अपना स्वतन्त्र रूप से कार्य करते थे, राज्य की ओर से किसी प्रकार का संरक्षण देने का कोई प्रावधान नहीं था।

—महारानी कॉलेज, जयपुर

---

१ जमा बदी भोमी कस्बा सांगानेर, संवत १७७५, पृ. ५; रोजनामा पोतदार परगना दौसा, संवत १७७७, पृ. ६; अठसठे परगना उजीरपुर, संवत १७८२, पृ. ३१; तथा शोधपत्रिका, उदयपुर, वर्ष २४ अंक २ में प्रकाशित मेरा लेख 'मध्यकालीन जयपुर राज्य के कर।'

२ जमा खरच अग्रवाल सदानन्द, सन् १०८२, पृ. १६५-१६६

३ सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ. ३०७-३०९

राजस्थान में धर्म : दसवीं शती ई० तक*

शिलालेखीय साक्ष्य पर आधारित अध्ययन

● श्रीमती प्रेमलता पोखरना

राजस्थान में शिव की पूजा दीर्घ काल से चली आ रही है। कोटा क्षेत्र में गुप्तकालीन शिवालय की विद्यमानता का बोध होता है। क्योंकि उसके अन्दर संस्कृत भाषा में गुप्तलिपि के दो लेख[1] उत्कीर्ण हैं। झालावाड़ से ५ मील दूरस्थ चन्द्रभागा पाटन के 'शीतलेश्वर' महादेव मन्दिर को ईसवी ६८९ की कृति माना गया है। इसके गर्भगृह के ललाट-बिम्ब पर लकुलीश प्रतिमा उत्कीर्ण हैं। शूकरवराह की प्रतिमा की चौकी के ऊपर शूकर के चरणों में पुर्व मध्ययुगीन 'कुटिल लिपि' का शिलालेख[2] उल्लेखनीय है। लेख में 'ईशानमुनि' नामक शैवाचार्य की तुलना लकुलीश से की गई है। लकुलीश की गणना शिवजी के १८ अवतारों में की गई है। प्राचीन काल में पाशुपत (शैव) सम्प्रदायों में लकुलीश सम्प्रदाय बहुत प्रसिद्ध था। डॉ० आर० जी० भंडारकर ने लकुलीश का समय ईसा पूर्व की प्रथम शती माना था परन्तु श्री डी० आर० भंडारकर ने चन्द्रगुप्त द्वितीय के शिलालेख के आधार पर लकुलीश को ईसा की प्रथम शती में होना स्वीकार किया है। यह प्रतीत होता है कि चन्द्रभागा पाटन के उपर्युक्त लेख का शैव आचार्य स्थानिक शीतलेश्वर महादेव मन्दिर का पुजारी था। जैसा कि—

---

* गतांक में प्रकाशित लेख का शेषांश।

१ डॉ० मथुरालाल शर्मा, कोटा राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० २५।

२ जर्नल ऑव दि बाम्बे ब्रांच ऑव रायल एशियाटिक सोसायटी, भाग २२ (पुरानी माला) पृ० १५८; कनिंघम आर्कियोलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, भाग २, पृ० २६७।

'पं० १........ष्ट जात तिलको धार्म्मिक व्रतभूषण: ईशानज ।

पं० २ :—मु (नि) .... . ख्यातो लकुलीश इवाभवत । तस्य कर्म्मकरो भृत्य: सूत्र—

पं० ३ :—धारोत्र सी (ह)ट : । एभि ....तसा नं मुनि शिल्पिना ।

उक्त चन्द्रभागा नदी के किनारे सं० ७४६ के मौर्यवंशी नृप दुर्गगण के शिलालेख[1] के ६ वें श्लोक में चन्द्रमौलि शिव मन्दिर के निर्माण का उल्लेख किया गया है—'तेनेदमाकारि चन्द्रमौलेर्भवनं जन्म मृति प्रहाणहेतो:' । ऋषभदेव (उदयपुर) केसरियाजी के निकटस्थ 'कल्याणपुर' नामक प्राचीन स्थान से ईसा की ७वीं-८वीं शती का एक लघुलेख प्राप्त हुआ है । लेख का प्रारम्भ (प्रथम पंक्ति) 'ओ नम: शिवाय' पदों द्वारा शिव की स्तुति की गई है । तदनन्तर यह ज्ञात होता है कि कदर्थिदेव नामक व्यक्ति ने इस स्थान पर शिवालय का निर्माण करवाया था[2] इसी स्थान से प्राप्त तत्कालीन युग के सुन्दर कुटिलाक्षरीलेख[3] भी शिवालय निर्माण का बोध होता है जैसा कि—

(पंक्ति १) सिद्ध स्वास्ति ।। प्रणम्य शंकर कर चरण मन: (न)
(" २) शिशरोमि ।। आम्नायेन यथाम्नायं वि-
(" ३) तमादाय धर्म्मंत कारित शूलिनो;
(" ४) वेश्म शिवसायो (यु) ज्य सिद्धये ।।
(" ५) श्री महाराज ....पडुराज्ये ।।

यहां पर कल्याणपुर के शिवालय का निर्माण तो 'शिवसायुज्य' की प्राप्ति हेतु हुआ था । वास्तव में यह शैव विचारधारा के प्रचुर प्रभाव का द्योतक है । अत: कल्याणपुर का शिलालेख गुप्तोत्तर युगीन मेवाड़ में पाशुपत धर्म का बोध कराता है । कल्याणपुर के अन्य शिलालेख (८वीं शती) में शैवाचार्य 'कुटुक्काचार्य' का उल्लेख किया गया है । मंडोर से प्राप्त बावड़ी के संवत् ६४२ के लेख[4] में शिवार्चना का भी उल्लेख मिलता है । झालावाड़

---

१ एपिग्रेफिया इंडिका ३०, पृ० १२० ।

२ श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, 'राजपूताने का इतिहास', १९३२, अजमेर, भाग २, पृ० १४१४ ।

३ श्री रतनचन्द्र अग्रवाल, जर्नल ऑव इण्डियन हिस्ट्री, त्रिवेन्द्रम्, वर्ष ३५ (१), पृ० ७३–७४; डॉ० डी० सी० सरकार, ए० इं०, वर्ष ३५, पृ० ५६; गौ० ही० ओझा, रा० रि० म्यू० अ०, १९२९, पृ० १–२ व परिशिष्ट २ ।

४ एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ आर्कयोलॉजिकल डिपार्टमेन्ट, जोधपुर-८, १९३५, पृ. ५

के समीपवर्ती प्रदेश इन्द्रगढ़ से प्राप्त ८वीं शताब्दी के लेख[1] द्वारा लकुलीश पूजन विषयक महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध हो सकी है। आबू के निकटवर्ती मूंगथला गांव मुदग्लेश्वर शिव मन्दिर में दो बड़ी शिलाओं पर अंकित वि. सं. ८९५ का लेख विद्यमान है। उक्त संवत में उसका निर्माण होना प्रमाणित होता है। ९वीं शताब्दी के एवं कामा (भरतपुर) से प्राप्त शिलालेख[2] द्वारा यह जानकारी प्रस्तुत की गई है। इसमें अन्य शैवाचार्य गुणराशि के साथ-साथ (पंक्ति ९) शैवमठ का भी उल्लेख है (पं. १८)। यहां पर यह भी अंकित है कि कामा के चामुंडा व विष्णु के दो लघु देवालयों की देखरेख का कार्य शैवाचार्य को को सौंपा गया था। इसी लेख की १८वीं पंक्ति में 'मठ' शब्द का प्रयोग भी महत्वपूर्ण है। वास्तव में भरतपुर क्षेत्र का 'कामां' नामक प्राचीन स्थल प्रतिहार युग में शैव धर्म का एक प्रख्यात केन्द्र था।

लकुलीश के चार प्रमुख शिष्यों में कुशिक सर्वप्रमुख एवं ज्येष्ठ थे। इनकी शिष्य परम्परा का एकलिंगजी के शिलालेख[3] (वि. सं. १०२८) में वर्णन है। जिसके अनुसार कुशिक परम्परानुयायी शैव मुनि अपने शरीर पर भस्म लगाते थे, वृक्षों की छाल पहनते थे तथा सिर पर जटा धारण करते थे; '...... 'पाशुपात योग भृतो यर्याथ ज्ञानावदात व पुषः कुशिकादयोन्ये। भस्माङ्ग राग तरूवल्कल जय किरीट लक्ष्माण आविरभवन् मुनयः पुराणा।।' यहां इस मन्दिर को 'लकुलीश वेश्म' (पं. १५) कहा गया है। अन्तिम पंक्ति में 'कारायक 'श्री सुपूजितराशि', 'सद्योराशि' एवं 'विनिश्चित राशि' नामक शैवाचार्यों का उल्लेख है। डबोक से प्राप्त लेख (९-१०वीं शती) में शिव-विष्णु मंगलाचरण की गई है—'ॐ नमः शिवाय।। चापाकर्षण सं. (शं) शुभाकुलतया दष्टे धरे'। प्रतिहार विनायकपाल के समय के संवत १०१६ के राजोरगढ (अलवर-राजस्थान) के मथनदेव के लेख में[4] शैवमत के सोपुरीय परम्परान्तर्गत 'आमर्द्दक' सम्प्रदाय के ओंकार शिव, रूपशिव और श्री कण्ठ नामक आचार्यों का उल्लेख किया गया है। उक्त लेख से इनका ब्रह्मचारी एवं शिष्य परम्परानुसार आचार्य पद प्राप्त करना सुस्पष्ट है। ये पाशुपत आचार्य जीवन भर ब्रह्मचर्य का पालन करते थे। हर्षनाथ-सीकर के संवत १०३० के प्रख्यात शिलालेख[5] में पाशुपत धर्म विषयक पर्याप्त सामग्री का वर्णन किया गया है। 'कुशिक' परम्परा के अतिरिक्त 'अनन्त गोत्र'

---

१ ज.बि.ओ.रि.सो., ४, पृ. २४९

२ ए.इ., २४, पृ. २३१ तथा आगे

३ ज० बां०, ब्रा० रा० ए० सो, बम्बई, प्राचीन संस्करण वर्ष २२, पृ. १६६-१६७

४ ए. इं, भाग ३, पृ. ३६३ तथा आगे

५ शैव कल्ट (अंग्रेजी), काशी, १९६०, पृ. १२

भी पर्याप्त प्रसिद्ध था तथा हर्षनाथ के इस लेख में मुनि 'विश्वरूप' का 'पंचार्थ' लाकुलाम्नाय' एवं अनन्तगोत्र से संबंध बताया गया है। डॉ० विश्वंभर शरण पाठक का यह मत है कि 'पचार्थ' तो 'पाशुपत सूत्र' का पर्यायवाची है। हर्ष के उपर्युक्त लेख में अल्लट को संयमी, ब्रह्मचारी एवं तपस्वी के अतिरिक्त 'नग्न' (दिग्मल वसन:) कहा गया है। यह सब गुरु शिष्य परम्परा के अन्तर्गत ही हुआ था। इसी लेख की २८वीं पंक्ति में इन शैवाचार्यों द्वारा नग्न रहना, शरीर पर भस्म लगाना, जटा धारण करना, भिक्षावृति में लगे रहना ...आदि जीवनचर्या का उल्लेख किया गया है– 'दिगंव(ब)र जय भस्म तल्प च विपुल मही भिक्षा वृतिः कर: पात्र यस्यैतानि परिग्रह:', ये करपात्री होकर हाथ पर भोजन खा लेते थे, अल्पसंतोषी थे। उक्त लेख में अल्लट के शिष्य 'भावद्योत' का 'पाशुपतव्रत' में एकनिष्ठ होना बताया गया है, जो महत्वपूर्ण है। इसी प्रशस्ति में हर्ष पर्वत पर विराजमान शंकर' की अष्ट मूर्तियों का भी उल्लेख किया गया है—'अष्टमूर्तिर्यमध्यास्ते सिद्वयष्टक विभु: स्वयं महिमा मूधरस्यास्य'। शिव के आठ स्वरूपों का उल्लेख तो वृहतभारत के शिलालेखों में भी उपलब्ध है। अत: स्पष्ट है कि १०वीं शती में राजस्थान के सीकर प्रदेश में पाशुपत शैवधर्म का पर्याप्त विकास हो चुका था और वहां के शैवाचार्य प्रख्याति प्राप्त कर चुके थे। कला की दृष्टि से भी तत्सम्बन्धी हर्षनाथ शिवालय पर्याप्त महत्वपूर्ण है। इस स्थान से प्राप्त लिंगोद्भव प्रतिमा तो अद्वितीय ही है। उदयपुर क्षेत्र में खमणोर ग्राम से ५ मील दूर 'ऊनवास' ग्राम के संवत १०१६ के शिलालेख में[1] उस स्थल पर 'पिप्लादमुनि' के आश्रम की विद्यमानता का उल्लेख हुआ है। इसी कारण संभवत: तत्कालीम स्थानिक दुर्गा मन्दिर को 'पिप्लाद माता' भवन कहने लग गये।

छोटीसादड़ी के भ्रमर माता मन्दिर से प्राप्त वि० सं० ५४७ के शिलालेख[2] में शिव एवं पार्वती के अर्धनारीश्वर स्वरूप की स्तुति का उल्लेख हैं। गुहिल 'धनिक' के संवत् ७४१[3] के लेख में शिव के इस अर्धनारीश्वर स्वरूप की स्तुति की गई हैं। खंडेले के लेख[4] (८–९वीं शती) से वहां आदित्य नाग नामक वैश्य द्वारा 'अर्धनारीश्वर' मंदिर के निर्माण का बोध होता है। राजस्थान के शिलालेखों में गणेश का उल्लेख भी भिन्न भिन्न नामों के रूप में मिलता है। जयपुर क्षेत्रान्तर्गत 'सकराय माता' मन्दिर के लेख[5]

---

१ श्री रतनचन्द्र अग्रवाल, वरदा, अक्टूबर, १९६४, पृ० ९ से १५।

२. रि० रा० म्यू० अ०, १९३०, पृ० २, आ० स० रि०, १९२९-३०, पृ० १८७।

३ श्री रतनचन्द्र अग्रवाल, वरदा, १९६३, वर्ष ६, अंक १, पृ० १३।

४ ए० इं०, ३४, भाग–४. पृ० १५९; रि० रा० म्यू० अ०, १९३५, पृ० २ व ६।

५ डॉ० सत्यप्रकाश, राजस्थान भारती, भाग-९, अंक-४, पृ० १५।

के प्रारम्भ में गणेश को गणपति संबोधित करके स्तुति की गई है। घटियाला (जोधपुर) लेख[1] में विनायक की स्तुति की गई है। सबसे ऊपर चारों दिशाओं में दिखने वाली गणपति प्रतिमा भी जड़ी थी; अतः मारवाड़ का यह सर्वतोभद्र[2] गणपति स्तंभ बहुत महत्वपूर्ण है। सांभर से प्राप्त जोधपुर संग्रहालाय में सुरक्षित संवत् ६६८ के कृष्ण पाषाण वाले लेख का प्रारम्भ 'ओं गणेशाय नमः' से हुआ है। ब्रह्मा का पुष्कर से विशेष संबंध का विवरण वि० सं० ६८२ के पुष्कर लेख[3] में मिलता है।

परमात्मा के भिन्न २ नामों को ही देवता मानकर उपासना प्रारंभ नहीं हुई किन्तु ईश्वर की मानी हुई शक्ति एवं ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि देवताओं की पत्नियों की शक्ति-रूप में कल्पना की जाकर उनकी पृथक-पृथक पूजा होने लगी। शक्ति की उपासना का प्रमाण प्रत्यागेतिहासिक युग से मिलने लग जाते हैं। परन्तु शिलालेखों के आधार पर यह सब सन्दर्भ बाद के युग के हैं। गङ्गधार (झालाबाड़) नामक स्थान के सुविख्यात लेख[4] (वि. सं० ४८०) में 'डाकिनी देविया' का उल्लेख है। तत्कालीन महाराज विश्ववर्मन के सचिव मयूराक्ष ने गंगधार में मातृका भवन का तांत्रिक शैली के अनुरूप निर्माण कराया था; यथा—

'मातृणां च प्रमुदितं घनात्यर्त्थं निह्रादिनीनाम् ।
सन्त्रोदभूत प्रवल पवनो द्वर्तिताम्भो विध्निनाम ॥
.... गदमिदं डाकिनी संप्रकीर्णाम ।
वेश्मात्युग्रं नृपति सचिवोऽकारयत्पुण्य हेतोः ॥'

उदयपुर राज्यान्तर्गत तथा छोटी-सादड़ी मंदिर की शिला पर वि. सं० ५४७ के प्रारंभ में ही असुरसंहारिणी तथा शूलधारिणी दुर्गा देवी की स्तुति की गई है— यथा 'ऊं नमो सिद्धं जयत्र सुरदारण तीक्ष्ण–शूला'.........इत्यादि। उक्त लेख में महाराज गौरि द्वारा शैलेन्द्र समान ऊंचा दुर्गा भवन निर्माण का वर्णन है–

'श्री महाराज गौरिः तेशेष शशिहार कुन्द धवलः शैलेन्द्र श्रि (शृं) ङ्गोत्तमप्रसादो ऽद्भुतरिशनः (दर्शन) कृतमयम् (यं) देव्याःप्रासादार्थिना'। जोधपुर राज्यान्तर्गत गोठ

---

१ गौ० ही० ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, प्रथम खंड, पृ० २७।
२ श्री रतनचन्द्र अग्रवाल, जर्नल आव दि ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट, बडोदा, १२ (३), मार्च १९६३, पृ० २८५–८६ व चित्र।
३ ए० इं०, जिल्द ३५, भाग–५, पृ०–२४१।
४ श्री दिनेश चन्द्र सरकार, सिलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, १९४२, कलकत्ता, पृ. ३८५ तथा फुटनोट; दी क्लॉसिकल एज, १९५४, बम्बई, पृ० ४२१; गौ. ही. ओझा, राजपूताने का इतिहास, भाग–१, १९२६, अजमेर, पृ० १२६

मांङ्गलोद नामक स्थान से प्राप्त मारवाड़ के प्राचीनतम लेख[1] (गुप्त सं. २८९ = ६०८ ईसवी) में दाहिमा ब्राह्मणों की कुलदेवी दधिमती उल्लिखित हैं–– 'श्री दध्या दधिमती संनिध्यपादानुध्याता··· ·········' उक्त लेख में देवी के लिये निवेश का वर्णन भी है– 'देवी दधिमती विज्ञापन्ति । अस्मिन देव्या निवेशे··· ···' जयपुर क्षेत्र से प्राप्त सकराय लेख में शाकम्भरी का वर्णन आता है। आबू के समीप वसन्तगढ (वटपुर–सिरोही) नामक स्थान से प्राप्त वर्मलात के वि. सं. ६८२ के लेख में 'क्षेमकारी क्षेमार्या' की अर्चना का बोध होता है– 'नियत मति प्रतिपरस्या जो यागे कृया फलेस्व सकृत क्षेमार्या क्षेमकरी विदधासु शिवा-मिन स्संतत्' । लेख में देवताओं के उत्तम मंडप के निर्माण का उल्लेख किया गया है। मेवाड़ स्थित सामोली ग्राम के वि. सं. ६०३ के लेख[2] द्वारा यह ज्ञात होता है कि वटपुर से गये हुये व्यापारियों के समूह ने आरण्यकगिरि में अरण्य वासिनी देवी का सदन बनवाया- 'श्रीअरण्य वासिण्या (न्या) देवकुलं चक्रे महाजना··· ······ '। डूंगरपुर राज्यान्तर्गत वसुन्दर नामक स्थान पर मन्दिर में वसुन्दर देवी उत्कीर्ण है।

श्री ओझा ने मेवाड़ाधीश अपराजित के समय के वि० सं० ७१८ की लिपि के लेख के साम्य के आधार पर इस इस लेख को भी ७ वीं शती का माना है। भोज के दौलतपुर ताम्रपत्र[3] से जो वि० सं० ९०० का है हमें भगवती देवी का उल्लेख मिलता है। संभवतः यह देवी उमा की पर्यायवाची है। घटियाला में माताजी की साल से प्राप्त एक शिलाफलक[4] (वि० सं० ९१८), मारवाड़ स्थित सादड़ी के जैन मन्दिर में एक धातु मूर्ति पर उत्कीर्ण लेख[5] (१० वीं शती) एवं उदयपुर जिले के जगत नामक ग्राम के देवालय के लेख में अम्बिका का वर्णन आता है। अर्ना से प्राप्त शिलालेख[6] में हिमवन्त पर्वत पर वास करने वाली भगवती नन्दा का उल्लेख है यथा–'नमो भगवती–'नन्दा देव्या।··················· हमवन्त सि (शि) खर' निवासिनी नन्दा देवी गृह कारापितम्' । परबतसर से ४ मील पूर्व दिशा स्थित किसरिया नामक ग्राम के पास एक ऊँची पहाड़ी पर केवायमाता के मन्दिर

---

१ श्री रामकर्ण आसोपा, ए. इं. भाग ११ पृ० २९९ तथा आगे।

२ ए इं. २०, पृ० ९७–९९

३ ए० इ० भाग–५, पृ० २०८ । तथा आगे

४ प्रो० रि०, १९०६, पृ० ३४

५ डॉ० उमाकान्त शाह, आइक्रोनोग्राफी आफ दि जैन गोडेस अम्बिका; जर्नल ऑव बाम्बे यूनिवर्सिटी, बम्बई, सितम्बर १९४०, पृ० १६५

६ एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट, पुरातत्व विभाग जोधपुर, १९३६, पृ० ७; गौ० ही० ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० २८

के लेख[1] में कात्यायनी तथा काली की आराधना की गई है—सा यस्या: प्रसादान्सतां सर्व्वाथ विभूतिदा भगवती कात्यायनी पातु व:' प्रोदभूता निध (नाय या) पुरा देव द्रुहाप्रस्फुर त्कंकालसिकपाल शूलशव (व) ला काली श्रिये सास्तु व:।' प्रतापगढ राज्यान्तर्गत 'घोटार्सी' नामक स्थान पर वटयक्षिणी देवी का उल्लेख मन्दिर से प्राप्त लेख[2] में आता है—'श्री वटयक्षिणी देव्यै शासन त्वेन प्रतिपादित.........'। श्री ओझाजी[3] का विचार है कि वटयक्षिणी दुर्गा का ही अपर नाम है। सांभर से प्राप्त तथा जोधपुर राजकीय संग्रहालय में सुरक्षित वि० सं० ९९८ के कृष्ण पाषाण वाले लेख मे[4] सरस्वती की प्रशंसा की गई है- 'श्रुता बुधौ पीत इव प्रसिद्धा सदैव ब्रह्मादि भिरीडिता पुरा। सानन्दा जाऽयहरा तु भुतले रक्षां (सदा विदधातु भारती)। एकलिङ्ग जी के संवत् १०२८ का लेख[5] व चाट्सू से प्राप्त १० वीं शती के लेख[6] (या ञ (न्म.) स्वाश्री श्री मता यावि (रो) धिनी तां वन्दे वाङमयी देवी वाक् प्रवंच प्रसिद्धये) से वागीश्वरी सरस्वती की अर्चना का बोध होता है।

सबसे प्राचीन राजस्थानीय बौद्ध स्मारक सम्राट अशोक के समकालीन है। अशोक द्वारा बहुमुखी योग दिये जाने के कारण बौद्धमत उसके समय में भारत का लोकधर्म हो गया था। बौद्ध धर्म के विषय में वैराठ के लेखों[7] से मुख्य दो बातें प्रकाश में आती हैं। प्रथम सम्राट अशोक का बौद्ध होना और द्वितीय वैराठ भी सारनाथ, सांची, कौशाम्बी आदि की भाँति बौद्ध धर्म के अनुयायियों का एक प्रमुख केन्द्र रहा होगा। वैराठ लेख (२६२-२३२. ई. पू.) में उत्कीर्ण है कि—'मगध के राजा प्रियदर्शी संघ को अभिवादनपूर्वक कहते हैं कि वे बिघ्न रहित और सुखपूर्वक होंगे। हे भदन्तगण, आपको विदित है कि बुद्ध, धर्म और संघ में हमारी कितनी भक्ति और श्रद्धा है—'पियदसि लाजा मागधं-संघ अभिवादन तून आहा......विदिते वे भंते आव्रत के हमा बुधसि—धंमसि संघसीति गालवे च पसादे

१ ए० इं०, १२, पृ० ५६; एच० सी० रे० डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑव नार्दन इंडिया, १९३६, भाग—८, पृ० १०६७।

२ ए० इं०, भाग १४, पृ० १८३—८४

३ गौ. ही. ओझा, प्रतापगढ राज्य का इतिहास, १९४१, पृ. २२—२३

४ विश्वेश्वरनाथ रेऊ, ग्लोरीज आव मारवाड़ एण्ड ग्लोरीयस राठौड्स, १९४३, जोधपुर, पृ० २२०—२१, इं. एं., ५८ दिसम्बर १९२९, पृ. २२४—३६।

५ एच० सी० रे० डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑव नार्दन इंडिया, १९३६, भाग २ पृ, ११७१।

६ ए. इं., १२, पृ. १३

७ वैराठ लेख का हिन्दी अनुवाद श्री जनार्दन भट्ट द्वारा सम्पादित 'अशोक के धर्म लेख।'

च ए केचि भंते...... —' उक्त बैराठ के प्रथम शिलालेख के अतिरिक्त बैराठ में ही भीमजी की डूंगरी के नीचे एक लघु शिलालेख भी मिला है। लेख से सम्राट अशोक का बौद्ध होना ज्ञात है। यह खंडित लेख इस प्रकार है–

'देवानंपिये आहा सांति ....
वसानि य हक उपासके नो चु बाढं
अ ममयासधे उपयाते बाढ च ...... ।'

नगरी नामक स्थान से तृतीय अथवा द्वितीय शती ई० पू० का ब्राह्मी लिपि में एक खंडित शिलालेख[1] प्राप्त हुआ है। यह लेख अब उदयपुर संग्रहालय के पुरातत्व कक्ष में सुरक्षित है। लेख इस प्रकार है—

(अ) 'स वा भूतानांम् दयायम्
(ब) कारिता'

शेरगढ़ (कोटा) से प्राप्त वि. सं. ८४७ (७९० ई,) बौद्ध प्रशस्ति[2] में वर्णन है कि देवदत्त नामक एक नाग सामन्त ने कोषवर्धन पर्वत के पूर्व में एक बौद्ध विहार का निर्माण करवाया था। शिलालेख के प्रारभ में 'ओं नमो' के उपरान्त बौद्ध धर्म के तीन अंग अर्थात त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म, संघ) का उल्लेख आता है तथा बुद्ध को भी 'सुगत' कहा गया है। उदयपुर के समीप एकलिंगजी से प्राप्त नरवाहन (वि. सं. १०२८) के लेख[3] में बौद्ध धर्म के पतन का कारण शैव धर्म उल्लिखित है। लेख में शैव धर्म को स्याद्वाद (जैन धर्म) तथा सुगतो (बौद्ध धर्म) का कट्टर विरोधी बताया गया है।

राजस्थान का जैन धर्म से सम्पर्क प्राचीन काल से था। जैसाकि अजमेर क्षेत्र में बड़ली से प्राप्त व अजमेर संग्रहालय में सुरक्षित ईसा पूर्व की शती के खंडित शिलालेख को भी ओझा ने ८४ वीर निर्वाण संवत महावीर के निर्वाण से माना है परन्तु डॉ. डी. सी. सरकार उक्त लेख का पाठ्यार्थ भिन्न तरीके से करते हैं[4] तथा वे लेख में उल्लखित 'चतुर

---

१ डॉ० भंडारकर, आ. रि. ए. न.; मासो, नं. ४, पृ० ११२–१२०

२ इं० ए०, १४ पृ. ४५–४६; डॉ० भंडारकर, ब्राह्मी अभिलेखों की सूची, नं. २१; डा० शर्मा, कोटा राज्य का इतिहास, भाग–१, परिशिष्ट ३, पृ० २७

३ ज. बा. ब्रां. ए. सो., बम्बई, २२, ओल्ड सिरीज, पृ० १६६–६७; आई. एच. क्यू., २१, १९४५, पृ० २८४–८५

४ इं. ए., २८, पृ. २२९; डॉ० उमाकान्त पी० शाह, स्टडीज इन जैन आर्ट, पृ. ९.

सीति' पद को अनुमानतः किसी देव भवन हेतु ८४ स्तम्भों का दान का सूचक माना है। सिरोही क्षेत्रान्तर्गत 'पिंडवाड़ा' से पूर्व मध्य युगीन बहुत सी जैन धातु मूर्तिया मिलीं थी। इसमें एक आदिनाथ भगवान की कायोत्सर्ग मुद्रा की चरण चोकी पर ६४४ का लेख[१] भी उत्कीर्ण हैं। यथा—

पं. १— ॐ नीरागत्वा दिभावेन सर्व्वज्ञत्व विभावकं।
ज्ञात्वा भगवता रूपं, जिनाना मेवपावन ।। द्रो-वचकं

" २— यशोदेव देव ...... मि... रिदं जैन-कारितं युग्म मुत्तम ।।

" ३— भवशत परंपराज्जित-गुरूकम्मरसो (जो)....त— वर दर्शनाय शुद्ध सज्भुन चरण काभाय ।।

" ४— संवत ७४४।

" ५— साक्षात्पितामहेनेव, विश्वरूप विधायिना।
शिल्पिना शिवनागेन कृतमेतज्जिन द्वयम् ।।

जोधपुर नगर से लगभग १८ मील दूरस्थ घटियाले की माताजी की साल के एक ताक में विद्यमान आयताकार शिला पर वि.सं. ९१८ का प्राकृत में कवितावद्ध लेख[२] उत्कीर्ण है जिससे जैन मन्दिर बनाये जाने का वर्णन मिलता है। शिला के बायीं ओर सिंहवाहिनी तथा कमलासन पर ललितासन मुद्रा में विराजमान अम्बिका का अतीवाकर्षक तक्षण उल्लेखनीय है। डॉ० भंडारकर ने कुछ पूर्व यह संकेत दिया था कि प्रस्तुत मूर्ति किसी जैन देवी की होनी चाहिये।[३] जोधपुर के निकट गांधाणी तीर्थ के तालाब पर जैन मन्दिर में भगवान ऋषभदेव स्वामी की धातुमूर्ति जिस पर सं. ९३६ का लेख[४] है, जैन धर्म के बारे में सूचना देती हैं। कर्नल टाड को चित्तौड़ के जैन कीर्तिस्तम्भ के पास एक लघुलेख (वि.सं. २५२) मिला था जिसमें आदिनाथ २४ जिनेश्वर का उल्लेख किया गया था।

---

१ मुनिकान्तिसागर, खंडहरों का वैभव, प्रथम संस्करण, जून १९५३, पृ. ३२; श्री कल्याण विजयजी; नागरी प्रचारिणी पत्रिका, नवीन संस्करण, भाग-१८, अंक-२, पृ. २२१-२३१; श्री जैन सत्य प्रकाश, वर्ष ६, अंक १-२-३, पृ. २१६; जैन लेख संग्रह, द्वितीय खंड, कलकत्ता, पृ. १६०

२ जर्नल आव रायल एशियाटिक सोसाइटी, लन्दन, १८९५, पृ. ५१६

३ प्रो. रि., पूना, १९०६, पृ. ३४

४ पूर्णचन्द नाहड़, जैन लेख संग्रह, द्वितीय खण्ड, कलकत्ता, पृ. १९४; मुनि कान्तिसागर, खंडहरों का वैभव, प्रथम संस्करण, पृ. ३३

सुविख्यात जैनतीर्थ श्री राणकपुरजी के समीपस्थ 'सादड़ी के जैन मन्दिर' में सुरक्षित आदिनाथ की धमु प्रतिमा के पीछे १०वीं शती ईसवी का एक अभिलेख उत्कीर्ण हैं। यहां जिनदेव के बाम घुटने के नीचे शिशुकरोदा अम्बिका देवी विद्यमान है। डॉ० शाह[१] इस मूर्ति में आदिनाथ के साथ अम्बिका के प्रदर्शन पर आश्चर्य प्रकट करते हैं। प्रतिहार वत्सराज के समय की वि. सं. १०१० की श्लोक बद्ध प्रशस्ति[२] (जोधपुर) में महावीर मन्दिर का वर्णन दिया गया है। वि.सं. १०२८ के नरवाहन के एकलिंगजी के लेख में स्पस्टतः शैव, और जैनों के शास्त्रार्थ का उल्लेख है जो उसकाल की बौद्धिक उन्नति का परिचायक है। आहाड़ नरेश शक्तिकुमार के लेख में जैन मंदिरों के बनाये जाने का वर्णन है। शेरगढ़ के लेख[3] से जैनधर्म का बोध होता है—जेनावास विघेरतोयमुखिलो लोकत्रया नन्दनी। तेनार सुगत श्रियं जितगद्दो (बां) जनः प्राप्नुयात्'

इस प्रकार मानवता के भव्य प्रतीक इन शिलालेखों से धार्मिक स्थिति का सही दिग्दर्शन होता है।

---

१ ज़र्नल ऑव यूनिवर्सिटी आव बॉम्बे, सितम्बर, १९४०, पृ. १६५, चित्र ३३

२ बी. एन. पुरी, दी हिस्ट्री आव दी गूर्जर प्रतिहारज; पृ. ३९; ज. रा. ए. सो., १९०७, पृ. १०१०; श्री ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, प्रथम खण्ड, पृ. २९

३ मथुरालाल शर्मा, कोटा राज्य का इतिहास, प्रथम भाग, परिशिष्ट सं. ३; ए. इं. पृ. ८५-८६

मेवाड़ के गृह-कलह में मराठों की भूमिका

[१७६१-१७७० ई०]

● ज्ञमनेश कुमार ओझा

अराजकता एवं अव्यवस्था से परिपूर्ण १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जबकि राजस्थान के कई प्रमुख राज्यों यथा—जयपुर; जोधपुर में गृह-कलह का सूत्रपात हो गया तो मेवाड़ भी इसमें अपवाद नहीं रहा। महाराणा राजसिंह (द्वितीय) की १७ वर्षीय अल्पावस्था में मृत्यु मेवाड़ में गृह-युद्ध प्रारम्भ होने की सूचक थी। निः संतान होने से उसका काका अरिसिंह उत्तराधिकारी होकर शुक्रवार ३ अप्रेल, १७६१ ई० को गद्दी पर बैठा।[1] महाराणा अड़सी

---

१ (क) राजस्थान पुरालेखविभाग बीकानेर; जोधपुर खरीता बही नं० १ पृ० ४

(ख) शाहपुरा राज्य की ख्यात, सीतामऊ प्रति; भा० २ पृ० १८६।

(ग) के० एस० गुप्ता व माथुर 'सिलेक्शन्स फ्रॉम दी बनेड़ा आर्काइव्ज' भा० १ पृ० ११-पदमसिंह का राजा रायसिंह को ता० चेत सुद १०, वि० सं० १८१७ (अप्रेल १४, १७६१ ई०)।

(घ) आढा कृष्णां कृत 'भीमविलास' (हस्तलिखित) साहित्य संस्थान, उदयपुर प्रति पृ० २२-२३।

(ङ) वंशावली नं० ८२७ (राज० प्राच्चविद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर)।

(च) उपरोक्त ,, ८७२ ,, ,, ,, ,,

(छ) उपरोक्त ,, ८७८ ,, ,, ,, ,,

(ज) उपरोक्त ,, ८६७ में महाराणा राजसिंह का देहान्त वि० सं० १८१७ चेत सुद १३ को होना लिखा है जो सर्वथा गलत है। अन्य समकालीन वंशावलियों तथा बहियों से स्पष्ट हो जाता है कि मृत्यु चेत बुद १३ वि० सं० १८१७ को हुई थी।

(अरिसिंह) के उग्र स्वभाव एवं दुर्व्यवहार के कारण सामंत उससे नाराज होकर उसको हटाने का षड्यन्त्र रचने लगे। स्व० राजसिंह की मृत्यु के उपरांत रतनसिंह का जन्म होने से विरोध की अग्नि और अधिक शीघ्रता से प्रज्वलित हो गई और मेवाड़ अब दो दलों में विभाजित हो गया। एक ओर अरिसिंह के समर्थक थे तो दूसरी ओर स्व० राजसिंह के नवजात पुत्र रतनसिंह के समर्थक। रतनसिंह गोगूंदा के रावत जसवन्तसिंह का दौहित्र था। अतः वह उसे पालन-पोषण के लिये गोगून्दा ले गये।[1]

ऐसी नाजुक परिस्थिति में महाराणा को पर्याप्त राजनीतिज्ञता एवं दूरदर्शिता से काम लेना चाहिये था। किन्तु उसने इसके विपक्ष में दमन नीति को अंगीकार किया। अपने सामंतों का प्रभाव कम करने के लिए सिंध व गुजरात से मुसलमान सैनिक बुलाये तथा उनकी मेवाड़ में नियुक्तियां की। इतना ही नहीं उसने अपने स्वामी भक्त सामंतों की हत्या भी करादी जिसमें बागोर का नाथजी[2] व सलूंबर का रावत जोधसिंह[3] प्रमुख हैं। महाराणा अरिसिंह की ऐसी दमनकारी नीतियों एवं आतंकवादी प्रवृत्तियों से मेवाड़ के असंतुष्ट सरदार स्व० राजसिंह के पुत्र रतनसिंह को कुंभलगढ़ ले गये और अपने प्रमुख नेता देवगढ़ के रावत जसवंतसिंह के नेतृत्व में उसे मेवाड़ का महाराणा घोषित कर, बसंतपाल देवपुरी को मुख्य प्रधान पद पर नियुक्त किया।[4] इस प्रकार मेवाड़ में एक ही समय में दो महाराणा हो गये- एक अरिसिंह, जिसकी राजधानी उदयपुर थी तो दूसरा रतनसिंह जिसकी राजधानी कुंभलगढ़ घोषित की गई। दोनों ही पक्षों ने मेवाड़ के सामंतों को अपनी-अपनी ओर मिलने के प्रयास में कई प्रलोभन भी दिये। सामंत भी अपनी स्वार्थसिद्धि हेतु व्यक्तिगत संबंध व मान्यताओं के आधार पर दोनों पक्षों में बंट गये। रतनसिंह के पक्ष में देवगढ़ के अतिरिक्त सादड़ी, गोगूंदा, देलवाड़ा, बेगूं, कोठारिया, कानोड़, भिंडर व आमेट थे।[5] शाहपुरा के राजा उम्मेदसिंह एवं बनेड़ा के राजा रायसिंह को अपनी ओर मिलाने के लिये रतनसिंह के पक्ष ने

---

१ वीर विनोद, भाग २, पृ० १५४३-४४।

२ राजस्थान आर्काइव्ज बीकानेर, अर्जदाश्त बंडल सं० १४ पत्र सं० १८४।

३ (क) शाहपुरा राज्य की ख्यात सीतामऊ प्रति, भा० २, पृ० २३०।
(ख) एस० पी० डी०, जिल्द २६ पत्र सं० ७३।

४ (क) सीतामऊ प्रति शाहपुरा राज्य की ख्यात भा० २ पृ० २३०-२३१.
(ख) भीमविलास (साहित्य संस्थान, उदयपुर प्रति) पृ० २०

५ (अ) एस० पी० डी० जिल्द ३८ पत्र नं० १८५
(ब) सीतामऊ प्रतिः शाहपुरा राज्य की ख्यात भा० २ पृ० २२१.

काफी प्रयास किया[1] किन्तु असफल रहा और अंततः दोनों ने ही महाराणा अड़सी का पक्ष ग्रहण करना स्वीकार किया।[2]

दोनों ही पक्षों ने अपने समर्थक ढूंढने का क्षेत्र मेवाड़ तक ही सीमित नहीं रखा अपितु वे राजस्थान के सामंतों व शासकों को भी अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न करने लगे। अड़सी को कोटा के झाला जालिमसिंह का सहयोग मिला[3] तो रतनसिंह जोधपुर की सहायता प्राप्त करने में सफल हुआ।[4] इसी समय माधोसिंह के सहयोग का आश्वासन अड़सी

---

१ क) उपरोक्त : शाहपुरा राज्य की ख्यात भा० २ पत्र–कुंभलगढ़ से बसंतपाल देवपुरा का शाहपुरा राजा उम्मेदसिंह को (१७६३ ई०) पृ० २२०–२१.
(ख) पत्र–कुंभलगढ़ से आमेट रावत फतेहसिंह व राघोदास का शाहपुरा राजा उम्मेदसिंह को (१७६३ ई०) पृ० २२१.
(ग) पत्र–कुंभलगढ़ से रावत फतेसिंह, रावत जसवंतसिंह व कुंवर राघोदास का शाहपुरा राजा उम्मेदसिंह को (१७६३ ई०) पृ० २२४.
(घ) के० एस० गुप्ता व माथुर 'सिलेक्शन्स फ्राम दी बनेड़ा आर्काइव्ज' भा० १ पृ० ५४ पत्र–कुंभलगढ से शाह बसंतपाल देवपुरा का राजा रायसिंह को ता० जुलाई ८, १७६८ ई० (अगस्त ८, १७६८ ई०)

२ सीतामऊ प्रतिः शाहपुरा राज्य की ख्यात भा० २
(अ) पत्र–शाहपुरा राजा उम्मेदसिंह का बसंतपाल देवपुरा, फतेहसिंह, राघोदास को वि० सं० १८२० पृ० २२१.
(ब) पत्र–शाहपुरा राजा उम्मेदसिंह का रावत फतेहसिंह, रावत जसवंतसिंह, कुंवर राघोदास को यह दोहा भी लिखा कि— पृ० २२४–२२५.
मैं भामी चूंडावतां जै चित्तोड़ किंवाड़,
पाग अन्नमी साहा से खग बांधी मेवाड़। (पृ० २२५)
(स) खास रूक्का–महाराणा अड़सी का शाहपुरा राजा उम्मेदसिंह को पृ० २२२ और २२५
(द) के० एस० गुप्ता व माथुर 'सिलेक्शन्स फ्राम दी बनेड़ा आर्काइव्ज' भाग १ पृ० ७७ पत्र–रावत पहाड़सिंह का राजा रायसिंह को ता० आसोज बुदि १३ वि० सं० १८२५ (अक्टूबर ८, १७६८ ई०)

३ राजस्थान आर्काइव्ज बीकानेर; कोटा सेक्शन भंडार नं० १ बस्ता नं० ५९ दो वर्की परचाजात.

४ (क) राजस्थान आर्काइव्ज बीकानेर: जोधपुर दस्तरी रेकार्ड बस्ता नं० ३ फाईल नं० ३ पत्र नं० १, आषाढ़ बुदी १४ वि० सं० १८२४.

को मिल गया जिससे उसकी शक्ति में पर्याप्त वृद्धि हुई।[1] वह शीघ्रातिशीघ्र रतनसिंह के विद्रोह को समाप्त करने के लिए कटिबद्ध था। अतः उसने कुंभलगढ़ की ओर सेना भेजकर युद्ध का सूत्रपात किया। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह युद्ध अनिर्णायक रहा। दोनों ही पक्ष पूर्णरूपेण एक दूसरे को पराजित करने की स्थिति में नहीं थे। अस्तु; अब दोनों ही इस दिशा में सोचने लगे कि और कोई अधिक शक्तिशाली ताकत का सहयोग प्राप्त किया जाय। अतः दोनों का ध्यान मराठों की ओर गया। मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात् मराठा नवीन उदीयमान शक्ति के रूप में प्रकट हुये थे। इन्होंने उत्तरी भारत के कई प्रमुख राज्यों में हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया था, जिसमें राजस्थान भी अपना विशिष्ट स्थान रखता है। मराठे प्रायः धन प्राप्ति के लालच में किसी की भी सहायता करने को उद्यत हो जाते थे। परिणाम स्वरूप कई ऐसे अवसर भी आये कि लोभ एवं लालच में पड़े मराठों ने आपस में भी युद्ध किये जिसका ज्वलन्त उदाहरण हमें इस मेवाड़ के गृह—कलह में देखने को मिलता है। महाराणा अरिसिंह ने मराठों की सहायता प्राप्त कर अपना पक्ष सबल बनाने हेतु सहा नंदलाल को मराठा अधिकारी मारूजी की सेना लाने के लिये भेजा।[3] तो दूसरी ओर रतनसिंह के पक्ष ने मेवाड़ में नियुक्त मराठा अधिकारी यशवंतराव बाबले व शिव गंगाधर को तीन लाख रुपये देकर अपनी ओर कर लिया।[4] बाबले ने पेशवा को भी रतनसिंह का

(ख) उपरोक्त : जोधपुर ड्राफ्ट खरीता बस्ता नं० ३ फाईल नं० ३ पत्र नं० ७ ता० द्वितीय श्रावण बुदि १२ वि० सं० १८२५.

(ग) उपरोक्त : जोधपुर अर्जी बही नं० ४ फोलियो नं० १३ मगसर बुदि १२ वि० सं० १८२५

(घ) उपरोक्त : जोधपुर अर्जी बही नं० ४ फोलियो नं० १२० पोष बुदि वि० सं० १८२५.

(ङ) राठोड़ा री ख्यात भा० २ पृ० १७५ (राज. प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान उदयपुर प्रति)

१ डॉ० के० एस० गुप्ता 'मेवाड़ एण्ड दी मराठा रिलेशन्स' पृ० ८८

२ कानोड़ पत्र—राय रामचंद्र, रावत पहाड़सिंह, राघवदेव और मोहकमसिंह का रावत जगतसिंह को ता० श्रावण बुदि ८ वि० सं० १८२५ (जुलाई ७, १७६८ ई०)

३ के० एस० गुप्ता व माथुर 'सिलेक्शन्स फ्राम दी बनेड़ा आर्काइव्ज़' भा० १ पृ० ५१ पत्र—राघोदेव का राजा रायसिंह को आषाढ़ सुदि १२ वि० सं० १८२४ (रविवार, जून २६, १७६८ ई०)

४ (क) के. एस. गुप्ता व माथुर 'सिलेक्शन्स फ्रॉम दी बनेड़ा आर्काइव्ज' भा० १ पृ० ५६ पत्र-बेगूं रावत सवाई मेघसिंह का बनेड़ा राजा रायसिंह को श्रावण सुदि ६ वि. सं. १८२५ (बुधवार, जुलाई २०, १७६८ ई०)

समर्थन करने को उचित बताया। उसने लिखा कि रतनसिंह से ३६ लाख रुपये इस सहायता के बदले में मिल सकेंगे किन्तु पेशवा ने इसे अस्वीकार करते हुये[1] पं० राघोराम पागे[2] एवं बहीरजी ताकपीर को महाराणा की सहायता करने को कहा। दोनों ही मराठा सरदार अरिसिंह से २० लाख रुपये मिलने पर रतनसिंह को कुंभलगढ़ से निकाल देने को वचन बद्ध हुये।[3]

इसके विपरीत रतनसिंह की स्थिति कमजोर हो गई फलतः अब महादजी सिंधिया का समर्थन सबसे अधिक आवश्यक प्रतीत हुआ। बहुत संभव है कि उनके इस विचार से पेशवा के मन को बदला जा सकता था, अधीनस्थ का जो सहयोग अड़सी को मिल रहा था उसे समाप्त किया जा सकता था। अतः उसके सहयोगियों में रतनसिंह को महादजी के पास ले जाना उचित समझा[4] महादजी इस समय उज्जैन में था। जब वे उज्जैन से क़रीब २ मील दूर रह गये तो सिंधिया रतनसिंह की अगवानी करने को आया।[5] महादजी सिंधिया से वार्तालाप करने के दौरान महाकालेश्वर की मूर्ति की साक्षी में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार रतनसिंह को गद्दी पर बिठाने के लिए ५० लाख रुपया देना

(ख) एस. पी. डी. जिल्द ३८ पत्र नं. १८५
(ग) वाड-'पेशवाज़ डायरीज़' जिल्द ७ पृ० ४२८-२९
(च) परम्परा अंङ्क २३ वर्ष १९६७ ई० पृ० १०५।

१ (अ) भारत इतिहास संशोधक मंडल क्वाटरली जुलाई-अक्टूबर १९५२ ई० पृ० ८९
(ब) एस. पी. डी. जिल्द ३८ पत्र नं० १८५

२ (क) राजस्थान आर्काइव्ज बीकानेर: जोधपुर अर्जी वही नं० ४ फोलियो नं० २४० ता० पोष बुदि ६ वि. सं. १८२५।
(ख) एस. पी. डी. जिल्द २७ पत्र नं० २००

३ वीर विनोद भा. २ पृ० १५५३-५४

४ [क] राजस्थान आर्काइव्ज बीकानेर : ग्वालियर बंडल, खरीता सेक्शन ता० कातिक सुदि १४ वि० सं० १८२५।
[ख] राजस्थान आर्काइव्ज बीकानेर : ग्वालियर बंडल, खरीता सेक्शन ता० मगसर सुदि १४ वि० सं० १८२५।

५ के० एस० गुप्ता व माथुर 'सिलेक्शन्स फ्रॉम दी बनेड़ा आर्काइव्ज' भा० १ (इसके बाद 'बनेड़ा आर्काइव्ज भा० १') पृ० ७९-८१ पत्र-देवीसिंह का राजा रायसिंह को ता० मगसर बुदि २ वि० सं० १८२५ (नवम्बर २५, १७६८ ई०)

स्वीकार किया गया।[१] इस रकम का एक तिहाई भाग मंदसौर के डेरे पर तथा शेष भाग उदयपुर के सिंहासन पर बैठने के पश्चात् देने का निश्चय किया गया।[२] इस भांति महादजी ने अपने सेना नायकों राघोबा व वहीरजी ताकपीर द्वारा अड़सी के साथ किये गये संधि प्रस्ताव को तोड़ दिया और रतनसिंह का पक्ष ग्रहण कर उसको उदयपुर की गद्दी पर बैठाने का निश्चय किया। इसके पश्चात् २२ नवम्बर, १७६८ ई० को रतनसिंह अपने सरदारों के साथ उज्जैन से रवाना हो गया।[३]

१४ दिसम्बर, १७६८ ई० को महादजी सिंधिया ने उज्जैन से रवाना हो कालियादेह में पड़ाव किया[४] तथा युद्ध की तैयारियां करने लगा। उसने जयपुर महाराजा पृथ्वीसिंह[५] व मांडू के किले में स्थित पंवार दीवान से भी सैनिक सहायता चाही।[६] ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय सिंधिया तत्काल युद्ध कर, निश्चयात्मक निर्णय तक पहुंचने को आतुर था। किन्तु सैनिक कमी के कारण वह अपनी इच्छा पूर्ति नहीं कर सका। तभी उदयपुर में महाराणा अड़सी के पक्ष को महादजी के निश्चयों की सूचना मिली तो शीघ्र ही महाराणा ने शाहपुरा के राजा उम्मेदसिंह, देलवाड़ा को राजा राघवदेव तथा सम्लूबर के रावत पहाड़सिंह को महादजी को समझाने भेजा। परन्तु विद्रोही सामन्तों के वहां विद्यमान होने से वे अपने प्रयासों में सफल नहीं हुये और तीनों ही उदयपुर लौट आये।[७] अड़सी

---

१ [क] एस० पी० डी० जिल्द ३८ पत्र नं० १८५।
  [ख] के० एस० गुप्ता व माथुर 'बनेड़ा आर्काइव्ज' भाग १ पृ० ७६–८१। पत्र–देवीसिंह का राजा रायसिंह को मगसर बुदि २ वि० सं० १८२५ (नवम्बर २५, १७६८ ई०) इसमें ३० लाख रुपया देना बताया गया है।

२ के० एस० गुप्ता व माथुर 'बनेड़ा आर्काइव्ज' भा० १ पृ० ७९–८१ पत्र–देवीसिंह का राजा रायसिंह को मगसर बुदि २ वि० सं० १८२५।

३ [क] राजस्थान आर्काईव्ज बीकानेर : खरीता सेक्शन–खरीता महादजी सिंधिया का सवाई प्रतापसिंह को कार्तिक सुदि १४ वि० सं० १८२५ (नवम्बर, २३, १७६८ ई०)
  [ख] के० एस० गुप्ता व माथुर 'बनेड़ा आर्काइव्ज' भा० १ पृ० ७६–८१ पत्र–देवीसिंह का राजा रायसिंह को मगसर बुदि २, वि० सं० १८२५ (नवम्बर २५, १७६८ ई०)।

४ [क] शिंदेशाही इतिहासाचे साधनें जिल्द ३ पत्र सं० ४५१।
  [ख] एस० पी० डी० जिल्द ३८, पत्र नं० १८५।

५ डॉ० के० एस० गुप्ता 'मेवाड़ एण्ड दी मराठा रिलेशन्स' पृ० ८१।

६ के० एस० गुप्ता व माथुर 'बनेडा आर्काइव्ज' भा० १ पृ० ७९–८१ पत्र देवीसिंह का राजा रायसिंह को मगसर बुदि २, वि० सं० १८२५ (नवम्बर २५, १७६८ ई०)

७ वीरविनोद भा० २ पृ० १५५५।

ने असफलता के लिए राघवदेव को अधिक उत्तरदायी समझ, उसकी हत्या करवादी।[1] ऐसी विकट परिस्थितियों में अड़सी का उक्त कार्य अनुचित एवं अदूरदर्शितापूर्ण था। परन्तु समर्थकों में कोई अन्तर नहीं आया। उसने सिंधिया से पुनः वार्तालाप की सोची और इस समय उसने यह भी अनुभव किया कि सेना साथ हो तो वार्तालाप का परिणाम विशेष हितकर निकल सकता है। अतः अनेक महत्त्वपूर्ण सामन्तों को उज्जैन भेजा।[2] आश्चर्य तो यह है कि सिंधिया द्वारा रतनसिंह का पक्ष ग्रहण करने पर भी राघोराम पागे व दौलामियां ने अड़सी का साथ नहीं छोड़ा और ये दोनों ही आठ हजार सैनिकों के साथ इस अभियान में सम्मिलित होगये।[3] महाराणा अड़सी के सैनिकों की संख्या १२००० के लगभग रही होगी[4] तो उधर महादजी सिंधिया के नेतृत्व में रतनसिंह के ३५०० सैनिक थे।[5]

अड़सी ने अपने सैनिकों से कहा कि आवश्यक हो तो लड़ाई करें अन्यथा सिंधिया से संधि करलें। किन्तु इसके विपरीत सिंधिया ने रतनसिंह को मेवाड़ का आधा हिस्सा दे देने पर युद्ध न करने का निश्चय कर, राजा उम्मेदसिंह व रावत पहाड़सिंह के पास एक संदेश भेजा। परन्तु शाहपुरा राजा ने जीते जी इसे स्वीकार न कर युद्ध का आह्वान किया। फलतः गुरूवार, १३ जनवरी १७६९ ई. को लड़ाई शुरू हुई जो तीन दिन तक चलती रही।[6] मेवाड़ की फौज का जमाव तीन भाग करके इस-प्रकार से किया गया कि एक तरफ रावत पहाड़सिंह के तत्त्वावधान में कुछ सैनिक थे तो दूसरी ओर खालसे की फौज और मध्यभाग

---

१ सीतामऊ प्रति: शाहपुरा राज्य की ख्यात भा. २, पृ. २३०

२ भीम विलास (साहित्य संस्थान, उदयपुर प्रति) पृ. २१

३ (क) सीतामऊ प्रति, शाहपुरा राज्य की ख्यात भा. २ पृ० २२९ पत्र-राजा उम्मेदसिंह का कुंवर रणमल को-राघोराम पागे के साथ ५००० सैनिक थे।
(ख) भीमविलास पृ. २९ राघोराम पागे के साथ ५००० तथा दौलामियां के साथ ३००० सैनिक थे।
(ग) वीर विनोद भाग-२, पृ. १५५५, दौलामियां के साथ ३००० सैनिक थे।

४ (क) सीतामऊ प्रति, शाहपुरा राज्य की ख्यात भा. २ पृ. २२६
(ख) उपरोक्त भा. २ पृ. २३२ शाहपुरा राजा उम्मेदसिंह ४७०० अच्छे सवारों के साथ महाराणा की सहायतार्थ गया था।
(ग) भीमविलास पृ० २४ महाराणा की सेना में बीस हजार सैनिक थे—
दोहा—बीस सहस दल रांन के ॥ अगनित माधव सेंन।
महा कठिन क्षत्रिय धरम ॥ विमुख पाय नहिं देन॥

५ सीतामऊ प्रति, शाहपुरा राज्य की ख्यात भा० २ पृ. २३१-३२

६ उपरोक्त भा० २ पृ. २३२

में राजा उम्मेदसिंह अपने ५००० सैनिकों के साथ था।[1] पौषसुदि ९ (रविवार, जनवरी १६, १७६९ ई०) का दिन घनघोर घमासान युद्ध के पश्चात् निर्णायक सिद्ध हुआ। प्रारम्भ में विजयश्री मेवाड़ की ओर थी किन्तु जयपुर से रावत जसवन्तसिंह द्वारा भेजी १५०० नागों की सेना के आ पहुंचने से तथा कालेखां पठान द्वारा जो कि केसरिया रूमाल भाले पर बांधकर सैनिकों को राजा उम्मेदसिंह के सेनापति के रूप में उपस्थिति या जीवितावस्था का बोध करा रहा था, अचानक ही धोखा देकर विपक्षियों के साथ मिल जाने के कारण अन्ततः विजयश्री ने मराठों को ही वरण किया।[2]

उदयपुर में जब महाराणा ने इस पराजय का समाचार सुना तो उसके पैर उखड़ गये चूंकि इस समय मेवाड़ न केवल सैनिक दृष्टि से ही दुर्बल हो गया था, अपितु सभी दृष्टि से ह्रास की चरम सीमा तक पहुंच गया था। इस समय उसके सहायक सरदारों में सलूंबर का रावत भीमसिंह, कुराबड़ का रावत अर्जुनसिंह और बदनोर का ठाकुर अक्षयराज ही रह थे; उन्होंने महाराणा को इन निराशा की घड़ियों में उत्साहित किया तथा ऐसी अनिश्चित परिस्थिति में अमरचंद बड़वा जैसे प्रतिभाशाली एवं सुयोग्य व्यक्ति को प्रधानमंत्री का पद समस्त अधिकारों सहित सौंपने की अभ्यर्थना कर, डूबते मेवाड़ को तिनके का सहारा प्रदान किया।[3] अमरचंद ने अपनी बुद्धि कौशल से, क्रुद्ध सैनिकों को वेतन चुकाकर समस्त आंतरिक विरोधात्मक स्थिति पर नियंत्रण कर. पुनः मार्च, १७६९ ई. में उदयपुर की ओर बढ रहे सिंधिया[4] का मुकाबला करने को तैयार कर दिया।

अंततः अप्रेल १७६९ ई० के दूसरे सप्ताह में महाराणा अड़सी को पदच्युत करने के अभिप्रायः से सिंधिया ने उदयपुर को आ घेरा[5] ६ महिने तक घेरा रहने के उपरांत भी सिंधिया अपने उद्देश्य की पूर्ति न कर सका।[6] महादजी ने बाघसिंह को रिश्वत देकर तोप की मार बंद करने का असफल प्रयास भी किया जिससे मराठों को अपार क्षति हुई। इस समय पेशवा द्वारा भेजा गया तुकोजी भी महाराणा की सहायता के लिए मेवाड़ आ गया।[7]

---

१ उपरोक्त भा० २ पृ. २३४
२ उपरोक्त भा० २ पृ० २३५-३७
३ वीर विनोद भा० पृ० १५५८-५९
४ (अ) शिंदेशाही इतिहासाचे साधनें जिल्द ३ पत्र सं० ४५८
  (ब) एस० पी० डी० जिल्द २९ पत्र नं० २३३, २३४, २३८, २३९.
५ (क) शिंदेशाही इतिहासाचे साधनें जिल्द ३ पत्र सं. ४५८
  (ख) एस. पी. डी. जिल्द २९ पत्र नं० २३३, २३४, २४१.
६ वीर विनोद भा. २ पृ० १५६२-६३
७ एस. पी. डी. जिल्द २९, पत्र नं २४३,

महादजी ने होल्कर के विचारों से सहमत होकर एक संधि भी की, जिसके अनुसार ३५ लाख रुपये लेकर दोनों ही महाराणा का साथ देने को सहमत हुए। इस धन राशि में से २५लाख रुपये पेशवा को भेजे जाने और शेष १० लाख रुपयों में से दोनों द्वारा आधा-आधा हिस्सा लेने का निर्णय किया गया।[१] परंतु यकायक ही सिंधिया के मस्तिष्क में एक परिवर्तन की लहर आई और उसने पुनः रतनसिंह का पक्ष ग्रहण कर लिया। परिणाम स्वरूप तुकोजी होल्कर २ जून, १७६९ ई० को वहां से पुनः लौट गया।[२]

उदयपुर का घेरा पूर्ववत् बना ही रहा। महादजी शीघ्र ही युद्ध को समाप्त करने का इच्छुक था। वह केवल धन के लोभ में रतनसिंह का साथ दे रहा था। जैसे-जैसे दिन व्यतीत होते जा रहे उसका खर्चा बढ़ता जा रहा था। अब उसे रतनसिंह का साथ देना आर्थिक दृष्टि से हानिकारक लगने लगा। ऐसे समय में अड़सी ने धन देकर शांति स्थापना का प्रस्ताव रखा। स्थिति और अधिक विषम हो सकती थी इसे अनुभव कर महादजी ने महाराणा के भेजे हुये सरदारों के साथ एक अहदनामा तैयार किया जिसके अनुसार वह ७० लाख रुपये लेने को खुश हो गया। किंतु वह इस पर दृढ़ न रह कर २० लाख रुपयों की और मांग कर बैठा। इससे क्रोधित हो अमरचंद ने उक्त संधि पत्र को फाड़ डाला। लड़ने को उद्यत सिंधी सिपाहियों के अधिकारी मिर्जा आदिलबेग ने कहा कि हम तनखवाह न लेंगे और मरते दम तक लड़ेंगे।[3] अन्ततोगत्वा वहां की कठिनाईयों ने महादजी सिंधिया को महाराणा से ६० लाख रुपये के अतिरिक्त ३॥ लाख रु. दफ्तर खर्च के लेकर 'संधि शर्त' स्वीकार करने को बाध्य कर दिया।[४] इसके अतिरिक्त संधि प्रपत्र में निम्नांकित शर्तें थीं—

१. रतनसिंह मन्दसौर में रहे और उसे ७५,००० रुपयों की जागीर दी जावे। यदि उसके पीछे उसका उत्तराधिकारी मंदसौर छोड़कर अन्यत्र चला जायेगा तो उसका पक्ष न करके जागीर खालसे करली जावे। मंदसौर में सिवाय रावत भीमसिंह या उसके भाई-बेटे के कोई भी अन्य सरदार उसके साथ नहीं रहेगा।

२. मेवाड़ में जहां कहीं भी सिंधिया के थाने होंगे वे उठा दिये जायेंगे।

३. मेवाड़ में बावल्या (एक मरहठा सरदार) की सेना न रहने पावे।

४. बेगूं से जो रुपये वसूल किये जायेंगे वे इन रुपयों के अन्तर्गत गिने जायेंगे।

---

१ उपरोक्त जिल्द २९ पत्र नं० २३९

२ उपरोक्त " " पत्र नं० २४३

३ वीरविनोद भा. २ पृ. १५६३

४ एस. पी. डी. जिल्द २९ पत्र नं. २४५

५. सिंधिया को प्रदत्त परगनों के सामंतों के साथ पूर्ववत् बर्ताव ही किया जायगा तथा उनके साथ कोई छल कपट नहीं किया जायगा।

६. रतनसिंह के साथ की दो हज़ार फौज का वेतन तीन मास तक महाराणा देगा। यदि इसके बाद भी वह फौज रक्खे तो वेतन वह स्वयं देगा।

७ महाराणा का वकील सिंधिया के यहां रहेगा तथा उसकी मान मर्यादा का पूरा-पूरा ध्यान रक्खा जायगा।

८. रतनसिंह के पक्ष के सरदारों ने नये सिरे से जिन गांवों आदि पर अधिकार किया है, उन पर पुनः महाराणा का अधिकार समझा जायगा।

९. मेवाड़ में सिंधिया, बावल्या, सदाशिव गंगाधर और वहीरजी ताकपीर ने जहां-जहां जब्ती की वहां से श्रावण वदि ३ के बाद जो भी रकम वसूल की गई होगी उसे सिंधिया के बाकी रुपयों में जमा करली जायगी।

१०. जितने रुपये सिन्धिया को दिये वे तीनों सरदारों—हुलकर, सिंधिया व पवार में विभक्त कर लिये जायेंगे तथा उसकी रसीद श्रीमन्त (पेशवा) की मुहर के साथ मिलेगी।

११. मेवाड़ में रहकर अव्यवस्था फैलाने वाले जोगी वगैरह को सिंधिया निकाल देगा।[1]

महाराणा ने जो रकम देना स्वीकार किया उसका विभाजन इस प्रकार से निश्चित किया गया कि २५ लाख रु. पेशवा को तथा १२५०००० रु. होलकर व इतने ही रुपये महादजी लेगा। किन्तु साथ ही १० लाख रुपये सिंधिया को 'नजर' व युद्ध खर्च तथा ३॥ लाख रु. 'दरबार' खर्च के रूप में अतिरिक्त दिये जायेंगे।

महाराणा ने रकम इस भांति चुकाना तय किया—

१ १५ लाख रुपये जवाहिरात

२ १० लाख रुपये नकदी में इस प्रकार—

३,५०,००० रु. का सोना व नकद
५०,००० रु. का कपड़ा
१,००००० रु. की हुंडी
५,००००० रु. पं. रघुनाथ सदाशिव राव को

१०,००००० रु.

३ शेष ३५ लाख रुपयों की चार किश्तें की गई जिसकी पहली १० लाख रु. की किश्त तीन माह में चुकाया जाना तय हुआ अर्थात् कार्तिक बुदि ३ वि. सं. १८२६ (अक्टूबर १८. १७६९ ई.) तक।

---

१ (क) वीर विनोद भा. २ पृ. १५६४–६५
(ख) ओझा! उदयपुर जिल्द २ पृ. ६५५–५६।

४. दूसरी व तीसरी प्रत्येक ७ लाख ५० हजार रु० की किश्त क्रमशः पोष सुदि १५, वि० सं० १८२६ (जनवरी ११, १७७० ई०) तथा चैत्र सुदि १५, वि. सं. १८२६ (अप्रेल १०, १७७० ई,) को.

५. अंतिम किश्त १ लाख रु० की आषाढ़ सुदि १५ वि. सं. १८२६ (जुलाई ७, १७७० ई.) को चुकाया जाना निश्चित किया ।[1]

मेवाड़ की आर्थिक दशा अत्यधिक हीन हो जाने से महाराणा उक्त शर्तों की पालना में असमर्थ रहा । फलतः आंशिक रूप में भुगतान इस प्रकार से किया गया—

१. ७,४६,१५१/१३/– रु० श्रावण वुदि ११, वि. सं. १८२६ (जुलाई २६, १७६९ ई०

२. ७,००,०००/– रु० रघुनाथ सदाशिव राव को श्रावण वुदि ११, (जुलाई २६, १७७९ ई०) को दो भागों में विभक्त करके.

३. ३,५०,०००/–रु० नकद, जवाहरात तथा सोने चांदी के आभूषण

४. २,४६,४८८/३/– रु० कपड़े

५. १,००,०००/– रु० बेगूं मामले के.

६. १,००,०००/– रु० उदयपुर में महाराणा द्वारा रखी गई सिंधिया की फौज खर्च.

७. ५,५०,०००/– रु० मराठों द्वारा खालसा भूमि व जागीरदारों से वसूल की गई रकम जैसे (क) १७,५००/–रु० होल्कर के प्रतिनिधि सदाशिव को रावत अर्जुनसिंह द्वारा दिये गये तथा (ख) १ लाख रु० नकद स्वयं महाराणा द्वारा दिया गया.

८. ७,५००/– खालसा भूमि से.

९. २,५०,०००/– रु० स्वयं महादजी द्वारा खालसा भूमि व जागीर के गांवों से फाल्गुन से आसोज सुदि १५ (फरवरी, १७६९ ई० से सितंबर १७७० ई०) तक वसूलाये गये–

१०. १,००,०००/– रु० सिंधिया के निमित्त जसवंत राव बाबले को पांच माह में दिये गये.

११. २५,०००/– रु० बहीरजी ताकपीर को[2]

---

१ 'संग्रामसिंह महता कलेक्शन' : समझौता ता० श्रावण वुदि १, वि. सं. १८२६ (जुलाई १६, १७६९ ई०) ।

२ (क) संग्रामसिंह महता कलेक्शन' : होल्कर सिंधिया, पेशवा का श्रावण वुदि १८२६ वि. सं. से १८३७ वि. सं. तक का हिसाब, (१७६९ से १७८० ई० तक) ।
(ख) डॉ० के० एस० गुप्ता 'मेवाड़ एण्ड दी मराठा रिलेशन्स' पृ. १०१–१०२ ।

उपरोक्त लिखे अनुसार मराठों को रुपया देने पर भी शेष रकम के बदले मेवाड़ के जावद, नीमच, जीरण व मोरवण के परगने इस शर्त पर गिरवे रक्खे गये कि इनकी आमदनी महाराणा के अधिकारियों के नेतृत्व में प्रति वर्ष वर्ष जमा होती रहेगी तथा सारा रुपया जमा हो जाने पर उक्त परगने पुनः मेवाड़ में सम्मिलित कर दिये जावेंगे।[१] इस प्रकार से संधि की सभी शर्तें हो जाने के पश्चात् महादजी सिंधिया ने मेवाड़ के सभी सामन्तों–सरदारों को महाराणा के प्रति वफादार रहने के लिए आदेश जारी करते हुये बनेड़ा राजा हमीरसिंह को लिखा कि जो भी सामंत महाराणा के विरुद्ध विद्रोह करेगा दंड का भागी होगा तथा उसे उसकी (महाराणा) सेवा में समुपस्थित रहना होगा। यदि मराठा सेनायें उधर से निकलें तो किसी प्रकार का सन्देह न करें; ये तो मेवाड़ राज्य की रक्षार्थ रहेंगी।[२] इस प्रकार के आदेश जारी करने के पश्चात् जुलाई २१, १७६९ ई० को वह मेवाड़ छोड़कर उज्जैन चला गया।[३]

परिणाम

'गृह-युद्ध' के परिणाम-स्वरूप मेवाड़ राज्य सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से पतन की चरम सीमा पर पहुंच गया था। यहां के निवासियों का दैनिक जीवन पूर्णतः अस्त-व्यस्त सा हो गया था क्योंकि किसी भी समय युद्ध होने की संभावना तथा लगातार घेरा डाले रहने से आतंकित जन-जीवन सुदूरस्थ जंगलों एवं पहाड़ी प्रदेशों में जाकर अपना जीवन निर्वाह करने लगा। सुनियोजित एवं शान्तिपूर्ण समाज में व्यक्ति अपने जीवन की खुशियां, त्योहार आदि मनाने एवं धार्मिक जीवन बिताने की सुखद परिकल्पना कर सकता है। मेवाड़ आंतरिक कलह में इतना उलझा रहा कि यह सब कुछ सम्भव नहीं था।

राजनैतिक व्यवस्था की दृष्टि से मेवाड़ कई वर्षों तक एक 'दंगल स्थल' के सदृश्य हो गया और इतना दुर्बल हो गया कि भविष्य में वह पुनः कभी भी अपनी पुरातन गौरवता को प्राप्त न कर सका। इसका सबसे अधिक प्रभाव हमें आर्थिक क्षेत्र में दृष्टिगोचर

---

१ वीरविनोद भाग २ पृ. १५६१।

२ डा. के. एस. गुप्ता 'सिलेक्शन्स फ्राम दी बनेड़ा आर्काइव्ज' भा. २ पत्र नं. ३ महादजी सिंधिया का राजा हमीरसिंह को ता. मगसर सुदि १४ वि. सं. १८२६ (दिसंबर १०, १७६९ ई.)

३ राजस्थान आर्काइव्ज बीकानेर: जोधपुर दस्तरी रिकार्ड्स बस्ता नं. ३ फाईल नं. ३ पत्र नं. १. महाराणा अड़सी का महाराजा बिजैसिंह को भादवा बुदि ५ वि. सं. १८२६ (अगस्त २२, १७६९ ई.)

होता है। कृषि की भूमि मीलों तक ओझल हो गई थी क्योंकि मराठे आक्रमक फसल प्राय: नष्ट करके जला देते थे। अत: किसानों ने कृषि करना ही छोड़ दिया। इससे पूर्व मेवाड़ वालों ने बाह्य आक्रमणकारियों की रसद काटने के ढंग से खड़ी फसल को नष्ट कर ध्वंसित कर दिया जिससे कि उन्हें एक दाना भी हाथ न लगे। फलत: मेवाड़ राज्य में रसद आदि की पर्याप्त कमी हो गई और कई अवसरों पर मेवाड़ के सैनिकों को भूखे रहकर लड़ना पड़ा था। सैनिकों को वेतन समय पर न मिलने से कई बार वे विद्रोह कर बैठे तो महाराणा ने अपने प्रधान अमरचन्द से अपनी महारानियों के जेवर तक ले लेने को कहा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मेवाड़ का राजकीय कोष रिक्त सा हो गया था। योग्य सैनिकों के अभाव के कारण सिंध व गुजरात से सिंधी व मुसलमान सिपाहियों को अपनी मदद के लिये बुलाना पड़ा जिससे आगे चलकर मेवाड़ में अनेकों समस्याएँ उत्पन्न हुई।

यद्यपि शिप्रा के युद्ध की क्षति दोनों ही पक्षों को पर्याप्त मात्रा में उठानी पड़ी, किन्तु मेवाड़ की विशेष उल्लेखनीय रही—राजा उम्मेदसिंह,[1] रावत पहाड़सिंह व राजा रायसिंह वीरगति को प्राप्त हुये :[2] रावोराम पागे व दौलामियां भी लड़ते हुये धराशायी रहे[3] अगरचन्द महता, झाला जालमसिंह व रावत मानसिंह को मराठों ने गिरफ्तार कर लिया। इस भांति मेवाड़ सुयोग्य सेना नायकों से वंचित हो गया। मेवाड़ की वीरता एवं शौर्य प्रदर्शन के इस अन्तिम युद्ध में कुल ३८,००० राजपूत सिपाही युद्ध में काम आये तथा ९०० घायल हुये[४]।

महाराणा अड़सी की सैनिक व्यवस्था भी पूर्ण रूपेण दोष पूर्ण थी। कविराज श्यामलदास ने मेवाड़ की हानि का अनुमान लगाते हुये अपने वृहत्त ग्रन्थ 'वीरविनोद' में टिप्पणी करते हुये लिखा है कि महाराणा ने अपनी फौज को उज्जैन भेजकर अपनी शक्ति को घटा दिया, उसे उदयपुर में ही अपनी सेना को चार-पांच हिस्सों में बांट कर छापा मार युद्ध नीति से काम लेना चाहिये था जिससे कि उसे सफलता प्राप्त होती।[५] किन्तु अड़सी ने केवल अपना प्रभुत्व स्थापित करने हेतु एक विशाल सुसज्जित सेना भेजी।

---

१ सीतामऊ प्रति: शाहपुरा राज्य की ख्यात भा० २ पृ० ३२८।

२ नारायण श्यामराव चिताम्बरे : 'बनेड़ा राज्य का इतिहास' पृ० ८२।

३ वाड 'पेशवाज डायरीज' जिल्द ३ पत्र नं० ५८६।

४ सीतामऊ प्रति: शाहपुरा राज्य की ख्यात भा० २ पृ० २४०।

५ वीरविनोद भा० २ पृ० १५५६।

उसकी योजना का मुख्य उद्देश्य तो किसी भी प्रकार से सिंधिया से संधि स्थापित करना ही था। यदि बाद में नागा सैनिक सम्मिलित न होते तो मेवाड़ की विजय तो सुनिश्चित सी ही थी[1] चाहे कुछ भी हो यह तो स्वीकार करना ही होगा कि मेवाड़ की गद्दी के दोनों ही दावेदारों ने मराठों को अपनी मदद के लिये बुलाकर मेवाड़ राज्य को धन, जन एवं कई प्रमुख प्रदेशों से रहित कर दिया। मराठों ने दोनों ही पक्षों से खूब रुपया वसूल कर अपनी जेबें गरम करलीं और मेवाड़ की दशा इतनी दयनीय बना दी कि संधि हो जाने के पश्चात् चुकारे की रकम को किश्तों में विभक्त करने पर भी समय पर अदा न कर सकने के कारण शेष रकम के बदले मेवाड़ के कई प्रमुख परगने मराठों को देने पड़े, जिससे मेवाड़ की विशाल सीमा प्राय: खंडश: हो गई। ये निकले हुये परगने पुन: भविष्य में कभी मेवाड़ की सीमा के अन्तर्गत सम्मिलित न हो सके।

—रिसर्चस्कॉलर, इतिहास विभाग
उदयपुर विश्वविद्यालय
उदयपुर (राज०)

---

१ 'डॉ० के० एस० गुप्ता' 'मेवाड़ एण्ड दी मराठा रिलैशन्स' पृ० ९५।

भाटी केहरसिंघ लवेरा बावड़ी रौ सिलौको

[एक ऐतिहासिक सिलोका]

● सौभाग्यसिंह शेखावत

राजस्थानी साहित्य में सलोका नामधेय सैंकड़ों रचनाएं मिलती हैं। ये रचनाएं पौराणिक देवताओं और ऐतिहासिक पुरुषों से सम्बद्ध युद्ध-घटनाओं पर रचित हैं। पौराणिक पात्रों विषयक सलोकों में सूरजजी रो सिलोको, धरमराजजी रो सिलोको, हड़ूमानजी रो सिलोको, तथा ऐतिहासिक व्यक्तियों में राव अमरसिंघ नागौर रो सिलोको, ठाकर सेरसिंघ मेड़तिया रो सिलोको, महाराजा मानसिंघ जोधपुर रो सिलोको आदि कतिपय सलोके संग्रहीत उपलब्ध होते हैं। वैसे ऐतिहासिक वृत्तप्रसंगों पर आधारित सलोके लोक-काव्य श्रेणी की रचनाएं कही जा सकती है। ऐसी रचनाएं ग्राम समाज में विशेषरूपेण पढ़ी-सुनी जाती हैं। रचनाकार ऐसे सलोकों में घटना-वृतान्तों की ऐतिहासिकता की रक्षा करते हुए अपते प्रशंसनीय नायक का प्रामाणिक वर्णन करता है। वह रचना को कल्पना मिश्रित कर इतिहास के तथ्य को प्रभावहीन अथवा गौण नहीं बनने देता है। इस कोटि के सिलोके ख्यातों-बातों से बढ़कर पत्र-परवानों की भांति प्रामाणिकता के लिए उपयोगी तथा ठोस आधार माने जा सकते हैं। अनेक बार तो जहां ख्यातें–इतिहास तथ्य की उपेक्षा कर मौन मिलती हैं वहां सलोके ही एक मात्र घटना के साक्षी रूप में सत्य का उद्घाटन करते पाये जाते हैं।

मुगल सल्तनत के पतन के पश्चात् तथा मरहठों के प्रभुत्व के समय राजस्थान में ऐसी अनेक युद्ध घटनाएं घटीं जिनके श्रोत तत्स्थानीय दुर्गों के कपाटों पर लगे तोपों के गोलों, वहां युद्ध में काम आये वीरों की छत्रियों एवं देवलियों के लेख ही आधार स्रोत हैं। ऐसा ही एक सलोका कुंवर केशरीसिंह भाटी और उसके वीर साथी फतहसिंह, रूपसिंह, अजबसिंह भाटी आदि युद्ध वीरों के संबंध में मिला है। मारवाड़ के प्राप्त इतिहास ग्रन्थों में उपर्युक्त वीरों

के लड़ने तथा वीरगति प्राप्त करने का कोई उल्लेख न आसोपाजी, न ओझाजी और न रेउजी ने किया है। सलोका में घटना का स्थान, संवत्, विपक्षी सेना और युद्ध का कारण तथा परिणाम सुस्पष्ट वर्णित है। वर्णित घटना प्रसंग जोधपुर के महाराजा विजयसिंह के शासन काल संवत् १८०९ से १८५० विक्रमी के मध्य संवत् १८४४ वि. का है। सलोक-नायक केशरीसिंह मारवाड़ में भाटियों के ठिकाने लवेरा के सुरतानोंत शाखा के जयसिंह का पुत्र था। सुरतान मारवाड़ नरेश शूरसिंह के राजस्व मन्त्री गोविन्ददास भाटी का भाई था। सुरतान और गोविन्ददास मानसिंह के पुत्र थे। मानसिंह के पूर्वज क्रमशः मीबा, अणद, जैसा और रावल कलिकरण थे।

राठौड़ भगवानदास के पुत्र गोपालदास पर राठौड़ सुंदरदास, जोधा, राठौड़ शूरसिंह और खारीपट्टी के जोधों के पूर्वज नरसिंहदास कल्लावत जोधा ने आक्रमण किया। तब भाटी सुरतान ने गोपालदास की सहायता की। फलस्वरूप सुरतान और नरसिंहदास तो घटनास्थल पर ही मारे गए और गोपालदास घायल होकर बच रहा। तदनन्तर सुरतान के भाई गोविन्ददास ने खाखड़की गांव में गोपालदास को मारकर अपने भाई के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की।[1] सुरतान के बाद लवेरा का ठाकुर रघुनाथसिंह हुआ। संभवतः रघुनाथसिंह की संतति परम्परा में केशरीसिंह महाराजा विजयसिंह के समय मानधनी स्वामिभक्त व्यक्ति हुआ।

मारवाड़ के इतिहास में मरहठों के आक्रमण सं० १८४४ वि. के सम्बन्ध में उल्लेख है कि महाराजा सवाई पृथ्वीसिंह जयपुर के अधिकारच्युत पुत्र मानसिंह को जयपुर की गद्दी पर बैठाने तथा सवाई पृथ्वीसिंह के अनुज महाराजा सवाई प्रतापसिंह को अपदस्थ करने के लिए आक्रमण किया। जयपुर के तुंगा नामक स्थान पर कछवाहों और मरहठों के मध्य भयानक युद्ध हुआ। मरहठों के सेनानायक महादाजी पटेल (सिंधिया) को करारी हार खानी पड़ी। इस युद्ध में जोधपुर की सेना ने जयपुर का साथ दिया था। यह सेना भीमराज सिंघवी के नेतृत्व में भेजी गई थी। महादाजी की पराजित सेना तुंगा से हारकर सनवाड़ की ओर भागी। सलोका में वर्णित प्रसंग मरहठों की तुंगा के रणक्षेत्र में पराजय के तत्काल बाद की ही घटना है। मारवाड़ के इतिहास में बाद की घटना का कोई उल्लेख नहीं है और न महाराजा विजयसिंह के समय-समय पर युद्ध में मारे गए योद्धाओं के नाम सूची में ही केशरीसिंह भाटी, धनराज सिंघवी और अन्य योद्धाओं का नाम है। इसलिए मारवाड़ के इतिहास के लिए यह सलोका अतीव ही महत्व का है। सिलोका में उल्लेख है कि मरहठा सेनानायक अंबा ईंगलिया अपनी सेना सजाकर मारवाड़ पर चला। जोधपुर

---

१ (क) मारवाड़ का इतिहास रेउ भा. १ पृ. १९२ फुट नोट सं. २

(ख) महाराजा सूरसिंहजी रै राज री बात (परम्परा अंक ११) पृ. ९६

की सेना ने सरवाड़ स्थान पर उसको परास्त करने के लिए अपना डेरा डाला। दोनों ओर से तोपों का युद्ध प्रारम्भ हुआ। मरहठे नक्कारा बजाते हुए रणभूमि से भाग उठे। भाटी दौलतसिंह के पौत्र शार्दूलसिंह ने मरहठों की भागती सेना पर धावा मारा और उनका वह नक्कारा छीन लिया। तब अंबा मरहठा के प्रोत्साहन पर मरहठों की सेना ने वापस लौटकर आक्रमण किया। तीन सौ अश्वसैनिकों ने केशरीसिंह के पक्ष पर धावा मारा। वीर केशरीसिंह और उसके साथी फतहसिंह रूपसिंह पांचोड़ी, सांवतकुवा के स्वामी तथा पोकरण स्वामी ठाकुर अजबसिंह भाटी मीजल का ठाकुर जूझते हुए रणखेत रहे। यह लड़ाई सरवाड़ के समीपस्थ खैरिया नामक स्थान पर हुई थी।

इस प्रकार उपर्युक्त चारों भाटी वीरों की कीर्त्ति गाथा प्रस्तुत सिलोका के द्वारा ही जीवित है। यह सिलोका जैत भाट की रचना है। मारवाड़ के इतिहास पर नवीन प्रकाश डालने में उपयोगी समझ कर उसे यहां प्रस्तुत किया जा रहा है—

भाटी केहरसिंघ लवेरा बावड़ी री सिलोको

सुरसती सांमण तुझ पाये लागूं, जांणूं तो बुध घणेरी मांगूं।
कंवर केहर री कहसूं सिलोको, एकण मनांती सांभळज्यो लोको॥
गांव ळवेरे जादम वीराजै, खांप सुरताणोत सिंघ ज्यूं गाजै।
दिन दिन चढ़ती कळा वीराजै, बाजा सुजस रा अविचळ बाजै॥
धन धन भाटी जैसिंघ रौ जायो, कंवर केहर रौ नूर सवायो।
राजा विजैसिंघ दीनौं बहु मांनो, ळवेरो बावड़ी आदू जी थांनों॥
संमत अठारै चमाळै मांहे, मरहठा आया मारवाड़ मांहे।
आया गनीमां कीयौ छै सोरो, जोधांण नाथ सूं कीयौ छै जोरो॥
आया हळकारा बातां गुदराई, गनीमां री फौजां अजमेर आई।
लूटै मलक नै देस बीगाड़ै, बांधै मारग नै वाटांजी पाड़ै॥
सांभळ महाराजा अतराज हूवौ, मेले नकीबा सारा बुलावौ।
इतरै महाराजा दरबार करावै, हाकम परधानां दीवांण आवै॥
कहै महाराजा परवांना मेलो, आवंता दिखणी सांमा जी झेलो।
दरबारां वैठा साराजी सोहै, जोधा रिड़मल नै भाटी मन मोहै॥
छत्तीस वंस हिंदू विराजै, मूगल पठांण कैमखांनी गाजै।
कहै महाराजा मरहठा आया, करे फौजां ने ऊपर जावौ॥
सींघवी धनराज नै वीदा करावौ, खोलो कोठार खजाना दीरावौ।
चढ़ौ सिरदारां फतै कर आवौ, ठेळो मरहठा बधारो पावौ॥
उठ उठ उमरावां मुजरोजी कीनो, सिंघवी धनराज नै साथेजी लीनो।
चढीया छै सूरा टामंक घुराये, हैदल नै पैदल साथे जी आये॥

कूंचां दर कूंचां मेड़तै आया, मीसल करे नै आधा चलाया।
ताखड़ा खड़ नैं सरवाड़ आया, रोपे भंडो ने डेरा दीराया॥
सिघवीजी बोले . सुणों सिरदारां, मरहठां ऊपर वाहो तरवारां।
धणी री लूण उजवाळो आज, करो भारत नै सारो सब काज॥
यूं कहतां आंबो ऊपर आयो, वीढ़ण री पोरस चढियो सवायो।
अणियां सूं अणियां मीलै सवाई, छूटै अराबो लड़ै सीपाई॥
उठै दारू नै नाळांजी गाजै, तूटै बरछी नै समसेरां बाजै।
टांमंक जूभाऊ दोनूं दिस बाजै, हींसै हैवर नै गैवर गाजै॥
भिड़तां मरहठा तोपखांने आया, ळड़हड़ता पड़ता फौजां बिच आया।
घेरो लेई नै जावै, चमू आपरी फौज मैळावै॥
भळा भळा देखै उमराव सारा, कोई नह चढीआ नगारे ळारां।
इतरा में बोलै सादूलो सीहो, दौळाहर पोतो एकळ अबीहो॥
नंगारो लेइ मरहठा जावै, जीवतां जीव कुजस्स आवै।
सूणै बचन नै बोळीया सारा, बेढाळा बचन बाया दुधारा॥
आवैला थांरी बोलै सहु साथो, भोगवो लवेरी देखालो हाथ॥
यूं कहतां केहर मूंछा दे ताव, हैवर हाकालै माडेचो राव॥
धीरा मरहठां भागा मत जावो, धीरो अब पूग वेढ़ करावो।
कहतां सादूलो खाग बजावै, कायर मरहठा भागा जी जावै॥
एकल मल्ल भिड़ियो टामंक नै घेरै, नासै मरहठा सांमो नहीं हेरै।
लेइ नगारो जादम चो राव, भल भल कहै सारा उमराव॥
इण घर में इसड़ा आगैरै, तो विन नगारो पाछो कुंण घेरै।
मारे मरहठा माघरो नीसांणों, जैत भट बोलै कवियण बाणों॥
मरहठा भागा कै रहीया खेत, जैसावत केहर पाई रण जैत।
नाठा मरहठा मेली गया मांण. जिण वेलां आंबो आखै सुण बाण॥
फीरो अपूठा भागा मत जावो, धीरब धारो नै हीमत संभावो।
हुक्म हुवै तो फौजां वीरोलूं, राठोड़ा ऊपर समसेर तोलूं॥
इवरो सुण आंबै दीयो स्याबास, हुवो वे वैगा पूरो हूलास।
तीनसो असवारां बागां ऊपाड़ी. सूरा जी चढिया तूर बजाड़ी॥
गौड़ रै ऊपर चढ़े नै धाया, सूरां रा चित्त चढ़ीया सवाया।
केहर कंवर रै मन में उछरंग, सुण सुण जूंभाऊ फूल्यो छै अंग॥
इतरै तो लोला फौजां रीमिलया, खड़े खैंग नै माडेचा भिड़िया।
गाजै नाल नै तरवारां तूटै, गौड़ री फौज माडेचा लूंटै॥
पढ़ै मरहठा असवार खूटै, केई सूरां रा फीफरा फूटै।
तिण वेला केहर वावै तरवार, हैवर सूधा पाड़ै असवार॥

पीयै रूकरस सूरां नै पावै, सांमा मंडे ज्यां नै सारां धपावै ।
तीन सै असवारां भिड़ियौ छै गौड़ो, एकळ मल केहर जुटियौ छै
जोड़ो ॥
फतो नै रूपो भाटी मळ मांणो, कंवर रै साथे जुटिया छै श्रांणो ।
मीजल रो भाटी अजबो इण नांम, चांपावत सवाईसिंघजी रो
कहीजै परधांन ॥
पांचोड़ी सांवत कुवो उजवाळो, लोहां रा छकीया दळां विच माळो ।
बुरछी तरवारां छकिया सहुतन, ज्यूं ज्यूं भारथ में बधिया छै मन ॥
गौड़ रै हाथ री वूही तरवार, कमळ केहर रो तूटो तिण वार ।
टूटंतै कमळ समसेर वाई, आधो तो उडे गौड़ रो उडाई ॥
उतमंग पड़ियां पावंडा बार, अवर केहर तो वाई तरवारां ।
हैवर उपरां सूं नीठज पडिया, मरहठा पारवती ऊभा छै भड़िया ॥
केहर रै पारवती दोनुइ सूर, रूपो उपड़ीयो लोहां भरपूर ।
गौड़ नै मार चकचूर कीनो, जमी अंवर विच सुजस लीनो ॥
सरवाड़ पारवती खैरिया गांव, केहरसिंघ रो चंद जस नांव ।
फौजां वीजैसींघजी री माडेचा अडिया, धणी रै अरथ माडेचा
भिड़िया ॥
चारों ही सांवत लड़िया भरपूर, तीन पोहर तो लड़िया करूर ।

—राजस्थानी शोध संस्थान, चोपासनी (जोधपुर), राज०

बीकानेर संग्रहालय की शैव मृण्मूर्तियां

● रत्नचन्द्र अग्रवाल

रंग-महल, बड़ो पल व मुण्डा से प्राप्त पूर्व गुप्त युगीन मृण्मूर्तियां भारतीय मूर्तिविज्ञान की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। इनमें मथुरा की कुषाण कला एवं उत्तर पश्चिमी भारत की गान्धार कला का समन्वय पूर्णतया स्पष्ट है। यह कहना असंगत न होगा कि इनमें से कुछ तो ईसा की तृतीय शती की कृतियां भी मानी जा सकती हैं।

मुण्डा से प्राप्त शिव मूर्ति में[1] शिव के सिर पर जटा है, दाहिने हाथ में अस्पष्ट सी वस्तु है व बांये में गान्धार शैली की गदा[2] (Knotted Mace) जो कुषाण सिक्कों पर भी शिव के हाथ में देखी जा सकती है। शिव के गले में हंसली, मस्तक मध्य में त्रिनेत्र व पीछे प्रभा-मण्डल सुचारू रूपेण अंकित हैं। शिव की जटा तो गांधार शैली का आभास कराने में समर्थ है।

रंग महल से 'एकमुख[3] शिवलिंग' फलक भी मृण्मूर्ति कला की महत्वपूर्ण सामग्री है। माथुरी कला में इतना आकर्षक ऐसा

---

१ ललित कला, भारत सरकार, अंक ८, प्लेट २५, चित्र संख्या १८ जहां "गदा" की पहचान नहीं दी गई है।

२ गांठों वाली गदा।

३ ललित कला, अंक ८, प्लेट २४, चित्र १३।

एकमुख लिंग अभी तक नहीं मिला है। यहां शिव के मस्तक के मध्य त्रिनेत्र बना है। गले में ग्रैवेयक व अंग्रेजी के 'वी' के आकार की माला तो कुषाण अभिप्राय की द्योतक है। यहां शिव-लिंग के ऊपर शिवशीर्ष की अभिव्यक्ति इस प्रकार है मानो शिव-शीर्ष लिंग के अन्दर से प्रकट हो रहे हैं। इसे 'लिंगोद्भव-मूर्ति' मानना तो संगत न होगा। भारतीय मृण्मूर्तिकला में इतना आकर्षक 'एकमुखलिंग' अभी तक तो अज्ञात है।

रंग महल से ही प्राप्त शिव पार्वती फलक और भी महत्वपूर्ण एवं अनुपम है। इस पर कुषाण मूर्ति विज्ञान की छाप विद्यमान है। अभी तक इसकी ठीक पहचान नहीं हो सकी थी। इस फलक में ऊर्ध्वरेतस् शिव को ज्ञान मुद्रा में प्रदर्शित किया है व उनके बांये ओर पार्वती लम्बे 'हैण्डल' वाला दर्पण लिये बैठी है। पार्वती ने गांधार शैली का घाघरा पहन रखा है। दर्पण की आकृति भी समकालीन भाव की द्योतक है। यहां शिव को चतुर्मूर्ति रूप में प्रस्तुत किया है जो कुषाणोत्तर-युगीन अभिप्राय है। शिव के मध्यवर्ती सिर के मध्य में त्रिनेत्र स्पष्ट है व ऊपर चौथे शिव-शीर्ष में शिव के एक हाथ में 'सूर्य' व दूसरे में 'चन्द्र' तो विशेष रूपेण उल्लेखनीय है। अभी तक इस प्रतिभा को 'गंगा' माना जाता था जो सर्वथा गलत है। यह स्मरण रहे कि इसी प्रकार की अभि-व्यक्ति कुषाणयुगीन प्रस्तर फलक पर भी उपलब्ध है जो कामपुर के पास 'मूसानगर' नामक स्थान पर उपलब्ध हुआ है।

सूर्य व चन्द्र का सम्बन्ध शिव के साथ सर्वज्ञात है। 'नीलमत पुराण' में भी इसका उल्लेख मिलता है। बीकानेर क्षेत्र के कलाकार ने इस भाव की अभिव्यक्ति प्रस्तुत शिवपार्वती फलक में अंकित कर इसके वैशिष्ट्य में उतरोत्तर वृद्धि की है। यहां शिव के वाम हस्त में 'कमण्डलु' (अमृतघट) भी तत्कालीन शैली में प्रदर्शित हुआ है। इस प्रकार का अन्य फलक अज्ञात है यद्यपि शिव के दो हाथों में सूर्य (=चक्र) व चन्द्र (अर्द्धचन्द्र) की विद्यमानता शाही व मध्य एशिया की पूर्वमध्ययुगीन कला में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है।

दिनांक १५-१-७५ को मुझे बीकानेर संग्रहालय के गोदाम की मृण्मूर्तियों व खण्डित सामग्री को देखने का सुअवसर मिला। वहां बी० एम० २०८६ संख्यक एक लघु फलक का कुछ अंश विद्यमान है जहां लगभग ४ इन्च ऊंचा शिव-शीर्ष बना है। शिव मस्तक के मध्य में त्रिनेत्र विद्यमान हैं परन्तु सिर पर पगड़ी की तरह का मुकुट महत्वपूर्ण है जिससे शिव के 'उष्णीशी' भाव की अभिव्यक्ति होती है। मथुरा की कुषाण कला में शिव लिंगों पर भी यह अभिप्राय मिलता है परन्तु शिव की मृण्मूर्ति में इसका स्पष्ट अंकन इस फलक को महत्वपूर्ण बना देता है। अपरंच, यहां शिव का शिरोवेष्टन तो रंग महल से

ही प्राप्त 'गोवर्धनधारी कृष्ण'[१] फलक में कृष्ण के मुकुट से मेल खाता है। निश्चित ही बीकानेर संग्रहालय का बी० एम० २०८६ संख्यक-शिव शीर्ष अपने युग की उल्लेखनीय कृति है जो अद्यावधि अप्रकाशित एवं अज्ञात रही है। इसे ईसा की तीसरी शती की कृति माना जा सकता है।

—निदेशक, पुरातत्त्व एवं संग्रहालय विभाग, जयपुर (राज०)

---

१ इस गोवर्धनधर फलक में कृष्ण के मुख पर मूछें गांधार कला के प्रभाव की द्योतक हैं। कृष्ण की छाती के मध्य में 'श्री वत्स' तो और भी महत्वपूर्ण है। मथुरा की कुषाण एवं गुप्तकला में कृष्ण के साथ 'श्री वत्स' का सम्बन्ध अज्ञात है। इस दृष्टि से भी बीकानेर संग्रहालय का गोवर्धनधर फलक अद्वितीय है।

चन्द्रावती का जैन पुरातत्त्व

● मारुति नन्दन प्रसाद तिवारी,

राजस्थान के सिरोही जिले में आबू रोड़ स्टेशन से लगभग ६ किलोमीटर दूर स्थित ऐतिहासिक स्थल चन्द्रावती में सम्प्रति जैन व हिन्दू मूर्तियां खुले आकाश के नीचे बिना सूचीपत्रों (अनकैटलाग्ड) के अव्यवस्थित रूप में बिखरी पड़ी हैं और उनकी सुरक्षा हेतु मात्र दो रक्षकों को नियुक्त किया गया है। चन्द्रावती स्थित सभी हिन्दू व जैन मन्दिर पूरी तरह नष्ट हो चुके हैं और उन मन्दिरों का शिल्प-वैभव मात्र ही सम्प्रति अव्यवस्थित संग्रह के रूप में अवशिष्ट है। परमार शासकों के काल में निर्मित समस्त मन्दिरों की संग्रहीत मूर्तियां ११ वीं १२ वीं शती की कलाकृतियां हैं। प्रारम्भ में यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि चन्द्रावती के जैन मूर्तियों से सम्बन्धित प्रस्तुत लेख में अष्टदिक्पालों के चित्रणों को सम्मिलित नहीं किया जा सका है, क्यों कि सभी मूर्तियों के बिना सूची पत्रों के स्थित होने की वजह से सम्प्रति अष्टदिक्पाल मूर्तियों के सम्बन्ध में यह निर्णय कर पाना असम्भव है कि कौन-सी मूर्ति जैन मन्दिर, और कौन-सी हिन्दू मन्दिर पर उत्कीर्ण थी। अष्टदिक्पाल मूर्तियों के सम्बन्ध में भेद कर पाना इसलिए भी असम्भव हो गया है क्योंकि दोनों धर्म सम्प्रदायों में दिक्पालों के अंकन में वाहनों व आयुधों के चित्रण में अत्याधिक समानता प्राप्त होती है। फलतः प्रस्तुत लेख में केवल तीर्थंकर व कुछ अन्य चित्रणों, जिनकी निश्चित पहचान सम्भव हो सकी है, को ही सम्मिलित किया गया है। संग्रहालय में बिखरी कुल १० मूर्तियों में एक के अतिरिक्त सभी तीर्थंकरों का का चित्रण करती हैं। यह भी ज्ञातव्य है कि श्वेत संगमरमर में निर्मित सभी मूर्तियां काफी खण्डित हैं। उल्लेखनीय है कि चंद्रावती की समस्त जैन मूर्तियां अप्रकाशित हैं जिनका अध्ययन लेखक ने स्वयं उस स्थल पर जाकर किया है।

एक तीर्थंकर चित्रण (नं० सी० १४५, ३० इंच × १८ इंच) में जिन का केवल साधारण आसन पर ध्यान मुद्रा में बैठे होना काफी आश्चर्यजनक है, क्योंकि समकालीन जिन मूर्तियों में, जैसा कि स्वयं चन्द्रावती के अन्य जिन मूर्तियों में भी द्रष्टव्य है, तीर्थंकरों को सिंहासन पर आसीन चित्रित किया गया है तीर्थंकर, जिनकी पहचान लांछन के अभाव में संभव नहीं है, के आसन के नीचे कमल दण्डों को उत्कीर्ण किया गया है। वक्षस्थल में श्रीवत्स से चिन्हित तीर्थंकर की केशरचना गुच्छकों के रुप में निर्मित होकर ऊपर उष्णीशो के रुप में आबद्ध है। तीर्थंकर के शीर्ष भाग के ऊपर त्रिछत्र प्रदर्शित है, जो दण्ड से युक्त है। रथिका में स्थापित मूल नायक के मस्तक के दोनों ओर दो अशोक वृक्ष की पत्तियां प्रदर्शित हैं। इस चित्रण के दूसरे भाग में चतुर्भुज दिक्पाल वायु को त्रिभंग मुद्रा में खड़ी आकृति उत्कीर्ण है। वायु की ऊर्ध्व दोनों भुजाओं में ध्वज स्थित है, और निचली बायीं भुजा में लटकता कमण्डलु प्रदर्शित है। निचली दाहिनी भुजा भग्न है। वायु के दाहिने पार्श्व में वाहन हिरन को मूर्तिगत किया गया है। करण्डमुकुट व अन्य सामान्य आभूषणों से सुसज्जित वायु के दाहिने पार्श्व में एक स्त्री सेविका खड़ी है, जिसकी वाम भुजा में चामर स्थित है और दाहिनी भुजा कटि पर आराम कर रही है। रथिका में स्थापित आकृति के दोनों छोरों पर व्याल व मकरमुख चित्रित हैं। बिना परिकर के उत्कीर्ण तीर्थंकर की एक अन्य कार्योत्सर्ग मुद्रा में खड़ी आकृति (नं० सी० २३५, २१.४ इंच × ९.३ इंच), तीर्थंकर के जांगों के नीचे का भाग खण्डित है। तीर्थंकर उष्णीष व लंब कर्ण से युक्त हैं।

अब हम तीन ऐसी तीर्थंकर मूर्तियों का अध्ययन करेंगे, जिनमें सम्प्रति सिंहासन ही अवशिष्ट हैं। पहले सिंहासन (न० सी० ११९, २२.५ इन्च × ९.६ इन्च; चित्र सं० ३) के मध्य में चतुर्भुज देवी की ललितासन मुद्रा में भद्रासन पर आसीन मूर्ति अवस्थित है, है, जिनकी पहचान जैन संघ के प्रसार या संरक्षक देवी शांति से की जा सकती है। देवी ने ऊपरी दोनों भुजाओं में सनाल पद्म धारण किया है, जब कि निचली दाहिनी व बायीं में क्रमशः वरदमुद्रा व फल (मातुलिंग) प्रदर्शित है। देवी दोनों ओर दो अर्धस्तंभों से वेष्टित हैं। देवी के दोनों पार्श्वों में दो गजों और सिंहों को उत्कीर्ण किया गया है। सिंहासन के प्रतीक दोनों सिंह एक दूसरे की ओर पीठ किये सामने की ओर देखते हुए चित्रित किये गये हैं। सिंहासन के प्रत्येक कोने पर एक हाथ जोड़े उपासक आकृति को मूर्तिगत किया गया है। यहां यह उल्लेखनीय है कि दोनों छोरों पर उत्कीर्ण यक्ष-यक्षी आकृतियां सम्प्रति नष्ट हो गई हैं। पीठिका के मध्य की देवी आकृति के नीचे दो हिरनों से वेष्टित धर्मचक्र उत्कीर्ण है। प्रस्तुत मूर्ति में लांछन के अभाव में तीर्थंकर की पहचान सम्भव नहीं है। दूसरा सिंहासन (बिना नं० के) काफी भग्नावस्था में स्थित है और आकृतियों की निर्मिती व योजना में उपर्युक्त सिंहासन के समान है। इस उदाहरण में यक्ष-यक्षी आकृतियों को भी सिंहासन के दोनों छोरों पर अंकित किया गया है। दाहिनी ओर ललितासन मुद्रा में उत्कीर्ण तुन्दीली चतुर्भुज यक्ष आकृति सर्वानुभूति का चित्रण करती है। यक्ष की ऊपरी

दाहिनी व बायीं भुजाओं में क्रमश: अंकुश (काफी भग्न) व पाश स्थित है, जब कि निचली दाहिनी व बायीं भुजाओं में क्रमश: वरद मुद्रा और धन का थैला प्रदर्शित है। बायीं ओर की ललितासन मुद्रा में उत्कीर्ण द्विभुज यक्षी आकृति निश्चित ही अंबिका का अंकन करती है। देवी की दाहिनी भुजा की वस्तु अस्पष्ट है और बायीं से गोद में बैठे बालक को सहारा दे रही है। यक्ष सर्वानुभूति और यक्षी अंबिका के चित्रण के आधार पर यह संभावना व्यक्त की जा सकती है कि मूर्ति तीर्थंकर नेमिनाथ की रही होगी, पर यह बिलकुल जरूरी नहीं है, क्योंकि समकालीन मूर्तियों में ऋषभनाथ, सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ के अतिरिक्त अन्य समस्त तीर्थंकरों के यक्ष-यक्षी रूप में सर्वानुभूति और अंबिका का ही चित्रण सर्वत्र, विशेषकर पश्चिम भारत में प्राप्त होता है। अतः लांछन के अभाव में मूर्ति की निश्चित पहचान संभव नहीं है। तीसरा सिंहासन (नं० सी १२०, २०.५ इंच×१२ इंच चित्र सं० ४), जिस पर यक्षी के रूप में चक्रेश्वरी का अंकन उपलब्ध होता है, के सम्बन्ध में निश्चित रुप से कहा जा सकता है कि मूर्ति प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ की रही होगी, क्योंकि जैन शिल्प में चक्रेश्वरी का चित्रण सदैव उन्हीं से सम्बद्ध रूप में प्राप्त होता है। सिंहासन बायें कोने पर चतुर्भुज चक्रेश्वरी की ललितासन मुद्रा में उत्कीर्ण किया गया है। देवी के दोनों ऊपरी हाथों में चक्र स्थित है, और निचली दाहिनी से अभय मुद्रा प्रदर्शित है। देवी की निचली वाम भुजा खण्डित है। सिंहासन के दाहिनी ओर उत्कीर्ण यक्ष आकृति सिंहासन के द्योतक सिंह व गज आकृतियों के साथ खण्डित है। सिंहासन के मध्य मे पूर्ववत् चतुर्भुज शांति देवी प्रदर्शित हैं, पर पूर्व चित्रण के विपरीत इसमें देवी ने अपनी निचली वाम भुजा में फल के स्थान पर कमण्डलु धारण किया है। बायीं ओर की गज व सिंह आकृतियां भी काफी भग्न हैं। सिंहासन के मध्य की देवी की आकृति के नीचे पूर्ववत् दो हिरनों से वेष्टित धर्मचक्र चित्रित है।

इन खण्डित सिंहासनों के अतिरिक्त दो चित्रणों में मात्र ऊपरी परिकर का भाग ही अवशिष्ट है, जिनमें से एक की पहचान (पी-२३८, २२ इंच×२५ इंच) मस्तक के ऊपर प्रदर्शित सप्त फणों के घटाटोपों के आधार पर निश्चित रुप से पार्श्वनाथसे की जा सकती है। सभी फण काफी भग्न हैं पर उनकी संख्या सात होनी निश्चित है। तीर्थंकर के स्कन्धों के ऊपर प्रत्येक भाग में एक उड्डायमान मालाधर युगल उत्कीर्ण है, जिनके ऊपर दो आकृतियों के साथ गज आकृति को मूर्तिगत किया गया है। पार्श्वनाथ के मस्तक के ऊपर उत्कीर्ण त्रिछत्र के ऊपर की आकृति काफी भग्न है और त्रिछत्र के दोनों ओर पुनः दो उड्डायमान आकृतियों, जिनके मस्तक खण्डित हैं, को उत्कीर्ण किया गया है। दूसरा परिकर (नं० सी २३७, १५ इंच×२१ इंच) भी लगभग समान विवरणों वाला है पर इसमें सर्प फणों के घटाटोपों का अभाव है। इसमें प्रत्येक उड्डायमान मालाधर युगलों के पार्श्व में एक संगीतज्ञ की आकृति को भी मूर्तिगत किया गया है। दाहिने ओर की आकृति वीणावादन में रत है, जब कि दूसरी ओर की आकृति वीणा वादन कर रही है। यह परिकर भी विभिन्न स्थानों पर काफी भग्न है।

जैन मूर्तियों के अन्तर्गत दो ऐसी मूर्तियां भी आती हैं, जिनमें तीर्थंकर आकृतियों को केवल अलंकृत आसन पर ध्यान मुद्रा में बैठे उत्कीर्ण किया गया है। इन मूर्तियों के सिंहासन और ऊपरी परिकर पूरी तरह नष्ट हो चुके हैं। पहली आकृति (सी ७६, २१ इंच × २४ इंच) में तीर्थंकर के आसन पर रोज़िटी और लाजेन्ज आकार के अलंकरण उत्कीर्ण हैं। तीर्थंकर की दोनो भुजाएं और मस्तक खण्डित हैं। वक्षस्थल में श्रीवत्स चिन्ह से अलंकृत तीर्थंकर के तलवे में चक्र उत्कीर्ण है। मुड़े पैरों के बीच से लटकता धोती का भाग चन्द्रावती के जैन कला के श्वेतांबर सम्प्रदाय से सम्बद्ध होने की पुष्टि करता है। दूसरी मूर्ति (सी २६३) में उपर्युक्त चित्रण के समान ही तीर्थंकर अलंकृत आसन पर ध्यान मुद्रा में बैठे हैं। इसमें तीर्थंकर की दोनों भुजाएं शेष हैं, पर बांया घुटना खण्डित है।

द्विभुज अंबिका का स्वतंत्र चित्रण करने वाली मूर्ति निश्चित ही उपर्युक्त समस्त अंकनों से महत्वपूर्ण है। अंबिका (बिना नं० के, ९.३ इंच × ८.६ इंच) के जांघों के नीचे का भाग खण्डित होने के बावजूद उसका बायां मुड़ा पाद अवशिष्ट है, जिससे देवी के ललितासन मुद्रा में उत्कीर्ण रहे होने की संपुष्टि होती है। देवी के स्कन्धों के ऊपर प्रत्येक भाग में आम्रलुंबि लटक रहा है। देवी की दाहिनी भुजा भग्न है और अपनी वाम भुजा से वह गोद में बैठे बालक को सहारा दे रही है गोद में प्रदर्शित बालक मां का स्तन छू रहा है। करण्डमुकुट, हार, स्तनहार आदि आभूषणों से सुसज्जित अंबिका का वाहन सिंह निश्चित ही निचले खण्डित भाग के साथ नष्ट हो गया है।

–जूनियर रिसर्च फेलो (वि० प्र० आ०)
हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ० प्र०)

मेवाड़ के प्रारम्भिक चित्रावशेष तथा उनका कलावादी विश्लेषण

राधाकृष्ण वशिष्ठ

मेवाड़ क्षेत्र में कला की प्रागैतिहासिक काल से ही अविच्छिन्न परम्परा रही है। प्राप्त पात्रावशेषों, चित्रों एवं भित्ति-चित्रों में इसकी मौलिक परम्परा दिखाई देती है। चित्तौड़ क्षेत्र से प्राप्त अश्मायुद्धावशेषों से एक लाख वर्ष पूर्व की प्रचलित मानव सभ्यता का ज्ञान इस प्रदेश के महत्व को स्पष्ट करता है।[1]

परवर्ती काल में इस क्षेत्र के नगरी (माध्यमिका) के प्राप्त शिल्पावशेषों में नर्तकी के पांव एवं बतख के चित्रों से गुप्तकालीन कला प्रभाव के साथ में स्थानीय चित्रण की मौलिकताएं दिखाई देती है। वल्लभी के विध्वंसोपरान्त वहां से आने वाले कलाकारों पर स्थानीय चित्रण परम्परा का सातवीं से पन्द्रहवीं सदी तक अविरल रूप से प्रभाव पड़ा जिसे कालान्तर में मेवाड़ चित्र-शैली नाम से सम्बोधित किया है।[2]

इस चित्रण परम्परा का विकास पश्चिमी विद्यापीठ की यक्ष शैली के प्रधान चित्रकार शृंगधर से आरम्भ होता है, जो राजा शील (६४६ ई०) के राज्याश्रय में थे।[3] पश्चिमी विद्यापीठ का यह केन्द्र बटनगर (बसन्तगढ़) में अजहरी गांव के निकट स्थित शारदापीठ नामक सातवीं सदी में विद्या का एक प्रमुख केन्द्र था।[4]

---

१ रिसर्चर, भाग २ पृ. २९

२ शोध-पत्रिका, भाग ११, अंक ३-४, पृ. १५

३ इन्डीयन एन्टीक्विरी, भाग ४, पृ. १०१

४ शोध पत्रिका, भाग ३, अंक १

यहीं से प्राप्त ब्रोंज मूर्त्तियों पर परवर्ती शिल्पी शिवनाग का उल्लेख मिलता है।[१] शनैः-शनैः यह कला-प्रवाह नागदा, जगत, कल्याणपुर, आहड़ एवं चित्तौड़ की मूर्ति कला में दिखाई देता है।

चित्तौड़गढ़ के समिद्धेश्वर महादेव मन्दिर में उत्कीर्ण रेखा-चित्रों से[२] आहड़ के ताड़ पत्रों पर चित्रित श्रावक प्रति क्रमण सूत्र चूर्णि[३] तथा देलवाड़ा में चित्रित सुपासहनाह चरित की चित्रण प्रक्रिया का प्रभाव दिखाई देता है। इन चित्रों तक आते आते मेवाड़ चित्र-शैली अपनी कतिपय मौलिक विशेषताएँ स्पष्ट रूप दे चुकी थीं जिनका आगे चलकर निरन्तर विकास होता रहा। महाराणा कुम्भा का काल कलाओं के विकास का स्वर्णयुग रहा है, मूर्तियों, शिल्प-ग्रन्थों एवं चित्रों आदि से उसका अच्छा प्रकाश पड़ता है।

महाराणा सांगा (१५०९-१५२७ ई०) के राज्यकाल में मेवाड़ की सीमाओं का विकास एवं कलात्मक जागृति भी किसी भांति कम नहीं थी उखल बन्धन, स्वर्ग से पारिजात वृक्ष को पृथ्वी पर लाना, इस चित्रण-परम्परा के प्रथम श्रेष्ठ सोपान हैं। प्रतीक्षारत राधा "कामदेव का प्रहार", चावण्ड से उपलब्ध राग मालाओं से सम्बन्धित चित्र, रामायण के चित्रों का घटनाक्रम, कविप्रिया, रसिक प्रिया, बिहारी सतसई (१७२० ई०) एवं गीत गोविन्द (१७२५ ई०) के चित्र इस कला-परम्परा के पुष्ट प्रमाण हैं।

मेवाड़ के लघु-चित्रों की भांति भित्ति-चित्रों की भी एक समृद्ध परम्परा रही है। दसवीं सदी से ही एकलिंगजी के नाथ-नाथनी मन्दिर में भित्ति-चित्रों के अवशेषों की कल्पना की जा सकती है।[४] महाराणा कुम्भा के महलों में उसी काल में चित्रावशेषों का उल्लेख है।[५] महाराणा राजसिंह प्रथम के राजकाल में निर्मित एकलिंग मन्दिर में गुसाईं जी के सिंहासन के पीछे की दीवारों पर शिव परिवार एवं 'लक्ष्मी' भित्तिचित्रों के स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं। इसी काल में निर्मित उदयपुर में अम्बामाता मन्दिर के हजारे, नाथद्वारा, गोगुन्दा एवं उदयपुर कई प्रमुख ठिकानों एवं समृद्ध घरानों में हजारों के रूप में भित्ति-चित्रों का मिलना, इस प्रदेश के जनसाधारण की कलात्मक अभिरुचि का परिचायक है।

---

१ ललित कला, सं० १-२, अप्रेल, १९६६
२ वरदा, वर्ष १४, अंक २, पृ० ५
३ बोस्टन संग्रहालय सूची-पत्र, भाग ५।
४ शोभालाल शास्त्री-चित्तौड़गढ़-५७
५ आकृति (रा० ल० क० अ०) जुलाई, १९७३, पृ० ९

उपर्युक्त चित्रावशेषों के आधार पर धार्मिक एवं पौराणिक विषयवस्तु के परिप्रेक्ष्य में शैव, जैन तथा वल्लभ सम्प्रदाय की साहित्यिक परम्परा चित्रकारों की मौलिक प्रतिभा के रूप में दिखाई देती है। आखेट एवं युद्ध जैसी मानवीय प्रवृत्तियाँ, सामाजिक, सांस्कृतिक पहलुओं एवं 'राधा व कृष्ण' के माध्यम से रतिपूर्ण प्रसंगों का साहित्यिक अनुशीलन, बिहारी सतसई, गीतगोविन्द, तथा आर्ष-रामायण के चित्रों में चित्रकारों का मौलिक चिन्तन स्पष्ट दिखाई देता है।

चित्र-संयोजन में विषय एवं कहानी के स्थान पर रेखा, रंग, रूप, तान तथा पोत को अधिक महत्व दिया जाता है।[1] चित्र-निर्माण के कलावादी सार्थक स्वरूप में चित्रण प्रक्रिया के आधार पर मेवाड़ चित्र-शैली के ये चित्रण-तत्व सर्वप्रथम 'सिग्निफिकेन्ट फोर्स' रेखाओं के आधार पर भारतीय कला परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। रेखाओं के माध्यम से हर्ष-दुःख, आशा-निराशा, विरह-मिलन, मन्दता एवं तीव्रता की तेज चुभन भावों के साथ फलकीय गतियों को प्रकट किया है।

रूपांकन में सरलीकरण एवं तोड़, शैली के चित्रकारों की कुशाग्र बुद्धि का द्योतक हैं। स्त्री एवं पुरुषों की विभिन्न साज-सज्जा और आभूषणों का प्रयोग उक्त शास्त्रीय दृष्टि से उपर्युक्त प्रतीत होता हैं।[2] रंगांकन की विभिन्न विधियों एवं पद्धतियों में प्रारम्भिक काल में लाल, पीला, नीला, मुख्य रंग जैन-कला की भांति प्रयोग में आये। तत्पश्चात् मुगल प्रभाव से मिश्रित रंगों का प्रयोग हुआ, पोत हेतु बारीक बेलबूटें अंकित कर तल की दृश्यात्मक गति का महत्व उत्पन्न किया जाता रहा है।

उखल बन्धन चित्र का विश्लेषण करने पर उसकी निर्माणात्मक रेखाएं, अन्तराल के विभिन्न रूपों का सरल अंकन, तान व परतों का संयोजन करते हुए द्वि आयामी फलकीय गतियों का निरूपण, द्वि-आयामी, घनत्व, फलकीय आकारद, लघु जनदता, धरातलीय रूपांकन की उलझन में दृश्यात्मक गति स्पष्ट दिखाई देती है। हेनरी रोजम्सन ने इन्हीं कला तत्त्वों के आधार पर कुछ प्राचीन चित्रों का सैद्धान्तिक विश्लेषण किया है।[3]

यहां के चित्रों में अन्तः प्रेरणा एवं प्रज्ञा का उचित समन्वय है। भाव एवं संवेग में चित्रकारों का शास्त्रीय दृष्टिकोण स्पष्ट लक्षित होता है। प्रतीक्षारत राधा चित्र में[4] आलम्बन एवं उद्दीपन के भावों का मनोवैज्ञानिक आधार स्पष्ट किया है। स्वर्ग से पारिजात

---

१ आनन्दकुमार स्वामी-ट्रांसफोरमेशन आव नेचर इन आर्ट, पृ० ४१

२ हरमन ग्वेत्स-राजपूत पेन्टिंग, पृ० २३-२६

३ हेनरी एन० रोजम्सन-आर्ट स्ट्रक्चर (ए स्ट्रेवास्ट बुक आंव क्रिएटिव डिजाईन पृ० ७५)

४ पं० केदारनाथ, गीतगोविन्द टीका पृ० ७

वृक्ष को धरती पर लाना चित्र कलावादी दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है । रंगीय तलों के पृथक्करण से दृश्यात्मक प्रभाव देखा जा सकता है । मध्य भाग हिंगलू की लाल पृष्ठ भूमि से गतियुक्त है । दोनों ओर गहरे हरे रंग से संयोजित आकार स्थिरता को दर्शाते हैं विष्णु एवं लक्ष्मी गरूड़ पर आसीन हैं । पेड़ों की पत्तियों में गहरे हरे व काले रंग के पोत से विष्णु के गौरव को उभारा गया है ।

स्थानीय विशेषताओं के आधार पर यह शैली राजपूत केन्द्रों में राजपूत चित्रशैली नाम से प्रसिद्ध हुई, (मेवाड़, मारवाड़, ढूंढाड़ एवं हाड़ौती) मेवाड़ के गहन अध्ययन में आहाड़ के ताड़पत्र-ग्रन्थ, देलवाड़ा के सुपार्श्वनाथ चरियम ग्रन्थ, चित्तौड़ में चित्रित रामायण के चित्रों, प्रतापगढ़ के चौरपंचाशिखा, चांवड के राग रागीनियों, देवगढ़ के शिकार सम्बन्धी चित्रों, उदयपुर के कविप्रिया, रसिक प्रिया, सुन्दर शृंगार, गीतगोविन्द के चित्रों एवं नाथद्वारा तथा शाहपुरा के चित्रों से अलग-अलग उपशाखाओं का निर्माण स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो जाता है ।

शाहपुरा, बसी एवं बेगू चित्रों से शैलीगत अलग-अलग रूप दिखाई देते हैं ।

७०० ई० | (अजन्ता एवं गुर्जरकला)

१२०० ई० | मेवाड़

राजस्थानी चित्रशैलियां

मेवाड़ | मारवाड़ | ढूंढाड़ | हाड़ौती

आहाड़ | देलवाड़ा | चित्तौड़ | प्रतापगढ़ | चावंड | देवगढ़ | उदयपुर | नाथद्वारा | शाहपुरा

यहां के चित्रों में भारतीय चित्रकला का शास्त्रीय दृष्टिकोण अपनाया गया है । एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में प्रचलित शिल्प-विषयक ग्रन्थों, विष्णु धर्मोत्तरपुराणों अभिलक्षित चितामणी, राजवल्लभ मण्डन, रूप मण्डन आदि ग्रन्थों में चित्र संयोजन की योजनाएं मिलती हैं । ऐसे ही स्थानीय शब्दावलियों 'हाथ हाथी घोर घोड़ा, और थोड़ा थोड़ा' से पेग बड़ो कपूत को सिर बड़ो सपूत को आदि जैसी शाब्दिक योजनाएं चित्रकारों की बौद्धिक सूझ-बूझ का परिचय देती हैं । इनमें अनुभवों के आधार पर रंग निर्माण की पद्धतियां, तूलिका निर्माण पद्धतियां, कागज साठना, चित्र संयोजन की शाब्दिक योजनाओं को कण्ठस्थ करना आदि चित्रकार की योग्यता के सूचक थे ।

वशिष्ठ निकुंज
शीतला मार्ग, उदयपुर

झालावाड़ संग्रहालय की जैन प्रतिमायें

● रमेशचन्द्र बारिद

झालावाड़ मध्य प्रदेश की सीमांचल में बसा एक ऐतिहासिक सामग्री से भरपूर राजस्थान का जिला है। शहर के मध्य झालावाड़ राज्य के महाराणा भवानीसिंह ने सन् १९१५ ई० में पुरातत्त्व संग्रहालय की स्थापना की। इस संग्रहालय में प्राचीन भारत के इतिहास को क्रमबद्ध प्रस्तुत करने के लिए अलभ्य सामग्री संग्रहीत है।[1] इस संग्रहालय की जैन प्रतिमायें निम्न हैं जो जैन मूर्तिकला की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं—

(१) सम्भवनाथ प्रतिमा साइज २०"×१६"

सफेद संगमरमर की बनी पद्मासन में बैठी, द्विबाहु सम्भव नाथजी की सं० १५४४ में बनी प्रतिमा है। वक्ष के मध्य में श्रीवत्स चिन्ह है। चौखट में सम्भवनाथ जी का चिन्ह उत्कीर्ण है। जैन शास्त्रों के अनुसार प्रतिमा में वीत राग मुखरित किया है।

(२) वासुपूज्य प्रतिमा साइज १६"×१२"

श्वेत संगमरमर पाषाण की पद्मासन में ध्यानमुद्रा में वासुपूज्य की द्विबाहु प्रतिमा सं० १५४४ की है। वक्ष के मध्य भाग में श्रीवत्सचिन्ह नीचे चौखट पर अस्पष्ट लेख उत्कीर्ण है।

(३) पार्श्वनाथ प्रतिमा साइज २२"×१७"

श्याम-वर्णीय संगमरमर पत्थर की द्विबाहु पद्मासन में बैठी हुई सं० १५४४ की पार्श्वनाथ की प्रतिमा है, सिर के ऊपर पंच मुखी नाग छाया किये हुए है। प्रतिमा के वक्षस्थल के मध्य में श्री वत्स चिन्ह और चौखट में नागाकृति तथा अस्पष्ट लेख उत्कीर्ण है। पाषाण प्रतिमा की अधिक घिसाई शिल्पियों द्वारा करने से चमक उभरी और धातुप्रतिमा सी लगती है।

---

१ मेरा लेख—हाड़ौती क्षेत्र का कला वैभव—मरुभारती वर्ष १५, जनवरी १९६८ ई० अंक ४, पृष्ठ ७२ एवं भारतीय साहित्य परिषद् की तृतीय अखिल भारतीय अधिवेशन की स्मारिका' १४–१५ अक्टूबर १९७२ ई०, पृष्ठ संख्या ५२ पर। —लेखक

(४) अजीत नाथ प्रतिमा साइज ४०"×२२"

काले साधारण पत्थर की कार्योत्सर्ग मुद्रा में खड़ी अजीत नाथजी की द्विबाहु प्रतिमा है। हस्त खण्डित हैं। ऊपर की ओर एक एक हाथी दोनो ओर नीचे चोखट पर हाथी की आकृति एवं वक्ष के मध्य भाग में श्रीवत्स चिन्ह उत्कीर्ण है। प्रतिमा १०वीं शताब्दी की है।

(५) वृषभनाथ प्रतिमा साइज २५"×२२"

मटमेले पाषाण खण्ड की पद्मासन मुद्रा में द्विवाहु वृषभनाथ जी की बैठी हुई प्रतिमा है, हाथ खण्डित है. वक्षस्थल के मध्य में श्रीवत्सचिन्ह, चोखट में नीचे वृषभाकृति, सिंहाकृति ऊपर की ओर तीर्थंकर के जन्म का भाव दम्पति पूजन करते हुए उत्कीर्ण हैं यह प्रतिमा १० वीं शताब्दी की है।

(६) सर्वतोभद्र प्रतिमा नं० २१८

झालरापाटन नगर के जूना मन्दिर के शिखर का खण्डित हिस्सा जिसमें ध्वज लगाया जाता था, इस लाल पाषाण खण्ड पर चारों दिशाओं की ओर ध्यान मुद्रा में सर्वतोभद्र[1] प्रतिमा है, जो बैठी हुई है। पद्मासन और ध्यान मुद्रा में हैं।[2]

उक्त जैन प्रतिमाओं के अतिरिक्त प्रतिमा नं० ६१ व ६२ जो १० वीं शताब्दी की हैं, द्रष्टव्य हैं। संग्रहालय की समग्र जैन प्रतिमाओं में बाह्य आकर्षण नहीं है सौम्यता और स्थिरता का भाव प्रदर्शित है।[3]

पुरातत्त्व संग्रहालय, झालावाड़

---

१ चारों दिशाओं में खड़े हुए या बैठे हुए चार तीर्थंकरों को मिला कर बनायी गयी प्रतिमायें सर्वतोभद्र कहलाती हैं।

२ जैन शास्त्रों में दो मुख्य ध्यानों का वर्णन है एक धर्म ध्यान दूसरा शुक्ल ध्यान मुद्रा होती है। धर्म ज्ञान की भूमिका के बाद ही शुक्ल ध्यान प्रारम्भ होता है। १२ तपों में यह ध्यान सर्वोपरि है।

'जैन धर्म में ध्यान का महत्त्व' लेखक-गुलाबचन्द, महावीर जयन्ती स्मारिका, अप्रेल १९६२, पृष्ठ २३१ से उद्धृत।

३ कला की दृष्टि से जैन तीर्थंकर मूर्तियों में समाधिजन्य स्थिरता और उध्वंता पायी जाती है बाहरी ओर उनका आकर्षण नहीं होता, किन्तु वे ही शिल्पी जो प्रतिमाओं के अंकन में इतनी संयत वृत्ति का परिचय देते थे जब तोरण और वेदिका स्तम्भों पर जीवन सम्बन्धी दृश्यों का चित्रण करने लगते हैं तो ऊंचे कला सौष्ठव का परिचय देते हैं जैसे आयाग पट्टों पर अंकित शिल्प का माधुर्य मन को मोहित किये बिना नहीं रहता। वे कलाविदोंकी श्रेष्ठ प्रतिभा की सूचक है—'मथुरा की जैन कला', डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल, महावीर जयन्ती स्मारिका अप्रेल १९६२ पृष्ठ ७० से उद्धृत

वात अकतरा री

राजस्थानी लोक-कथा

मनोहर 'कान्त'

प्रस्तुत लोक-कथा वात 'अकतरा' री, अथवा 'अकातरा' री की हस्तलिखित प्रति साहित्य संस्थान के शोध-पुस्तकालय में उपलब्ध है।[1] कथा के अंतिम अंश को देखने से ज्ञात होता है कि वि० सं० १९३६ में इसकी प्रतिलिपि किसी अन्य ग्रंथ-संग्रह से की गई थी। अर्थात् लोक में यह कथा इससे पूर्व प्रचलित थी। ग्यारह पृष्ठीय इस लोक-कथा का आधार श्रुति एवं दृष्टि तत्व है। इन दो तत्वों के सहारे जो लोक-विश्वास इस कथा में पनप पाया है वह भारतीय दर्शन एवं चिन्तन के अनुरूप तथा उसकी विशेषताओं को दर्शाने वाला है।

'अकातरा' शब्द का शुद्ध स्वरूप 'एकान्तरा' है। इसका अर्थ लोक में एक विशेष प्रकार के ज्वर से लिया जाता है, जो थोड़े-थोड़े अन्तर से 'रोगी' पर हमला करता है। एकान्तरा से ग्रसित रोगी को यह लोक-कथा ७ वारों तक आंखों से आंखें मिला, बिना हुंकारा दिए सुनने का निर्देश कथा के अन्त में प्रदान किया गया है और रोगी के स्वस्थ होने का विश्वास व्यक्त किया गया है। यह इस कथा की सबसे बड़ी विशेषता है और जैसा कि इसके आधार के सम्बन्ध में ऊपर कहा गया, श्रुति तत्व और दृष्टि तत्व से संबद्ध हो कथा अपने वैज्ञानिक विवेचन का पक्ष प्रस्तुत करती है। जिसे हम 'हिप्नोटाइज्ड' होना कह सकते हैं, वह इस कथा का प्रभाव-क्षेत्र है। कथा की यह पृष्ठभूमि जिस रहस्य का परिचय कराती है वह परम्परा से कितना प्राचीन और सशक्त स्थल है. लोक-विश्वास का आधार जान कर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। किन्तु, 'लोक कथा' शब्द से जिस अर्थ का बोध हमें होता है, वह सहज लोक में

---

१ साहित्य संस्थान, हस्तलिखित ग्रं. सं. ६२४; पत्र सं. ६५-७५

उसकी आस्था के प्रति विश्वस्त करता है— लोक-भाषा के माध्यम से सामान्य लोक-जीवन में प्रचलित, त्रैकालिक विश्वास, आस्था और परम्परा पर आधारित कथाएं 'लोक-कथा' के अन्तर्गत आती हैं। शांति और अशांति के विभिन्न क्षणों में ये लोक-कथाएं जन-समुदाय में स्फूर्ति एवं प्रेरणा का रक्त-संचार करती हैं। लोक-मानस में परिव्याप्त होकर असीम आनन्द की लहरों में सुन्दर सत्य का उद्घाटन करती हैं[1]। आलोच्य कथा वात 'अकातरा' री में असद पर सद की विजय और लोक-कल्याण की दृष्टि से उसका महत्व प्रतिपादित किया गया है।

लोक-कथाओं की परम्परा[2] वेदों से अविकल स्वीकार की जाती है, जो सांस्कृतिक विशेषताओं का द्योतन कराने के साथ ही साथ उन लोक-विश्वासों का पोषण करती है, जो संकट और संघर्ष के समय धैर्य धारण करने की क्षमता एवं शक्ति प्रदान कर अनीति पर नीति की विजय दर्शाता है, जिसकी पुष्टि 'बात अकातरे री' के अध्ययन से होती है, लोक-तत्व के सन्दर्भ में आगे इसकी चर्चा की जाएगी।

विषय-विभाजन की दृष्टि से आलोच्य लोक-कथा 'धर्म-कथा' की श्रेणी में स्वीकार की जा सकती है। 'वात अकातरे री' की मूल ध्वनि वाचा (वचन) और तद्नुरूप आचरण के अभाव में जहां अप्राकृतिक तत्व (super-natural element) के विनाश की ओर जहां पूरी शक्तियुक्त विश्वास की अभिव्यक्ति में मिलती है, वहीं दूसरी ओर उससे संघर्षरत पात्र एवं श्रोताओं को सद्वृत्ति के विकास की प्रेरणा प्राप्त हो असद वृत्ति से संघर्ष की आध्यात्मिक शक्ति के विजय का विश्वास भी लोक में उसके प्रयोग से स्वत: ध्वनित है।

लोक-कथाओं में प्राप्त होने वाले लोक-तत्वों— (१) प्रेम का अभिन्न पुट (२) अश्लील श्रृंगार का अभाव (३) मानव की मूल वृत्तियों से निरन्तर साहचर्य (४) मंगल कामना की भावना (५) सुखान्तता (६) रहस्य-रोमांच एवं अलौकिकता की प्रधानता (७) उत्सुकता की भावना (८) वर्णन की स्वाभाविकता[3]—की दृष्टि से प्रेम और श्रृंगार की प्रस्तुत कथा—'वात अकातरा री' से विशेष सम्बन्ध नहीं है। काम-तत्व को लोक-कथाओं में औचित्यपूर्ण स्वीकारा भी नहीं गया और न ही परम्परा रूप में प्राप्त होता है—लोक-कथाओं में काम-वासना की प्रधानता कहीं भी प्राप्त नहीं होती है, जबकि अधिकांश आधुनिक कहानियों में वासना-तत्व ही विद्यमान रहती है[4]। अन्य सभी तत्व उक्त कथा में उपलब्ध होते हैं।

---

१ डॉ० विद्या चौहान, लोकगीतों की सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि, पृ. ५०-५१
२ वही, पृ. ५२
३ वही, पृ. ५४
४ वही, "

तात्पर्य यह है कि लोक-कथाओं में मानव-कल्याण की पोषक प्रवृत्तियों को ही रहस्यात्मक शैली में प्रधानता प्रदान दी जाती है; लोक-कथाओं में मानव की सहज वृत्तियां अपने स्वाभाविक रूप में प्रकाशित होती हैं। प्रत्येक लोक-कथा का चरम लक्ष्य सर्व कल्याण की भावना में निहित होता है। इसीलिए लोककथा का पर्यवसान सदा सुख में होता है। लोक-कथाओं में प्रायः अमानवीय एवं अलौकिक तत्वों का समावेश होता है। भूत, प्रेत, पिशाच, दानव, परी, उड़ने वाले पशु, मानवीय भाषा बोलने वाले पक्षी आदि का वर्णन रहता है, जो कथा में उत्सुकता एवं कौतूहल की सृष्टि करता है[1]। 'बात अकातरे री' में 'अकातरे' को 'सगस'–प्रेत– रूप में और हरसुलजी चारण को कल्याणकारी प्रवृत्ति के पोषक के रूप में चित्रित किया गया है। जैसा कि आरंभ में कहा गया, 'अकातरा'–एकान्तरा–जो एक विशेष प्रकार का ज्वर है और जो प्रस्तुत कथा में 'सगस' (प्रेत) के रूप में चित्रित हुआ है, मंत्र-शक्ति के माध्यम से किस तरह उसका नाश सम्भव है, यह इस कथा का प्रतिपाद्य है। हरसुलजी चारण के द्वारा यह कार्य सम्पन्न होता है, जो नीतिगत कुशलता एवं (रोगग्रस्त पात्र के लिए) प्रेरणा के प्रतीक हैं। सम्पूर्ण कथा इस प्रकार है—

बात अकतरा री

सीध श्री गुणेसाहजी नमो प्रसादातुजी अथा बात अकतरा की लीषते।

अथा बात लषेते। एक रजपुत मारवाड़ मे रेवो हो। अर ऊ आणो लेवाने षरौआ देस में गओ। जठा सु आणो लेने आवतो हो। जतरे गाम साकड़ मोकड़ री काकड़ मे एक बावड़ी ही जठे लुगाही बोली के मने तरषा लागी। सो पाणी पाबो। जदी रजपुत पाणी रो लोठो भरवाने वावड़ी मे गओ जठे वषत लागी हात मुड़ा धोया। जतरे रजपुताणी आगे नीसर गही जतरे वठे बावड़ी में एक सगस रेतो हो जो वणी रजपुत रे ऊणी षारे वे ने जल रो लोटो लेने पाणी पायो। अर कही के चालो, सो रजपुताणी वा ऊ सगस दो ही जणा चाल्या जावे है जतरे पाछा सु रजपुत लोठो भर ले आयो ने कही के ये पाणी पीवो। जदी सगस बोलो के थु कुण है। आ तो मारी लुगाही है थु जातो रे के मार नाकुगा। जदी रजपुत बोल्यो के लुगाही तो मारी है थु कुण है जदी दो ही आपस में लड़ता-लड़ता गाम साकड़ मोकड़ रा बजार में आय ऊतरा दुकाना में। जदी रजपूत देखे ने बोल्यो के अणी गाम में कोही नावपी (भी) करे हे। जदी गाम रा माहाजन बोल्या के मारे ठाकुर हरसुलजी चारण राज करे हे जी दुरसत न्याव करे हे सो वणा तीरे जाबो। जदी रजपुत ठाकुरा कने गओ। अर अरज कीदी के आपरा गाम रा काकड़ में बावड़ी ही जठे पाणी पीवा गओ। जठे पाछा सु को ही मारे ऊणी आरे वे ने मारो आणो ले जावतो हो।

1 डॉ॰ विद्या चौहान: लोकगीतों की सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि : पृष्ठ ५४

जदी मा जावे ने कही के आणो मारो हे। वणी कही के आणो मारो हे सो अबे ऊ मारो आणो लेने गाम दुकाना में ऊतरचो हे जी सु आपसु अरज हे। के मारी लुगाही मने देवाबो। जदी ठाकुरा हरसुलजी हलकारो मेले ने वीने बुल्याओ ने वीने पूछ्यो जदी वी कही के आणो मारो हे अर दोवां री बोली सूरत ऊणीआरो एक सरीसो हे ओर दोवां ने पूछी नाखे नारो। सो एक बोली बोले हे। जदी ठाकुरां लुगाही ने पूछी के आमे थारो गरधणी कुण हे। जो थे बतावो। जदी लुगाही बोली के मने तो दोवां री ठीक पड़े नही। ए तो एक सरीसा दीसे हे। जीसु अबे आप निरधार करे मारो षावद वे जो मने सुपो। जदी ठाकुरा हरसुलजी बोल्या के यामे एक तो मानवी हे एक ओर सगस छलछद हे दो ही मानवी नही जदी अठे तो दीवड़ा रो नीरधार साचो हे सो दोवा मे सु एक जणो साचो वे जो ही दीवड़ा मे पेसो जी री लुगाही हे। या अणा दोवा ने कही जदी रजपूत तो नट गयो के माहाराज मासु तो पेसो जावे नहीं। जदी सगस एकतरो हो सो ऊ बोलो कि मु दीवड़ा मे धसु। जदी हरसुलजी दीवड़ा रो मुड़ो षुलाअ दी दो जो ही ईकालरो दीवड़ा मे धसो जदी थोड़ो बारे दीषवा लागो। जदी हरसुलजी बोल्या के बारे दीसे हे। जदी फेर आगो पेठो। जदी ठाकुरा जाणी के ओ मानवी नहीं कोही सगस हे सो दीवड़ा रो मुड़ो गाड़ो बादो। अर कहो के ओ जुटो हे सो ईने मारो जदी मारवा लाग्या अर रजपुत ने कही के थु थारी लुगाही ले जा चोर मा पकड़ लीदो हे। थु साचो हे सो थु जावो माहने गाड़ो कीदो है जदी ठाकुरा हरसुलजी हुकम चलायो। के ई रे दीनां लाठचां सो (१००) देवो करो जदी सगस बोल्यो के मने मत मारो मु तो एकतरो हु सो मने मत मारो। मने छोड़ दो सो आपरी सीम में ऊबो रेऊ नही। जदी ठाकुरा एकतरा री वाचा लेने छोड़ दीदो सो एकतरो पड़ भागो सो गाम कोटकनोजग। ओ वठे एक साऊकार सेठ जाज जातो हो अर वीं रो बेटो वीने पुगावा आयो जठे बेटे कही के मु तो आपरी लारै चालुगा जदी सेठ कुवर ने लारा ले गयो अर दुजा पोछावा वाला कुवर रा सातरा गोठ्या पाछा फरचा जठे एकतरो देषी के हाल ई ढवे है जदी एकतरे सेठ रा बेटा रो रूप कर पाछो आअ पुगो अर साथ वारा ने कही के मु तो पाछो ऊरो आयो। जदी साथ वाला कही के आछो काम कीदो अर राजी हुवा पछै सेठ रे गरा गओ जठे भाग क सुयो करसारा ने सीष दीदी अर एकतरो सेठ रे गरा रेवे सो सेठ रा बेटा रा सुवा रा मेल मे रेवे मेला मे गोषड़ा मे बेटो रेवे अर सेठरी हवेली नीचे गोखड़ा हेटे एक मानवी दुकाम माड़तो रेवे अर एकतरो दन अरत गोषड़ा मे सु ओ दुवो केवे। करके दुहा: गाम साकड़ मोषड़ घरीआ देस दुर घर करे बापड़ो, हरसुलजी के ज्याअ बेटा कोट कनोज। या दन एक प्रत केवो केरे। अब कतराक दन पछे सेठ कुवर दोई पाछा आया। अर बदाअ ने गरा लाया। सजा रा समे सेठ सुवा ने मेल मे गयो अर बेटा ने पी कही थे थारे ठकाणे सुवो जदी कुवर सुवा ने गओ जठे आगे मेला मे तो एकातरो बेटो हो सो कुवर ने डफराअ दीदो। सो कुवर पाछो आवे ने पोल में दरीषाने सुअ रहो। अतरे परमात हुवो जदी सेठ देषे तो कुवर दरीषाने सुतो हे। जदी पुछा के थु कु अठे सुतो अर पोरवारा ने सेठ कहो के थे याने पूछो के थे अठे

कु सुता हो जदी पेरा वाला कुंवर ने पूछो सो जाब दीदो नही जदी सेठ बोल्यो के यारा गोठचा माठ्या ने बुल्या अने वाने केवो सो वी ईने पूछेगा अर बरा बरा ने केगा जदी सेठ यारां हेतु ने बुलाअ ने पूछाओ जदी कहीके मारी मेड़ी मे तो कोही ओर हे जदी सेठ सेठाणी ने कही के ओ कुण है अर बेटो तो मारी लारे हो अर ओ दुजो कुण है जदी पाछी सेठाणी बोली के आपकी नेला आ हो बेटो मा तीरे हो जदी पाछी सेठजी बोल्या के बेटो तो मारी लारे हो थे काही जाणकणी ने राख्यो हे जदी दोवा ई रे आपस मे केवा सुणवो पड़यो आपस में जदी गाम रा पंच भला आदमी भेरा वे ओ काही अचरज हे जतरे गोषड़ा नीचेलो माहाजन दुकान वालो बोल्यो के सेठजी गया जी दन सु ओ एक दत्रो केतो जो मु जाणु हु: दुहा: साकड़ मोकड़ गाम घरीआ देस दुर काहा करे बापड़ो हरसुलजी मे जाअ वेसा कोट कनोज। जदी सेठ ठाकुरा हरसुलजी रे नामे कागद लख्यो के अठे एक मारा बेटा रे ऊण्यारे वे ने आवो है जो ओ कुण हे जीरी आप लषमी अरु आपरा नाम रो दुवो केवो करे हे: के दुहा: साकड़ मोकड़ घरीआ देस जाबसे हरसुलजी चारणजी रो जबाब पाछो हरसुलजी कागद मे लषी सेठजी रे नामे के आप एक दन बाग में गोठ कराअ दरीषानो करे बेठजो जठे आप बेठे ने छड़ीदार ने बुलाअ ने कुछ जो ठाकुरा हरसुलजी रे नुतो गओ के नही जदी छड़ीदार केगा के मु नुतो दे वारी लारे हरसुलजी लारे मज दो अ त न आओ ने वारी तारी है। आवारी जठा पछै मु आगे आगे आओ। आपने षत्रर देवाने जदी सेठ लख्या प्रमाणे सारी वाग मे तारी कराही। अर बाग में दरीषानो कर बेटा अर ओ दुहो कहो। दुहा: साकड़ मोकड़ रा धणीआ आषा दे कावड़ घरे केई आवा ठाकुरा हरसुलजी मुजरो मुजरो सारा सरदार दरीषाना सु ऊठ बेठा हुआ। अर एकातरो नाम लेता पड् भागो सो वठा सु नीसरो सो एक वड़ो सेर जठारा राज रा कुवर रा डील में जाय धसो जदी कुवर रो डील दन दन छीजवा लागो, राज मोषरा ईलाज करे पी लागे नही अतरा मे एक समे ठाकुरा हरसुलजी रा लोड़ा भाई गोड़ा लेने वेचवा ने आया कुरा वेने पाछा राजा तीरे दुवा लेवा ने आया जदी अणा कुवरजी रा डील मे षेद देवी ने नजर पुगाही के ओ तो मारा बड़ा भाई कुट ने काड़ो जो ईकातरो हे। जदी अणा राजा सु मालम करी के आप मारा बडा भाई हरसुलजी ने लष बुलावो सो आरो दुष काटे जदी राज कागद हरसुलजी रे नामे लष बुलाया जदी हरसुलजी आया अर छाने रही ने कही के आरा ड़ील में आवे ने मने खबर दीजो अर गोषड़ा वारी रो जाबतो राषजो असी नी वे जो पड़ लागे जदी कुवर रा डील मे ईकातरो आओ अर हरसुलजी ने षबर दी दी जदी हरसुलजी छाने आया अने आने चोटी पकड़ी ने

मारवा लागा जदी एकातरो बोल्यो मत मत मारो मुं कदी ऊभो ऊभो रेऊ नी अबे मने छोड़ दो। अठा पछै आ काणी आपरा नाम री सुणता ऊभो रेऊ नही अबे आपरी काणी केगा जठे मु ऊभो रेऊ तो मने मारा गुर गोवद रा सोगन हे अर आण है अर हरसुलजी री दवाई हे ईकातरो छोड़ भागो छोड़ भागो। ई सोगन षाअ ने भागो जठे वेठावे जी ऊठ के भागो रे भागो। समपुरण काणी केणी जठे हुकारो देणो नही जो जो सुणे जो आष सु आष मिलाअ काणी षरी करणी वार ७ आ काणी ईदरसीगजो बापण। री पोथी मु उतारी ✓ १९३६ रा आसोज दुजा सं. ६ भोमे।

—सहायक शोध अधिकारी, साहित्य संस्थान,
रा. वि. उदयपुर.

चित्तौड़गढ़ स्थित कुम्भश्याम मन्दिर

● गोपीलाल लोढ़ा

भारतीय मूर्तिकला के क्षेत्र में विष्णु के प्रख्यात अवतार वराह का अंकन कभी द्वार खम्भों पर, कभी दशावतार फलकों पर एवं कभी स्वतन्त्र रूप से भी प्राप्त होता है। मेवाड़ में वैष्णव धर्म ईसा की दूसरी शती पूर्व भी विकसित था। ईसा की द्वितीय शती पूर्व का एक शिलालेख[1] चित्तौड़ से ७ मील दूर नगरी (मजझमिका) नामक ग्राम से प्राप्त हुआ है जो अभी उदयपुर संग्रहालय में है। उक्त शिलालेख में भगवान विष्णु की पूजा, वैदिका तथा नारायण वाटिका नामक उद्यान के निर्माण का वर्णन है। पूजा-शिला से तात्पर्य उस शिला से है जो भगवान विष्णु का प्रतीक था एवं जिसकी पूजा मूर्ति के स्थान पर की जाती थी। पूर्वमध्ययुग में, विशेषकर प्रतिहारों के राज्य में वैष्णवधर्म का अधिक प्रचार हुआ, जैसा कि काल के साहित्य एवं अभिलेखों से भी ज्ञात होता है। इस काल में विष्णु के सभी अवतारों की अभिव्यक्ति मूर्तिकला में प्राप्त होती है। तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि विष्णु का 'वराह' अवतार लोगों को विशेष रूप से प्रिय था। इसके अतिरिक्त प्रतिहार सम्राट भोज (वि० सं० ९००-९३८) ने एक विशेष प्रकार की मुद्राएं जारी की थीं जिनके पुरो भाग पर वराह[2] का अंकन है जिसे 'आदिवराद द्रम्भ' कहा जाता है।

चित्तौड़ के प्रसिद्ध कुम्भश्याम का मन्दिर वास्तव में विष्णु के वराह अवतार से सम्बन्धित है। इस मन्दिर की भीतरी परिक्रमा के पिछली ताक में विष्णु के वराह अवतार को अंकित करने वाली मूर्ति है। इस मन्त्री के सभा-मण्डप की ताक में लगी हुई प्रतिमाओं की चौकी पर उत्कीर्ण शिलालेखों में "वि० सं० १५०५

---

१ एपिग्राफिया इण्डिका, भाग १६, पृष्ठ २७

२ डॉ० वासुदेव-प्राचीन भारतीय अभिलेख, पूर्वमध्ययुग में मुद्रालेख- पृष्ठ ४३४

माघ सुदी १५ बुधवार को राणा कुम्भा द्वारा प्रतिष्ठापित" करने का उल्लेख है, जिससे इस मन्दिर का निर्माता राणा कुम्भा को मानने में कोई संशय नहीं रहता। किन्तु यह संगत प्रतीत नहीं होता। विद्वान लेखक श्री रत्नचन्द्रजी अग्रवाल की मान्यता है कि कालक्रम की दृष्टि से इस मन्दिर का गर्भगृह, प्रदक्षिणापथ व उसके बाहर जंघा-भाग कालिकामाता मंदिर (आधुनिक सूर्य मन्दिर) चित्तौड़ के अनुरूप है।[1] अत: मन्दिर का निर्माण ९वीं शती (पूर्व मध्यकाल) में ही हो गया था। ऊपरी भाग का राणा कुम्भा ने कालान्तर में नवीनीकरण करवाया है। सम्भवत: अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण के समय इस मन्दिर को खण्डित कर दिया गया था। अत: इस विनष्ट मन्दिर के ऊपरी भाग को कुम्भा ने बनवाया। कीर्तिस्तम्भ की प्रशस्ति के अनुसार यह मन्दिर कैलाश पर्वत के समान सुन्दर, हिमालय जैसा प्रसिद्ध और स्वर्ण कलशों से युक्त होने से सुमेरू पर्वत सा श्रेष्ठतम मन्दिर प्रतीत होता है। स्थापत्य कला की दृष्टि से इसे संसार का किरीट[2] और चित्तौड दुर्ग का तिलक[3] माना गया है। इस मन्दिर के बाहरी ताकों में जो अनेक विष्णु की मूर्तियां ऊंचाई पर बनी हुई हैं। वे सब कुम्भा की कल्पना की परिचायिका हैं।

चित्तौड़ का यह भव्य मन्दिर सातबीस देवरी (जैन मन्दिर) के पश्चिम में स्थित है। समूचा मन्दिर पूर्वोन्मुख है। नागर शैली के शिखर से अलंकृत यह मन्दिर एक ऊंची जगती पर अवस्थित है। इसमें भूरे रंग के बलूआ पत्थर का प्रयोग किया गया है। मन्दिर में प्रवेश करते ही विष्णु के प्रमुख वाहन गरूड की मूर्ति दोनों हाथ जोड़े प्रतिष्ठित है। इस मन्दिर के गर्भगृह में कभी वराह की प्रतिमा पूजार्थ रही होगी।

मुख्य मन्दिर के प्रवेश द्वार पर बायें हाथ की ओर नृसिंह अवतार एवं दायें हाथ की ओर बराह अवतार की लघु प्रतिमाएं उत्कीर्ण है। सभामण्डप २० विशाल स्तम्भों से शोभायमान है। बीच के चार स्तम्भों के मध्य वर्गाकार एक चौकी बनी हुई है। बांये तरफ शिवपार्वती विवाह, रामलक्ष्मण, तुलसी-माधव तथा धागे की एक शिला में चार पंक्तियों में कृष्णलीला की झांकी को आयताकार फलक (५० ई० × २७ ई०) में दर्शाया गया है। सभामण्डप के दायें आलिंगन मुद्रा में रोही-दामोदर एवं कृष्ण-रुक्मणी की लेख-युक्त प्रतिमाएं छोटी ताक में प्रदर्शित है। उसके पास ही एक पट्टिका में शेषशायी विष्णु की प्रतिमा है जिसमें भगवान विष्णु शेषनाग की गड्डरी पर सोये हुए हैं एवं लक्ष्मी उनके चरण दबा रही हैं।

---

१ श्री रत्नचन्द्रजी अग्रवाल—वरदा, वर्ष ९, अंक ४ पृष्ठ ११–१४

२ हरविलास शारदा—महाराणा कुम्भा, पृष्ठ १४४

३ सर्वोर्वीतिलकोपमं मुकुटवच्छ्री चित्रकूटाचले।
कुम्भस्वामिन् आलयं व्यरचयच्छ्री कुम्भकर्णोनृप: ॥ (कीर्तिस्तम्भ प्र० श्लो० २८)

गर्भगृह के बाहर आमने सामने की ताकें खाली पड़ी है। दाहिनी ओर अष्टबाहु त्रिविक्रम का एक भव्य फलक जडा हुआ है, जिसके बायें हाथों में ढाल, खटवांग, शंख व घोड़े की लगाम पकड़ी हुई है तथा दायें हाथों में चक्र,गदा, तलवार व ज्ञानमुद्रा में है। इसी प्रकार बांयी ओर विष्णु के विग्रह नृसिंह का अष्टबाहु एक भव्य फलक है जिसमें नृसिंह भगवान को दोनों हाथों से हिरण्यकश्यप को विदीर्ण करते हुए दर्शाया गया है।

गर्भगृह की परिक्रमा करते समय दक्षिण दिशा की दीवाल में ९वीं शताब्दी की तत्कालीन सरस्वती की प्रतिमा स्थानक अवस्था में है जिसके दो हाथों में वीणा, दक्षिण हाथ में पुस्तक व वामवर्ती नीचे के हाथ में कमण्डल स्पष्ट है। इसी प्रकार उत्तरी दिशा में त्रिविक्रम का एक अष्टबाहु फलक खडा है जिसके बायें हाथों में ढाल, खटवांग, शंख व एक हाथ टूटा हुआ तथा दायें हाथों में चक्र, गदा, तलवार व ज्ञानमुद्रा में है। यहां भगवान वामन का विग्रह विराट रूप से दर्शाया गया है। स्तम्भ भाग पर नागकन्याओं की मूर्तियां भी अनेक स्थानों पर उत्कीर्ण है।

मन्दिर के बाह्य भाग में भी प्रासादपीठ एवं मंडोवर पर सुन्दर कलाकृतियां उत्कीर्ण है। बाहर के प्रधान ताकों में विष्णु के विभिन्न रूपों को अंकित करने वाली भव्य मूर्तियां हैं जो तत्कालीन कलाप्रेमियों की याद दिला रही हैं। दक्षिण भाग के पार्श्व में गरूडधारी विष्णु की प्रतिमा है जो अनन्त रूप में है। ठीक पीछे के पार्श्व में आठ हाथ की वैकुण्ठ प्रतिमा तथा उत्तरी तरफ १४ हाथ की अनन्त व १६ हाथ की त्रैलोक्यमोहन की प्रतिमाएं हैं।

जैसा कि ऊपर स्पष्ट है कि इस मन्दिर का गर्भगृह, प्रदक्षिणापथ तथा जंघा भाग तो पूर्वमध्ययुगीन अर्थात ९वीं सदी का बना हुआ है तथा इसके ऊपरी विनष्ट हुए भाग को राणा कुम्भा ने नवीन रूप प्रदान किया। बाह्यतम स्वतन्त्र जंघा भाग की विद्यमान प्रतिमाओं का उल्लेख प्रवेश के बांयी ओर से श्री रत्नचन्द्रजी अग्रवाल ने निम्नानुसार किया है:[1]

१— ब्रह्मा स्थानक-इनका बांया पैर खण्डित है।

२— अग्नि स्थानक

३— रामलक्ष्मण की धनुषबाण सहित प्रतिमाएं।

४— हरिहर-स्थानक अवस्था में। कला की दृष्टि से यह बडी आकर्षक है।

५— जटाधारी लकुलीश-द्विबाहु यह स्वतन्त्र प्रतिमा है। लकुलीश के वामहस्त में दण्ड व दक्षिणहस्त में बिजोरा है।

---

१ श्री रत्नचन्द्रजी अग्रवाल, वरदा, वर्ष ६, अंक ४, पृष्ठ ११-१४

६— नाग नागणी–इनके सिर पर सर्प के फण हैं।
७— षणमुख कार्तिकेय–स्थानक
८— दिग्पाल
९— पश्चिमी ताक में शिव पार्वती विवाह। पार्वती के आत्मसमर्पण का भाव और शिव का उन्हें सादर ग्रहण करने का दृश्य दिखाने में शिल्पी पूर्ण रूपेण सफल हुआ है। हिन्दू संस्कृति के अनुसार दोनों तरफ मंगल कलश एक दूसरे पर उत्कीर्ण है।
१०— वरूण स्थानक
११— यम स्थानक
१२— उत्तरी ताक में प्याला लिये युगल प्रतिमा।
१३— सिंहवाहिनी दुर्गा।
१४— स्थानक अर्द्धनारीश्वर–कला की दृष्टि से यह प्रतिमा बड़ी आकर्षक है।
१५— नृत्यमुद्रा में चामुण्डा।
१६— उत्तरी ताक के फर्श के पास स्थानक लक्ष्मीनारायण। लक्ष्मी का एक हाथ नारायण के कंधे पर व दूसरा खंडित। नारायण के दायें हाथ में गदा बायें में चक्र स्पष्ट है तथा शेष दो हाथ खण्डित है।
१७— दिग्पाल।
१८— महिषमर्दिनी–इसमें राक्षस का सिर कटा पड़ा है जिसमें से राक्षस निकल कर देवी से संघर्ष कर रहा है।

स्थापत्यकला के साथ-साथ इस देव भवन में अंकित अन्य उद्देश्यों से १५वीं शती के मेवाड़ के जनजीवन की झांकी प्राप्त होती है। इसके अध्ययन से तत्कालीन वेशभूषा, अलंकरण, केशप्रसाधन, वाद्ययन्त्रों आदि पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। कई-स्थानों पर पशु-पक्षी एवं वेलबूटों का अंकन बड़े विचित्र ढंग से उत्कीर्ण किया गया है। मन्दिर में उत्कृष्ट कलाकृतियों को मूर्तरूप देने का श्रेय सूत्रधार जड़ता तथा उसके पुत्रों–नापा, पोमा, पूंजा आदि को है। विजयस्तम्भ की पांचवीं मजिल में इन शिल्पियों की मूर्तियें भी बनी हुई हैं।

राणा कुम्भा ने स्वयं तो मन्दिरों आदि का निर्माण कराया ही, साथ ही दूसरों को भी इस दिशा में कार्य करने को प्रोत्साहित किया। यही कारण है कि उसके राज्यकाल में विभिन्न सम्प्रदायों एवं व्यक्तियों द्वारा भी मन्दिर निर्माण करवाये गये। इस मन्दिर के अनुरूप राणा कुम्भा ने कुम्भलगढ़ और अचलगढ़ में भी कुम्भश्याम नामक विष्णु मन्दिरों का निर्माण करवाया। राणा कुम्भा के समय बनाये गये मन्दिरों में चित्तौड स्थित यह भव्य मन्दिर अपने अस्तित्व को बनाये हुए दर्शकों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित कर रहा है।

—परिरक्षक, राजकीय संग्रहालय,
चित्तौड़गढ़

'सहजरामचन्द्रिका' सम्बन्धी कुछ और ज्ञातव्य

● डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित

'शोधपत्रिका' वर्ष २५, अंक १ में पृ० ६५ से ६७ तक 'विमर्श' खण्ड के अन्तर्गत, 'सम्मेलन पत्रिका' चैत्र-मार्गशीर्ष, शक १८९४ में प्रकाशित 'केशवदासकृत कविप्रिया की टीकाएँ शीर्षक हमारे लेख में कुछ संशोधनों के विचार से, श्रीयुत अगरचन्द नाहटा का 'सहजरामचन्द्रिका' सम्बन्धी विशेष ज्ञातव्य" शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है। नाहटा जी सजग शोधक हैं और पिछले २५ वर्ष से हम उनके निरन्तर सम्पर्क से यह भली प्रकार जानते हैं कि तथ्य की जानकारी के लिए वे सदैव तत्पर रहे हैं, अतएव हम उनके विचारों का आदर करते हैं और उनकी प्रतिक्रिया को उसी दृष्टि से हितावह और लाभकर मानते हुए उनके प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं कि उन्होंने उक्त लेख में बरती गयी हमारी असावधानी के प्रति हमारा और जिज्ञासु पाठकों का ध्यान आकर्षित किया। परन्तु हमारा यह भी नम्र निवेदन है कि असावधानी हमारी ओर से ही, केवल एकतरफा नहीं हुई है, स्वयं नाहटा जी भी अपनी सूचनाओं में इस लेख में कई जगह चूक गये हैं और इस तरह भ्रम की गुंजाइश कम न होकर उनके लेख से और भी बढ़ ही गयी है। इस सन्दर्भ में हम यहां नाहटाजी द्वारा कथित बातों का क्रमशः विचार करेंगे। उसके बाद नाहटा जी की प्रतिक्रिया फिर आये तो हम उसका स्वागत करेंगे और अपनी त्रुटियों को स्वीकार करने में फिर पीछे नहीं रहेंगे।

नाहटा जी की पहली आपत्ति हमारे इस कथन पर है कि 'सहजरामचन्द्रिका' टीका की सूचना पहली बार डॉ० हीरालाल दीक्षित ने अपने

शोध-प्रबन्ध 'आचार्य केशवदास' में दी। या सहजरामकृत टीका का पहले-पहल पता डॉ० हीरालाल दीक्षित ने लगाया। नाहटा जी की इस आपत्ति का कारण भी स्पष्ट है : 'हिंदी जगत् में इस टीका का विवरण सन् १९०४ की खोज-रिपोर्ट के द्वारा ही प्रकाश में आ चुका था। डॉ० हीरालाल दीक्षित को भी इस टीका की प्रतियों की जानकारी सन् १९०४ की खोज रिपोर्ट से ही मिली होगी।'

नाहटा जी ने अपने उक्त लेख में सभा के १९०४ के विवरण को पूरा का पूरा उद्धृत करके यह लक्षित कराना चाहा है, और यह बात उनके कथन '१९०४ की खोज-रिपोर्ट मेरे संग्रह में है' से भी प्रकट है, कि हमने यह विवरण नहीं देखा। सूचनार्थ निवेदन है कि हमने केवल१९०४का विवरण ही नहीं१९२३-२५का विवरण भी पढ़ा है और उन दोनों की पूरी जानकारी हमें लेख लिखने के समय भी थी अन्यथा हम उक्त लेख के पृ० २२० पर न तो १९२३-२५ की रिपोर्ट से अपने द्वारा उद्धृत 'सहजरामचन्द्रिका' के अंशों का अन्तर ही बता पाते और न पुनः पृ० २२३ पर सन् १९०४ तथा २३-२५ वाले खोज-विवरण का ही स्पष्ट उल्लेख करते और उद्धरण देते। दोनों विवरणों की सूचनाएं हमारे लेख में है अतः नाहटा जी के संग्रह में प्रस्तुत विवरण से कोई नयी बात हमारे लिए प्रस्तुत नहीं की जा सकती। और न इतनी अबोधता की आशंका ही हमसे हो सकती है कि दोनों का उल्लेख करके भी हम इतना न जानें कि इस विषय में पाला मारने व ला मीरी कौन है। साथ ही यह भी कि इन सूचनाओं को हमने तब भी पढ़ा था इसके प्रमाण अपने लेख के अतिरिक्त भी हमारे पास हैं। आवश्यकता होने पर दिये जा सकते हैं।

इन दोनों विवरणों की जानकारी के बावजूद हमने लेख में जो उक्त धारणाएं व्यक्त की हैं, उसके दो कारण हैं:—

१—सन् १९०४ की रपट में 'सहजरामचन्द्रिका' को सहजरामकृत अवश्य बताया गया है, किन्तु १९२३-२५ की रपट में उसका सहजरामकृत होना सर्वथा अमान्य घोषित कर दिया गया था। उसमें 'राम' कवि को लेखक मानकर सहजराम को उसके आश्रयदाता की स्थिति में रखा गया था। इससे सभा की रपट एक दूसरे को संदिग्धावस्था में उपस्थित करती हैं और स्पष्टतया कोई निर्णयात्मक स्थिति नहीं उभरती। बहुत हो तो बाद की रपट को ही महत्व दिया जा सकता है।

२—सन् १९०४ की रपट में अंग्रेजी में सूचित किया गया था—"There are two other undated mss. of this book in the library" किन्तु उसी के अन्त में हिन्दी में सूचित किया गया था—"इस ग्रंथ की दो प्रतिलिपियां इस पुस्तकालय में हैं।"

तीन और फिर दो प्रतियों का एक ही सांस में उल्लेख करने वाली यह रपट भी २३-२५ के विवरण में खण्डित कर दी गयी, जिससे इसका सूचना से अधिक महत्व न रहा।

हमने अपने लेख में उन बातों की चर्चा की है जो पुस्तकों में अधिकारिक रूप में प्रस्तुत की गयी हैं और पुस्तकों में पहला उल्लेख डॉ० हीरालाल दीक्षित ने ही किया है। उल्लेख ही नहीं किया, एक और तत्व की बात भी उन्होंने सामने रखी कि राजकीय पुस्तकालय काशी में वस्तुतः केवल दो ही प्रतियां थीं, जैसी कि सचमुच आज भी वे हैं, और डॉ० हीरालाल ने उक्त दोनों रपटों को बिना देखे ही उन प्रतियों को स्वयं देखा था। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में खोज रिपोर्टों के अतिरिक्त वाली प्रतियों के अन्तर्गत इनका विवरण दिया है। ऐसी स्थिति में यह तो नाहटा जी को वे ही बता सकते हैं कि "इस टीका की प्रतियों की जानकारी सन् १९०४की खोज रिपोर्ट से ही मिली होगी" कि नहीं,हमारे देखने में तो वे साफ नकारते हैं। अपनी सूचना में उन्होंने जो वर्णन किया वह भी १९०४ की रपट से कुछ भिन्न है और पहली बार दो प्रतियों में से एक की पूर्णता तथा दूसरी की अपूर्णता की सूचना देने के अतिरिक्त दोनों की प्रकाशक्रम से दी गयी पुस्तिकाओं के भेद को भी वह स्पष्ट करता है, जिसका कोई संकेत १९०४ की रपट में नहीं है। उनके अनुसार अपूर्ण प्रति में 'सहज राम चन्द्रिकायां बलि भद्र चन्द्रिकायां' आता है, जब कि पूर्ण प्रति में वह नहीं है और १९०४ की रपट में भी नहीं है। अतः हमारा कहना है कि डॉ० हीरालाल दीक्षित ने ग्रन्थ-लेखकों में अपनी आँख से देखकर आधिकारिक विवरण देने की वास्तविक पहल की है। आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के सन्दर्भ में भी खोज-रिपोर्ट में इसकी सूचना न होने से हमारा तात्पर्य 'आधिकारिक' और असदिग्ध सूचना न होने से ही है। अपने लेख में हमने अन्य टीकाओं के सन्दर्भ में पृ० २१६ पर और भी कई रपटों का उल्लेख किया है, अतः १९०४ की रपट न देखने का कोई कारण नहीं था। फिर भी, हमारे कथन से पाठकों को इस प्रकार का संदेह उत्पन्न होता है तो हम अपनी उस असावधानी के लिए क्षमा-प्रार्थी हैं।

नाहटा जी की दूसरी आपत्ति बीकानेर वंश के विषय में हमारे द्वारा टॉड कृत इतिहास-ग्रन्थ का उपयोग किये जाने के सम्बन्ध में है। वह हमें सर्वथा मान्य है, किन्तु उनके कथन "यदि वह ओझा जी का इतिहास ही देख लेते तो इतनी गड़बड़ी न होती" में 'देख लेते' की जो ध्वनि हमारे द्वारा प्रयत्न से बचने अथवा हमारे अज्ञान को उद्‌घाटित करने के भाव से प्रयुक्त हुई-सी जान पड़ती है उसके विषय में हमारा इतना ही निवेदन है कि पूना में हमें यह सुविधा सुलभ नहीं रही। अतएव टॉड का आश्रय लेना आवश्यक हुआ। उसका भी हमने वह संस्करण लिया है जो राय मुन्शी देवीप्रसाद जी, जोधपुर-निवासी के द्वारा संशोधित रूप में प्रस्तुत किया गया है और टॉड कृत अंग्रेजी के ग्रन्थ की अपेक्षा संशोधन के कारण अधिक उपयोगी है। हम 'अन्य ग्रन्थ देख लेते' नहीं, हमारे 'देखने में ग्रन्थ आ जाते' तो निश्चय ही इस प्रकार की आपत्ति का अवसर नहीं रहता। वैसे हमारा लक्ष्य यह प्रमाणित करना था कि गजसिंह बीकानेर-नरेश थे, आचार्य पं० विश्वनाथजी द्वारा कथित जोधपुर-नरेश नहीं थे और वह प्रमाण गलत नहीं है। हमने अपने पूरे लेख में यह सतर्कता बरती है कि सामग्री जहां से भी ली गयी है, उस सूत्र का उल्लेख कर दिया है। उसी क्रम में टॉड के इतिहास का उल्लेख भी है और उसकी त्रुटियों का विज्ञ पाठक सहज ही मार्जन कर

लेंगे। अच्छा होता कि जहां नाहटा जी और सन् संवत् ठीक कर रहे थे वहीं जोधपुर-नरेश गजसिंह के राज्यारोहण-काल तथा मृत्यु-काल के सन्-संवत् भी जांच-परख लेते, क्योंकि टॉड ने उनका राज्यारोहण-काल सं० १६७७ बताया है और दूसरे इतिहासकारों की दृष्टि से यह १६७६ होना चाहिए। इसी प्रकार टॉड ने उनकी मृत्यु सं० १६९४ में गुजरात के युद्ध में बताई थी और उनके संशोधक अपनी टिप्पणी में उन्हें आगरे में ज्येष्ठ सुदी १३ सं० १६९४ को दिवंगत हुआ मानते हैं और उसका कारण बीमारी बताते हैं।

नाहटा जी की तीसरी आपत्ति यह है कि हमने 'दलपतसिंह तथा सूरसिंह का नाम छोड़ दिया है और रायसिंह का राज्यकाल सं० १६८८ तक लिख दिया है।" वस्तुत: नाहटा जी ने इस बात पर ध्यान देना आवश्यक नहीं समझा कि हमने टॉड को ज्यों-का-त्यों उद्धृत करके उसके आगे 'सहजरामचन्द्रिका' की मूल पंक्तियों के आधार पर बीच के राजाओं के नामों की छानबीन भी की है और उसी क्रम में उसी इतिहास से पृ० ३७९ की संशोधन-स्वरूप दी गयी इस टिप्पणी को उन छूटे हुए नामों और तिथियों की पुष्टि के लिए उद्धृत किया है कि "कर्णसिंह तो रायसिंह के पोते थे और रायसिंह संवत् १६८८ में मरे थे। उनके चार बेटे दलपतसिंह, सूरसेन, किशनसिंह और भूपनसिंह थे। रायसिंह के पीछे दलपतसिंह गद्दी पर बैठे और संवत् १६७० में शाही सेना से लड़कर काम आये तब सूरसेन राजा हुए। उनका देहान्त सं० १६८८ में हुआ। उनके पीछे कर्णसिंह गद्दी पर बैठे थे।" इसी टिप्पणी के आधार पर हमने वहीं यह भी स्पष्ट कर दिया है कि "स्पष्ट है कि कर्णसिंह के पूर्व वर्णित सूरज और कोई नहीं सं० १६७० से १६८८ तक बीकानेर का राज्य करने वाले सूरसेन ही हैं।" और उक्त उद्धरण में भी "रायसिंह के पीछे ······ राजा हुए" वाक्य मोटे टाइप में दिया गया है ताकि सही बात ध्यान में आ सके। उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि टिप्पणी के आधार पर दलपतसिंह का राज्यकाल हमारे लेख से भी दो ही वर्ष ठहरता है और रायसिंहजी की मृत्यु भी सं० १६८८ में ही हमने भी उसमें दी है। दोनों बातें नाहटा जी को भी मान्य ही हैं। इसी टिप्पणी से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सूरसिंह—टॉड के सूरसेन ने १६७० से १६८८ तक राज्य किया। यह तिथियां भी नाहटा जी के अनुकूल ही हैं। नाहटा जी ने अपने लेख में लिखा है कि "सूरसेन राजा का नाम दिया, वहां सूर्यसिंह या सूरसिंह होना चाहिए।" हमारा निवेदन है कि टॉड और उनके संशोधक ने इतिहास में मूलरूप में जैसा नाम दिया उसमें परिवर्तन करने का अधिकार, उद्धरण देते हुए, हमको तनिक भी नहीं है। किन्तु 'सहजरामचन्द्रिका' की मूल पंक्तियों के पीछे चलकर हमने ही यह भी तो बताया है कि 'सूरज' ही 'सूरसेन' हैं। बात साफ है कि सूरज ही नाहटा जी के सूर्य सिंह हैं।

नाहटा जी की चौथी आपत्ति इस बात पर देखकर कि हमने 'सहजरामचन्द्रिका' को गजसिंह की मृत्यु के ६ (छह) वर्ष पूर्व रचा गया लिखा है, जबकि वह १० वर्ष पूर्व समझना चाहिए, हम स्वयं ही आश्चर्यचकित हैं कि हमारे लिखे और ठीक-ठाक छपे ९ (नौ) वर्ष को

नाहटाजी ने ही भूल से ६ पढ़ लिया है या पत्रिका के मुद्रकों ने उसका यह रूपान्तर कर लिया है। हमने तो ९ (नौ) वर्ष पूर्व ही माना था। 'सहजरामचन्द्रिका' की रचना शनिवार, विजयदशमी सं० १८३४ को हुई। नाहटाजी ने गजसिंह जी की मृत्यु की निश्चित तिथि नहीं दी अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि यह ठीक दस वर्ष पूर्व लिखी गयी थी या इधर-उधर। हां, सामान्यत: मृत्यु १८४४ में मानने पर १० वर्ष माने जा सकते हैं।

सन् १९२३–२५ की रपट के आधार पर अपने लेख में पृ. २२३ पर हमारी ओर से "विष्णुराम विख्यात विष्णुपुर नगर बसायो" पंक्ति उद्धृत की गयी है। उसके विषय में नाहटा जी का आदेश है कि उसमें क्रमश: बीकाराव और विक्रमपुर होना चाहिए। ठीक है, होना चाहिए, क्योंकि इतिहास से वही सच है, परन्तु नहीं रखा गया और न ही रखा जा सकता, इसलिए कि वैसा उस रपट में नहीं है और जो उसमें है, हम उसमें तोड़-मरोड़ कर ही नहीं सकते। उसकी प्रामाणिकता पर शंका की जा सकती है, मूल को नहीं बदला जा सकता। हमने भी उसे कहीं स्वीकृति नहीं दी, उसका केवल दिये गये पाठ के रूप में दूसरी पक्तियों के साथ उपयोग किया है। वस्तुत: उसके आगे की दो पंक्तियां ही वहां विवेच्य रही हैं और उनमें कोई गलती है भी नहीं। हम तो उस उद्धरण के देने से भी पूर्व पृ. २१६ पर ही अपने द्वारा देखे गये मूल ग्रन्थ के छन्द सं. ५, ६ के आधार पर 'विक्रमनगर' और मूल स्थापक के रूप में पहले ही बीका जी को स्वीकृति दे चुके हैं। रपट की पंक्तियां वंश-क्रम की प्रामाणिकता के लिए उद्धृत की गयी हैं, नगर की प्रामाणिकता के लिए नहीं। इस रपट का उपयोग तो हमने पृ. २१६-२२० पर सम्मेलन की प्रति के पाठ से भिन्नता दिखाने के लिए भी विस्तार से किया ही है किन्तु विष्णुपुर और विष्णुराम का पक्ष तो लेना दूर उनका हमने उल्लेख तक नहीं किया। हम उन्हें प्रामाणिक मानते तो ऐसा अवश्य करते। हां, नाहटाजी दिये गये पाठ को भी बदलने के विश्वासी हों तो वे ऐसा कर सकते हैं, हम उसके पक्षपाती नहीं हैं और तथ्य को तथ्य के रूप में ही प्रस्तुत करना उचित मानते हैं। लेख में हमने यह रपट उद्धृत नहीं की थी, किन्तु क्योंकि नाहटा जी रपट उद्धृत करने के ही पक्षपाती हैं और उन्होंने कहीं यह भी नहीं कहा है कि १९०४ की रपट के साथ साथ १९२३–२५ की रपट भी "उनके संग्रह में है" कि नहीं इसलिए यहां हम वह पूरी रपट ही उद्धृत किए दे रहे हैं :—

No. 344 Sahaja Rama chandrika (Kavipriya ki Tika) by Rama kavi of Vikramnagar. Substance–Country-made paper. Leaves–392. Size–12 × 6 inches. Lines per page–6. Extent–3,675 Anushtup slokas. Appearance–Good. Written in Prose and Verse. Character–Nagari. Date of Composition–Samvat 1834 or A D. 1777. Place of deposit–Pandit Rama Deva Bhatta, Village Nunara, Mauza Lamha, District Sultanpur (oudh).

Beginings :—

अथ नृप वंश वर्णनम् ।

विष्णुराम विख्यात विष्णुपुर नग्र बसायो ।

लौनकर्ण सूरज करन अनूप नृप सिंह सुजान सुजानिये ।

तेहि कुल जोरावर सिंह नृप पर दुख हरन बखानिये ।।

दोहा

सो जोराव पाट अब राजन भूप गजेश ।

दिन दिन दान उदार मति विलसत विभव विसेश ।।

कवित्त

गजै ना सकतु निरबल को सबल कोऊ

भंजि न सकत बली आनहू सुतन को ।

देव द्विज भाव माहा सरल सुभाव कहिये

पूरन प्रभाव रहै लक्षिमी रमन को ।।

कहै कवि राम जाको नाव नव खंडनि में

सुजस अखड महिमंडन वरन को ।

विक्रमनगर गजसिंह जू करत राज

शत्रुन को साल प्रतिपाल है सरन को ।।

दोहा

महाराज जगसिंह को नागर नजरि उदार ।

सहजराम जिहि नाम है सब बातनि रिझवार ।।

कवित्त

दिन दिन दूनी महराज गजसिंह जू की

सब तै सरस जिन ऊपर महर है ।

नाजर सहजराम बुद्धि को उजागर है ।

अति हित सागर है चित्त कौ सुघर है ।

कविन दाता गुण ज्ञाता बड़े ग्रंथनि को

जिनको विधाता दीनो धन नृपवर हैं ।

कहै कवि राम महि मंडल मैं ठाम

सुजस को धाम कौन जाकी सरवर है ।।७।।

दोहा

नाजर निरमल गंग सो बसत हिये उपकार ।

कथा कृष्ण–कीरति सुनत प्रीति–रीति निरधार ।।

सहजराम चित सहज ही यह उपज्यो उपजोग ।
कविप्रिया अति कठिन है नहिं समझत सब लोग ।।

चतुर नरन के बचन ते बढ़ी चढ़ी चित चाह ।
चित्र श्लेषनि के अरथ नीके करौ निबाह ।।१०।।

कवि सूरत टीका करी रही संत कवि पास ।
सहजराम नाजर सुघर कीन्हो जगत प्रकास ।।११ ।

संवत् अठदस सत वरष चौतीस चित धार ।
रची ग्रंथ रचना रुचिर विजैदशमि शनिवार ।।१२।।

सहजराम कृत चन्द्रिका धरचो ग्रंथ को नाम ।
पढ़त सुनत पंडित नरनि उर उपजत विश्राम ।।

End:- दोहा

इहि विधि केशव जानहू, चित कवित्त अपार ।
वर्णन पंथ बताइ मैं, दीनो बुद्धि असार ।।१९७।

सुबरण जटित पदारथनि भूषन भूषित मानि ।
कविप्रिया है कवि प्रिया कवि संजीवनि आनि ।।१९८।।

पल-पल प्रति अवलोकि कै सुनिबो गिनिबो चित्त ।
कविप्रिया मे रक्षियो कवि प्रिया ज्यों मित्त ।।१९९।।

अनिल अनल जल मलिन ते विकट खलन ते नित ।
कविप्रिया यों रक्षियो कवि प्रिया ज्यों मित ।।२००।

केशव सोरह हाव शुभ सुबरनमय सुकुमार ।
कविप्रिया के जानियो सोरहई शृंगार ।।२०१।। सुगम ।

सहजराम कृत चन्द्रिका शशि-चन्द्रिका समान ।
देखत ही संसय तिमिर प्रतिदिन करत पयान ।।२०२।।

इति श्री नाजर सहजराम विरचितायां कविप्रिया सटीका षोडसह प्रकाश ।।१६।।

इस विवरण के बाद विषय-वर्णन के निर्देश के लिए रपट में पृष्ठ संख्या सहित सोलहों प्रकाश की सूची मात्र दी गयी है, उसे हम यहां नहीं दे रहे हैं। यदि इस विवरण को ध्यान से देखा जाय तो यत्र-तत्र इसकी त्रुटित स्थिति और भ्रष्ट-पाठ तथा इसका हमारे द्वारा दिये गये सम्मेलन की प्रति के पाठ से अन्तर स्पष्ट हो जाएगा और यह भी कि हमने सम्मेलन के पाठ से जिस अन्तर की तुलना की है वह यही पाठ है। हम नहीं जानते कि फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि हमने ये विवरण नहीं पढ़े।

इस स्पष्टीकरण के बाद भी हम अपनी असावधानी, नाहटाजी जैसे सजग पाठकों को देखते हुए, खुले मन से स्वीकार कर लेते हैं और मानते हैं कि हमें कुछ और स्पष्ट वर्णन से काम लेना चाहिए था। परन्तु अन्त में नाहटाजी ने जो कुछ लिखा है उसे मानना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। नाहटाजी लिखते हैं :—

"अन्त में दीक्षितजी ने एक और गलती कर दी कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन की कविप्रिया की सूरतमिश्र की टीका को 'सहजराम चन्द्रिका' मान ली।........ वास्तव में उस प्रति का लिपिकाल का जो नाम छपा है, उसी से उनको भ्रम हो गया है।"

नाहटाजी के इस कथन के विषय में अब हम क्या कहें ? उन्होंने अपने लेख में अन्यत्र कोई असावधानी भले ही न बरती हो 'अन्त में' अवश्य 'एक गलती' कर दी और वह गलती मामूली नहीं है, नाहटाजी के प्रति खोज में विश्वास करके चलने वालों को सर्वथा बेसहारा छोड़ देती है। जब नाहटाजी ही ऐसी बात कहें तब कोई किससे पूछने जाय ?

हमें खेद है कि नाहटाजी ने इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझी कि हमने अपने लेख में सूरति मिश्र तथा सहजराम की कविप्रिया टीकाओं के तुलनात्मक अंश स्पष्टतया दिये हैं। उन्हें वे अपने सन्तोष के लिए लेख लिखने से पूर्व कम से कम बीकानेर की प्रतियों से ही मिला लेते या यह जानकारी ही करने का प्रयत्न करते कि किसी भी रपट या ग्रन्थ में 'सहजरामचन्द्रिका' के या सूरति मिश्र कृत टीका के वे अंश उद्धृत हैं कि नहीं जिन्हें हमने दिया है और यदि नहीं हैं तो वे आखिर आये कहाँ से और उनमें भेद कहां है, तो इस विवाद की आवश्यकता वे अनुभव न करते। नाहटाजी की सूचना के लिए कह दें कि ये अंश और लेख के पृष्ठ २२८—२२९ पर दिये गये संख्या ५ से १३ तक के कवित्त हमने सम्मेलन की उसी प्रति से अपनी आंख से देखकर दिये हैं जिसे नाहटाजी सूरति मिश्र की बता रहे हैं और कहते हैं कि हमने सूची में लिपिकाल देखकर ही उसे सहजराम कृत मान लिया है। इसके विपरीत सच यह है कि यदि सूरति मिश्र की टीका के नाम पर अंकित इस प्रति को हमने सम्मेलन में न देखा होता और उसे सूरति मिश्र कृत टीका से न मिलाया होता तो यह लेख ही अस्तित्व में न आया होता।

नाहटाजी ने इस बात पर भी ध्यान देने का कष्ट नहीं किया कि हमने १९२३-२५ की रपट से जो पाठ-भेद लक्षित कराया है वह किस आधार पर कराया होगा ? कदाचित् उनका अनुमान यह है कि हमने १९२३-२५ की रपट के आधार पर ही यह लेख लिख मारा है और इसी कारण उन्होंने अपने लेख में १९०४ की रपट तो उद्धृत की है १९२३-२५ की रपट के न तो उद्धरण ही दिये हैं न यही कहा है कि वह भी उनके 'संग्रह में है ? कि नहीं।

वास्तविकता यह है कि काशिराज पुस्तकालय में सुरक्षित 'सहजरामचन्द्रिका' की प्रतियों में वे अंश, जो हमने राजवंश तथा लेखक—परिचय के रूप में पृ० २१८—२१९ पर

उद्धृत किये हैं, है ही नहीं और इसी कारण न तो डॉ० हीरालाल दीक्षित इन दोनों बातों पर विचार कर सके थे और न आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसादजी मिश्र ही गर्जसिंह की सही स्थिति की सूचना दे सके थे। पण्डितजी को गर्जसिंह का संकेत और 'राम' कवि की सम्भावना का पता १९२३-२५ की रपट से ही लगा था। ये अंश या तो १९२३-२५ की रपट वाली प्रति में थे जो गांव नुनरा, मौजा लमहा, जिला सुल्तानपुर की है, काशिराज पुस्तकालय की नहीं, या फिर वे अमेठी राज्य, जिला सुल्तानपुर की उस प्रति में प्राप्त है जो सम्मेलन में सुरक्षित और यहां विवेचित है, या फिर वे बीकानेर वाली प्रतियों में हैं। हैं सब-जगह थोड़े-बहुत अन्तर के साथ ही।

नाहटाजी जिन बीकानेरी प्रतियों को अपने उक्त लेख में 'महत्वपूर्ण सूचना' के अन्तर्गत इस तरह उल्लेख में लाते हैं जैसे उन प्रतियों की जानकारी किसी अन्य को है ही नहीं, उन तीनों को हमने देख रखा है और उनमें से सं० १८३४ आश्विन सुदी शनिवार को ठीक रचनाकाल के दिन की ९७ पत्रों की नाहटाजी द्वारा कथित जिस प्रति का लिपिकार अज्ञात है, उसकी आरम्भिक पंक्तियां भी नीचे दी जा रही हैं। पाठक मिलान कर लें और यह जान लें कि यदि यह पंक्तियां सहजरामचन्द्रिका' की हैं तो उसी पाठ वाली सम्मेलन की प्रति किसी तर्क से सूरति मिश्र की नही हो सकती। इसका पाठ इस प्रकार है :—

श्री गणेशाय नमः। अथ कविप्रिया टीका सहजरामचन्द्रिका लिख्यते।

कवित।

नाम के लिये तें होत कारत सकल सिद्ध
रिद्धिनि की वृद्धि बनी रही बहु धाम में।
बंदन किये तें उर उपजैं अनंद महा
कटै भवफंद निसिदिन आठौं जाम मैं:
ध्यान के धरे तैं टरि जात हैं विघन वृंद
टरैं दुख दंद मन लगै सुभ काम मैं।
शंकर सु तन सुख संपत्ति करन सदा
ऐसे गनपति जू कों करत प्रनाम मैं ॥१॥

दोहा। सोरठा।

गरुडपाल गिरपाल गौरि गिरा गण ग्रहण गुरु।
पूजिहिं रूप रसाल वंदौं पग तिहिं जुगल के ॥२॥

अथ नृपवंश : वर्णनं

कवित्त। छप्पय

विक्रमराव विख्यात विक्कपुर नगर बसायो।
लोनकरण सुरज करण जैतसिंघ जगत सुहायो।

तिनके राव कल्याण कलानिधि सदृश कहिज्जै ।
रायसिंघ महाराज भोज ममोजल- णिज्जै ।
श्री सूर्य करण अनूप नृप सिंह गुजाण सुजानियै ।
तिहं कुल जोरावरसिंह जू पर दुख हरण प्रमानियै ॥३॥

दोहा

श्री जोरावर पाट अब राजत भूप गजेश ।
दिन दिन दान उदार मति विलसत विभव विशेष ॥४॥

अब नाहटाजी ही बतायें कि बीकानेरी इस, रचनाकाल के दिन की ही, प्रति से मेल खाने वाली सम्मेलन की प्रति, जिसका विस्तृत विवरण हमने दिया है, सम्मेलन की सूची में गलत तरीके से सूरति मिश्र के नाम पर दर्ज है और नाहटाजी का भी उसे सूरति मिश्र का बताना गलत है या हमारा यह कहना कि सम्मेलन की सूचना गलत है और वह प्रति वस्तुतः सहजरामचन्द्रिका की ही प्रतिलिपि है तथा सूची–प्रणेता ने रचनाकाल को लिपिकाल मान लिया है। हमारी अपनी समझ में तो अब यह बात बहुत साफ है कि न तो नाहटाजी ने 'सहजरामचन्द्रिका' की प्रति को स्वयं देखा है और न उन्होंने हमारे द्वारा दिये गये विस्तृत तुलनात्मक विवेचन को ही ध्यान से पढ़ा है। उन्हें यह जानने की भी उत्सुकता नहीं हुई कि आखिर हमने वह विवरण, जो इससे पहले कभी इतने विस्तार से कहीं नहीं दिया गया, कहां से, किस प्रति से दिया है। हमने अपने लेख में क्योंकि स्पष्ट रूप से कहीं यह नहीं कहा कि हम वह लेख स्वयं सम्मेलन की प्रति को देखकर लिख रहे हैं, इसलिए नाहटाजी ने समझा है कि हमने अनुमान मात्र से लिपिकाल को रचनाकाल मान लिया है। हमारे सामने तो अब यह भी स्पष्ट है कि उन्होंने सूरतिमिश्र कृत टीका भी नहीं देखी, जबकि हमने उसकी दो-दो प्रतियों का, और अभी तक केवल उतनी ही उपलब्ध भी हैं, पूरा मिलान किया है और लेख में उससे विस्तृत अंश भी दिये हैं। उन्हीं के बल पर तो हम हिन्दी जगत के सामने पहली बार यह बात रख सके हैं कि 'सहजरामचन्द्रिका' में सूरति मिश्र की टीका ही आधार रूप से गृहीत है और सहजराम ने केवल यत्र-तत्र जोड़-तोड़ की है। हम समझते हैं कि इस लम्बे विवरण पर ध्यान देने और पूरी सजगता के साथ दिये गये अंशों की तुलना करने पर पाठक समझ जायेंगे कि 'सहजरामचन्द्रिका' के विषय में नाहटाजी के इस लेख से भारी भ्रम उत्पन्न होने की सम्भावना है, क्योंकि उनका कथन चश्मदीद गवाही पर आश्रित न होकर जल्दबाजी में किये गये अनुमान और कल्पना पर आश्रित हैं।

अन्त में, हम यह भी सूचित कर दें कि सहजरामजी का जीवनकाल सूरतसिंह के काल तक भी था और उनके पास हरिचरणदास कृत विहारी सतसई की 'हरिप्रकाश टीका' की प्रति भी थी, जिसकी प्रतिलिपि अभी भी अनूप संस्कृत लाइब्रेरी में सहजराम की पोथी के स्पष्ट उल्लेख सहित सुरक्षित है।

हम अपने उक्त लेख में जिज्ञासु भाव से की गयी इस अपेक्षा का उत्तर पाने के अब भी इच्छुक हैं कि १–'सहजरामचन्द्रिका' में उल्लिखित वह संत कवि कौन था जिसके पास सूरति मिश्र की टीका सुरक्षित थी और; २–जिस बलिभद्र नागर का नाम इसकी एकाध प्रति में जुड़ गया है वह कौन था और यह भी कि, ३–गजसिंहजी की मृत्यु वस्तुतः गुजरात युद्ध में हुई थी या ज्येष्ठ सुदी १३ सं० १६६४ को आगरा में अस्वस्थता से ?

हम नाहटाजी के आभारी हैं कि उन्होंने लेख लिखकर हमें और अधिक स्पष्ट रूप में इस विषय में कहने का अवसर दिया। विद्वानों के द्वारा दिये गये निर्देशों का स्वागत करते और अपनी त्रुटियां मान लेने के लिए हम सदैव तैयार हैं।

आचार्य तथा अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,
पुणे विद्यापीठ, गणेशखिण्ड, पूना-

मध्य प्रदेश इतिहास परिषद-अधिवेशन अध्यक्षीय भाषण

[दिनाक १४-१५ दिसम्बर, १९७४ को जबलपुर में आयोजित मध्य प्रदेश इतिहास परिषद के अधिवेशन में दिया गया अध्यक्षीय भाषण]

● डॉ० रघुबीरसिंह

जिसने कभी स्नातकादि जैसी निम्न कक्षाओं तक के विद्यार्थियों के अध्यापन का साहस नहीं किया, उसे प्रदेश भर के सब ही विशिष्ट इतिहासज्ञों और विज्ञ संशोधकों के इस जबलपुर अधिवेशन की अध्यक्षता करने को आमंत्रित करना कहां तक उचित था? मेरी दृष्टि में तो अवश्य ही यह सदैव एक सर्वथा विचारणीय विषय ही बना रहेगा। इस सामान्य परिषद के एक भी अधिवेशन में मैं सम्मिलित नहीं हुआ था। पुन: मध्य प्रदेश इतिहास परिषद का क्रमांक १० वां अध्यक्ष बनना भी मुझे किसी प्रकार रुचिकर नहीं था। परन्तु इस परिषद की कार्यकारिणी और उसके जबलपुर अधिवेशन की स्वागत समिति के उन विशिष्ट सदस्यों के आग्रह को को अमान्य करने की धृष्टता करने का मुझे साहस नहीं हुआ; अतः उसे आदेश समझ कर ही विवशतापूर्वक स्वीकार कर लेना पड़ा।

सही शाही अंग्रेजी लिख सकने की अपनी अक्षमता मेरे लिये सदैव एक विषम समस्या रही है. जो लिखित अध्यक्षीय भाषण तैयार करते समय उत्कट रूप में उभरी थी। परन्तु मुझे जब स्मरण हो आया कि इसी परिषद के द्वितीय वार्षिक अधिवेशन का

उद्घाटन-भाषण भारत के सर्वप्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने हिन्दी में दिया था, तब मैंने भी अपना यह अध्यक्षीय भाषण हिन्दी में ही लिखने का निश्चय किया। मध्यप्रदेश सर्वथा हिन्दी-भाषी क्षेत्र है, अतः हिन्दी में कही गई बात सर्वसाधारण तक की समझ में आसानी से आ जाती है, तब ऐसे श्रोताओं के सम्मुख अपनी बात अंग्रेजी में कहने का का औचित्य अथवा अनिवार्य कदापि मेरी समझ में नही आई। अंग्रेजी भाषा के ग्रंथों में प्राप्य ज्ञान तथा उसमें सुलभ सारी आधार-सामग्री का अधिकतम उपयोग कर सकने के लिये जहां अंग्रेजी भाषा का भरपूर अध्ययन तथा समुचित ज्ञान मैं अनिवार्य मानता हुं, वहीं अपने वयोवृद्ध सुविज्ञ श्रोताओं पर अपनी अशुद्ध अंग्रेजी थोपने तथा दिनोंदिन अंग्रेजी से अधिकाधिक अनभिज्ञ होते जा रहे हमारे नवयुवक प्राध्यापकादि की समझ मे नहीं आ सकने वाली भाषा उन्हें सुनाने का दुहरा पाप करने को मैं तैयार नहीं हूं। अतः अपने इस प्रवर्तन के लिये परिषद के अधिकारियों के साथ ही साथ आप सबसे भी क्षमा-प्रार्थी हूं, क्योंकि यों मैंने एक सुस्थापित परम्परा को भंग किया है। अंग्रेजी में लिखे गये परिषद के विधान में अवश्य ही इस संबंधी कहीं कोई बाधा या सुस्पष्ट निर्देश नहीं है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रयोग के इस सन्दर्भ में अनायास ही इसी नगर के उस एकनिष्ठ अडिग योद्धा का स्मरण हो आता है, जो अपने जीवन के अंतिम क्षण तक तदर्थ एकाकी ही निरंतर जूझता रहा था। इस पिछली अर्द्धशती से भी अधिक काल तक अपने क्षेत्र प्रदेश और साथ ही भारतभूमि के इतिहास-निर्माण में सतत भरपूर योगदान देते हुए, जिसने भारतीय संसद में अपना विशिष्ट कीर्तिमान स्थापित किया और जो अब स्वयं स्मृतिशेष इतिहास बन गया है, उस अविस्मरणीय गोविन्ददास को इस अवसर पर आज यहां अपने बीच नहीं पाकर हम सबको विशेष खेद है।

भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के इस आधुनिकतम इतिहास का यह सूत्र हमें अनजाने ही ले पहुंचता है सवा चार सौ वर्ष पहिले इस क्षेत्र पर शासन कर रही उस सुविख्यात रानी दुर्गावती के इतिहास तक, जिसने मालवा के सुप्रसिद्ध प्रेमी सुल्तान बाज बहादुर को युद्ध में पराजित किया था, तथा भारत में मुगल साम्राज्य के संस्थापक महान अकबर की बलशाली चुनौती का भी दृढ़तापूर्वक सामना कर भारतीय नारी के साहस, शासनिक योग्यता, युद्ध-कौशल, वीरता और स्वाधीनता की वेदी पर बलिदान का अनोखा ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत किया था।

और अंत में सुध आती है यहां के पास-पड़ोस में ही निर्मित और सुशोभित ऐतिहासिक नगरी त्रिपुरी की, जो शताब्दियों तक बारंबार इतिहास में उद्भासित होकर पुनः अज्ञानांधकार में लुप्त होती रही है। अनेक वर्षों के सफल उत्खनन के बाद भी संभवतः उसका बहुत-कुछ महत्त्वपूर्ण इतिहास हजारों वर्षों से उस पर निरंतर चढ़ती रही मिट्टी के नीचे दबा पड़ा अब भी सूझ बूझ वाले उत्साही परिश्रमी पुरातत्त्वज्ञों द्वारा उत्खनन की प्रतीक्षा कर रहा हो।

जबलपुर अधिवेशन के इस स्मरणीय अवसर पर इस नगर व क्षेत्र की सब ही ज्ञात अथवा अज्ञात विभूतियों को मेरी सविनय श्रद्धांजलि।

× × ×

नये पुनर्गठित मध्य प्रदेश के साथ ही इस परिषद की स्थापना हुए अब पूरे अठारह वर्ष हो गये हैं। कई नये विश्वविद्यालयों और अनेकानेक स्नातक अथवा स्नातकोत्तर महा-विद्यालयों की स्थापना के फल-स्वरूप इतिहास के अध्ययन तथा ऐतिहासिक शोध-कार्य के लिये कुछ प्रोत्साहन और विशेष प्रेरणा मिलना स्वाभाविक ही है। परन्तु 'मध्य-प्रदेश इतिहास-परिषद' को इन सबका कुछ भी विशेष लाभ मिला हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता है। यदा-कदा होने वाले इसके वार्षिक अधिवेशनों में न तो प्रदेश भर के बहुसंख्यक इतिहासज्ञ प्राध्यापकों आदि की कोई विशेष रुचि जान पड़ी है, और न वे पर्याप्त संख्या में ही उनमें कभी सम्मिलित होते दिखाई दिये हैं। इसके विपरीत हमारे पड़ोसी छोटे राज्यों तक की प्रादेशिक इतिहास परिषदें कहीं अधिक उत्साही, सक्रिय और नियमित हैं। इसके वार्षिक प्रकाशन (जनरल) का भी कोई विशेष प्रचार या प्रसार ज्ञात नहीं हुआ है। इसकी प्रतियां प्रदेश के विभिन्न विश्वविद्यालयों व विशिष्ट बड़े महाविद्यालयों के पुस्तकालयों में नियमित रूप से पहुंचती हैं या नहीं, यह विशेष खोज या अधिक जांच-पड़ताल का विषय है। इधर पिछले तीन-चार वर्षों से इसकी इनी-गिनी गति-विधियों में भी कुछ विशेष शिथिलता ही देख पड़ती है। अतः अब यह अत्यावश्यक हो गया है कि 'मध्यप्रदेश इतिहास-परिषद' के अब तक के सब ही आयोजनों तथा उसकी विशिष्ट उपलब्धियों आदि का उचित मूल्यांकन कर उनके मुख्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिये वर्तमान परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में उसकी भावी गति-विधियों अथवा कार्य-क्रमों को पुन-र्व्यवस्थित किया जावे।

आज के इस विशेष अवसर पर ऐतिहासिक अध्ययन कर शोध, तथा उनके साधन व उपलब्धियों, आदि की चर्चा और उपयुक्त विवेचन सर्वथा अनिवार्य हो जाते हैं। इधर पिछले कुछ वर्षों से मालवा प्रदेश के कई प्राचीनतम स्थलों में हो रही खोज और खुदाई के विभिन्न आयोजनों तथा कार्यक्रमों के जो अतीव महत्त्वपूर्ण परिणाम इस वर्ष में प्राप्त हुए हैं, उनकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है? यहां यह दुहराना अनावश्यक ही जान पड़ता है कि इन ऐतिहासिक उपलब्धियों का विशेष श्रेय उज्जैन के सुविख्यात अथक खोजी डॉ० व्ही० एस० वाकणकर को ही है।

इन्दौर के आज़ाद नगर (स्वाधीनता प्राप्ति से पूर्व के इन्दौर छावनी) क्षेत्र की जनवरी, १९७४ ई० में की गई खुदाई के फलस्वरूप अब से कोई चार हजार वर्ष पूर्व तक के वहां के विगत इतिहास पर नया प्रकाश पड़ा है। उसका जो सचित्र विवरण प्रकाशित

किया जाने वाला है, उसकी उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा रहेगी। नरसिंहपुर जिले के देवकछार और बरमानघाट क्षेत्रों में जनवरी, १९७४ ई० में क्रमश: मानव की जांघ की हड्डी तथा मानव खोपड़ी के कुछ टुकड़े अर्द्ध शिलीभूत अवस्था में पाए गए हैं। परन्तु होशंगाबाद जिले में अपने प्राचीनतम भित्ति चित्रों आदि के लिये विश्व-विख्यात भीम बैठका की गुफाओं में प्रौढ़ आदि-मानव की अंशत: शिलीभूत खोपड़ी और अन्य हड्डियों का मिलना ही भारतीय प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व की इस शताब्दी की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उल्लेखनीय उपलब्धि है, है, जिससे शिलीभूत मानव विषयक विश्व के मानचित्र में भारत का भी नाम प्रथम बार लिखा जा सकेगा।

यह संतोष का विषय है कि मध्यप्रदेश राज्य-शासन ने अपने राजकीय पुरातत्व विभाग को पुनर्व्यवस्थित कर उसे अधिकाधिक सक्रिय बनाने का आयोजन किया है। पुन: मालवा प्रदेश के अति प्राचीन नगर दशपुर (वर्तमान मंदसौर) के उपयुक्त स्थलों की खुदाई का जो निर्णय लिया गया है, उसका सधन्यवाद विशेष स्वागत है, क्योंकि उसके परिणाम अवश्य ही बहुत महत्त्वपूर्ण होंगे, और उनसे दशपुर क्षेत्र के साथ ही मालवाभूमि के अति प्राचीन काल तक के इतिहास पर बहुत कुछ नया प्रकाश पड़ने की आशा की जा सकती है।

इस लम्बे-चौड़े वर्तमान मध्यप्रदेश में यत्र-तत्र पाये जाने वाले सैंकड़ों महत्त्वपूर्ण प्राचीन शिलालेख पिछले सौ बर्षों से भी अधिक काल में ढूंढ-ढूंढ कर निकाले गये और उसका अध्ययन कर उनके सुसंपादित पाठ समय-समय पर प्रकाशित होते रहे हैं, जिनमें यहां के प्राचीन इतिहास की बहुत सी महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक जानकारी प्राप्त हुई, तथा इन विभिन्न ऐतिहासिक भूभागों के इतिहासों को क्रमबद्ध कर सकना सम्भव हुआ है। यहां के मध्य-कालीन विशिष्ट नगरों में पाए जाने वाले अनेकों फारसी शिलालेखों के सुसम्पादित पाठ भी प्रकाशित हुए हैं। परन्तु इन सारे शिलालेखों की संख्या इतनी अधिक तथा उनके प्रकाशित पाठों के संदर्भ इतने अधिक बिखरे हुए हैं कि सुविज्ञ संशोधक के लिये भी उन सब की अत्यावश्यक पूरी-पूरी जानकारी अति दुष्कर है। अतएव उनके प्रकाशन-संदर्भों के सुस्पष्ट उल्लेखों सहित उन सारे प्रकाशित शिलालेखों की पूरी सूची तैयार कर उसको प्रकाशित कर दिया जावे, तो वह संशोधकों के लिये बहुत ही सहायक उपयोगी संदर्भ ग्रंथ बन जावेगा।

यह एक कठोर सत्य है कि उत्तर-मध्यकाल अथवा पूर्व-आधुनिक काल में हिन्दी या क्षेत्रीय बोली में लिखे गये जो हजारों शिलालेख मध्यप्रदेश में यत्र-तत्र मिलने हैं, उनकी ओर अब तक अत्यावश्यक समुचित ध्यान नहीं दिया गया है। उनके महत्त्व तथा समुचित उप-योग की विशिष्ट सम्भावनाओं को समझने की किसी ने भी नहीं सोची है। 'इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस' के ग्वालियर (१९५२ ई०) अधिवेशन के प्रादेशिक विभाग के अपने अध्यक्षीय भाषण में मैंने सोदाहरण बताया था कि "कई बार बिलकुल ही साधारण-से नगण्य जान जान पड़ने वाले शिलालेखों का सूक्ष्म अध्ययन अखिल भारतीय दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण ऐसी

घटनाओं की सही तारीखें या ठीक-ठीक काल क्रम निर्धारित करने में भी बहुत ही उपयोगी सिद्ध हो सकता है, जो उस क्षेत्र विशेष से सैंकड़ों मील दूर घटी थीं।" पुनः पूर्व-आधुनिक काल तक के क्षेत्रीय इतिहास संबंधी प्रामाणिक आधार-सामग्री का प्रायः सर्वत्र अभाव ही पाया जाता है, किन्तु स्थानीय विशिष्ट पुरुषों व राजघरानों या उनके राज्यों के इतिहास को यथासंभव अधिकतम जाने बिना उस क्षेत्र विशेष के राजनीतिक इतिहास की सही क्रम-बद्ध रूपरेखा कदापि तैयार नहीं हो सकती है, जिसके बिना उस क्षेत्रीय इतिहास के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आदि पहलुओं पर प्रामाणिक रूप से कुछ भी लिख सकना कदापि सम्भव नहीं हो सकेगा। क्षेत्रीय राजनैतिक इतिहास के उन अन्तरालों को यत्किंचित् भी पूरा करने या तत्कालीन घटनाओं, वहां के शासकों आदि विषयक जानकारी तथा उनके काल सम्बन्धी सन्-संवतों को प्रामाणिक रूप से निश्चित करने में ये शिलालेख विशेष उपयोगी हो सकते हैं।

यही नहीं, ऊपरी दृष्टि से सर्वथा नगण्य और स्थानीय दृष्टि से सर्वथा नगण्य और स्थानीय दृष्टि से भी विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं जान पड़ने वाले इन उपेक्षित शिलालेखों से भी कई बार ऐसी विशेष उपयोगी जानकारी मिल जाती है, जिसका सीधा उल्लेख उस काल सम्बन्धी उद्देशीय किसी भी इतिहास में अथवा कहीं भी अन्यत्र कदापि नहीं मिल सकेगा। इसका एक विचारणीय उदाहरण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है। रतलाम जिले के शेजा-वता गांव की एक बावड़ी के संवत १७२७, कार्तिक सुदि ५ (अक्तूबर ९, १६७० ई०) के शिलालेख में सर्वप्रथम केवल 'दलीपती नवरंगजेब जी लिखा है, और सीतामऊ में एक गोसांई की समाधि के संवत् १७३४, जेठ सुदि १ (मई २३, १६७७ ई०) के लेख में भी एक मात्र 'पातसाह श्री उरंगसाह जी' का नाम है। परन्तु इसी क्षेत्र के अनेकों वर्षों बाद में लिखे गये शिला-लेखों में मुगल सम्राट के नाम के साथ ही मेवाड़ के महाराणा के नाम भी अंकित मिलते हैं, यद्यपि इस क्षेत्र विशेष का मेवाड़ राज्य से तब कहीं किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं था। यों सीतामऊ से कोई १० मील दक्षिण पूर्व में चंबल और क्षिप्रा नदियों के संगम पर बने घाट पर सं० १७५७ आषाढ़ सुदि २ (जून ७, १७०० ई०) के शिलालेख में 'पात साह श्री अरंग साह जी राणा जी अमरसिंह जी' नाम साथ-साथ लिखे मिलते हैं। इसी प्रकार सीतामऊ के बड़े मठ में लगे हुए सं० १७६१, जेठ वदि १० (मई १७, १७०४ ई०) और संवत् १७७४, कार्तिक सुदि १५ (अक्टूबर २८, १७१८ ई.) के शिलालेखों में भी मुगल सम्राट और मेवाड़ के महाराणा के नाम साथ-साथ क्रमशः लिखे गये। तब अक्टूबर ३१, १७०१ ई० में सद्यः स्थापित सीतामऊ राज्य के शासक, केशव-दास का नाम इन दोनों नामों के बाद ही उन दोनों शिलालेखों में लिखा गया।

अब प्रश्न यह उठता है कि तब वहां मुगल सम्राट के नाम के साथ ही क्यों एकाएक यों मेवाड़ के महाराणा का नाम भी साथ-साथ शिला-लेखों में लिखा जाने लगा था? क्या यह सम्भव नहीं है कि औरंगजेब की धर्मांधतापूर्ण नीति के विरुद्ध सन् १६७९ ई० से निरंतर

बढ़ती हुई हिन्दुओं की भावनात्मक प्रतिक्रिया के कारण ही हिन्दू जनसाधारण का ध्यान अनायास ही तत्कालीन 'हिन्दुआ सूरज' मेवाड़ के महाराणा की ओर आकर्षित ही नहीं हुआ, किन्तु उन्होंने उसके प्रति विशेष आत्मीयता अनुभव की तथा अपने शिलालेखों में उसके नाम के अनिवार्य उल्लेखों द्वारा भी उसे सुस्पष्ट मूर्तरूप दिया था ? मालवा के इन्हीं सारे पड़ोसी क्षेत्रों के ऐसे ही तत्कालीन अन्य शिलालेखों की विस्तृत खोज और उनकी गहरी जांच पड़ताल के बाद ही इस सम्बन्ध में कोई निश्चित धारणा बनाई जा सकेगी।

केन्द्रीय शासन के बारंबार आग्रह तथा इतिहासज्ञों और संशोधकों की निरंतर प्रार्थनाओं की सतत उपेक्षा, बरसों की हिचकिचाहट अथवा सयत्न टालमटोल के बाद अन्त में इस वर्ष मध्यप्रदेश राज्य-शासन ने भोपाल में मध्यप्रदेश के राजकीय अभिलेखागार को स्थापित करने का जो स्तुत्य निर्णय लिया है, उसके लिये माननीय मुख्य-मन्त्री और राज्य-शासन हमारे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं। परन्तु इतिहासज्ञों और संशोधकों को पूर्ण सन्तोष तब ही होगा जब यह राजकीय अभिलेखागार सुचारू रूपेण व्यवस्थित ही नहीं हो जावेगा, परन्तु वहां संग्रहीत आधार-सामग्री नियमानुसार सुविधापूर्वक उन्हें सुलभ भी हो सकेगी। उस सुदिन की समुत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा रहेगी।

इस सन्दर्भ में यह चेतावनी देना अत्यावश्यक जान पड़ता है कि विभिन्न अभिलेख-संग्रहों को उनके वर्तमान संग्रह स्थानों-से भोपाल में अथवा इस नये अभिलेखागार में स्थानांतरित करते समय पूरी-२ सावधानी बरती जावे, जिससे उनके वर्तमान व्यवस्थित क्रम भंग नहीं हो जावे, वरना बाद में उन्हें पुन: उसी सही क्रम में व्यवस्थित करना बहुत कठिन हो जावेगा। पुन: इस महत्त्वपूर्ण वृहत् अभिलेखागार को प्रारम्भ से ही सही रूप में आयोजित कर उसे तदनुसार ठीक ढंग से सयत्न ऐसा सुव्यवस्थित किया जावे कि तमिलनाडू के सुप्रसिद्ध पुरालेख-संग्रह की ही तरह इसकी भी गणना देश के श्रेष्ठ अभिलेखागारों में होने लगे, जो मध्य प्रदेश के लिये विशेष गौरव की बात होगी।

परन्तु पूर्ववर्ती भारतीय देशी राज्यों तथा अंग्रेजों द्वारा सीधे शासित क्षेत्रों, प्रांतों आदि के प्राप्य तत्कालीन सारे पुरालेखों के समूचे संग्रहों को यों एकत्रित और सुव्यवस्थित कर नव संस्थापित इस प्रादेशिक अभिलेखागार तथा नई दिल्ली में स्थित उसके परिपूर्वक बहुत ही समृद्ध राष्ट्रीय अभिलेखागार में सुरक्षित सारे सम्बंधित पुरालेखों को मिला कर यों सुलभ बहुत अधिक आधार-सामग्री को भी किसी तरह परिपूर्ण नहीं माना जा सकता है।

भूतपूर्व देशी राज्यों के अधिकतर महत्त्वपूर्ण कागज-पत्र, सनदें, आदि तत्कालीन परम्परानुसार राजकीय पुरालेख-संग्रहों में नहीं रखे जाते थे। विभिन्न प्रकार के ऐसे सैंकड़ों हजारों पुरालेख अब भी तत्कालीन शासकों या उनके प्रमुख राज्याधिकारियों के निजी संग्रहों में हैं। परन्तु निरन्तर बदलती हुई वर्तमान परिस्थितियों में ऐसे ऐतिहासिक कागज-पत्रों तथा महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक आधार-सामग्री के इन संग्रहों का भविष्य निश्चित रूपेण बहुत ही

अंधकारपूर्ण हो गया है, अतएव उनके उद्धार, संग्रह तथा समुचित संरक्षण की समस्या तो दिनोदिन अधिकाधिक राष्ट्रीय महत्त्व की बनती जा रही है। ऐसे संग्रहों में प्राप्य पुरालेखों सम्बन्धी जानकारी एकत्र करने के हेतु ही मध्यप्रदेश राज्य द्वारा संगठित 'क्षेत्रीय अभिलेख सर्वेक्षण समिति' के प्रयत्न नाम-मात्र को भी सफल नहीं हो रहे हैं, यह वस्तुत: हम सब ही के लिए बहुत खेद और लज्जा का विषय है। मेरी बारंबार की अभ्यर्थनाओं तथा आग्रहों के उत्तर में मुझे यही कहा गया है कि इस प्रकार के आर्थिक लाभ-रहित निरुत्तेजक कामों में आज-कल के नवयुवकों की यत्किंचित भी रुचि नहीं है, अत: उन्हें उधर प्रवृत करना बिल्कुल ही सम्भव नहीं है। किन्तु व्यक्तिगत रूप से मैं इस कथन से किसी प्रकार भी सहमत नहीं हूं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि ज्ञान-साधना के लिये समुत्सुक सुयोग्य नवयुवकों का कदापि अभाव नहीं है। या तो ऐसे उपयुक्त नवयुवकों को पहिचानने व उन्हें खोज निकालने की अत्यावश्यक दृष्टि हम खो बैठे हैं, अथवा स्फूर्ति-दायक साधना व ज्ञान-शक्ति का हम में ऐसा नितांत अभाव हो गया है कि ऐसे संभाव्य ज्ञान-साधनोत्सुक समुत्साही सुयोग्य नवयुवकों को आकर्षित कर उन्हें हम तदर्थ समुचित प्रेरणा नहीं दे पा रहे हैं। आज जब मुझे यह सुअवसर मिला है, तब मैं नवयुवक इतिहासज्ञों और समुत्साही संशोधकों का ध्यान राष्ट्रीय महत्त्व के इस अत्यावश्यक महत् कार्य की ओर आकर्षित कर उसे सम्पन्न करने में अपना भरसक सहयोग देने के लिये उनको सीधा ही आमंत्रित करता हूं।

प्रादेशिक अथवा क्षेत्रीय राजनैतिक इतिहास के विस्तृत अध्ययन के साथ ही वहां के इतिहास के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पहलुओं पर विशेष ध्यान देने के लिये आज कल सर्वत्र जो अत्यधिक आग्रह है, उसी से प्रेरित होकर इन दिनों यत्र-तत्र तदर्थ प्रयत्न किये जा रहे हैं, जो सुज्ञात हैं। परन्तु उन उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु अत्यावश्यक आयोजनों को क्रियान्वित करने तथा उपयुक्त आधार-सामग्री अथवा सहायक ग्रंथादि की खोज और सग्रह आदि की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा है। उस हेतु किसी प्रकार के प्रयत्न किये जाने की भी कोई सम्भावना नहीं देख पड़ रही है।

वर्तमान नये मध्यप्रदेश का पुनर्गठन करते समय कई एक ऐसे अलग-अलग भू-भागों को सम्मिलित कर दिया गया था, जिनकी राजनैतिक परम्पराएं, ऐतिहासिक विकास-क्रम, बोली-चाली, रहन-सहन, सांस्कृतिक परिस्थितियां, सामाजिक आदर्श व मान्यताएं और आर्थिक संबंध आदि अनेकों शताब्दियों तक सर्वथा भिन्न ही रहे थे। यों एकाएक सम्मिलित उन सारे विभिन्न भू-भागों को ऐसे खाद्य: स्थापित राज्य की एक सुसम्बद्ध इकाई के रूप में लेकर उन सब ही का कोई सामूहिक प्रादेशिक इतिहास लिख सकना साधारणतया सम्भव नहीं है। अतएव अनिवार्य रूपेण प्रत्येक का अलग-अलग इतिहास लिखने तथा उनके उपर्युक्त विभिन्न पहलुओं पर कोई प्रमाणिक समुचित शोध कर सकने के वास्ते उन सब ही ऐतिहासिक भू-भागों की निरन्तर बदलती हुई किंतु सुज्ञात सीमाओं को सयत्न खोज कर उन्हें पूरी तरह समझ लेना अनिवार्य हो जाता है। किंतु दुर्भाग्यवश हमारे यहां ऐति-

हासिक भूगोल एक सर्वथा उपेक्षित अध्ययन-क्षेत्र ही रहा है। तदर्थ आवश्यक साधन-सामग्री तथा सुविधाओं की दुर्लभता भी इस दुरूह विषय के कष्टसाध्य अध्ययन में विशेष बाधक हुई है। किन्तु ऐतिहासिक शोध के सन्दर्भ में उसकी अनिवार्यता को पूरी तरह समझ कर उसकी ओर अधिकतम ध्यान देना होगा।

इस बात पर कदापि दो मत नहीं हो सकते हैं कि प्रादेशिक अथवा क्षेत्रीय इतिहास के अध्ययन, शोध और विवेचन का मुख्य केन्द्र-बिन्दु क्रमश: वह प्रदेश या क्षेत्र विशेष ही होना चाहिये, और तब उससे सर्वथा असम्बद्ध अथवा उसे यत्किंचित् भी प्रभावित नहीं करने वाली अखिल भारतीय महत्त्व तक की घटनाएं सर्वथा गौण हो जाती हैं। अत: तद्विषयक शोध-कार्य के लिये उपयुक्त आधार-सामग्री की खोज और अत्यावश्यक जानकारी का संग्रह भी उसी विशिष्ट उद्देश्य तथा दृष्टिकोण से किया जाना चाहिये।

यह तो सुस्पष्ट है कि शासकीय पुरालेख संग्रहों से सुलभ आधार-सामग्री में केवल शासकीय दृष्टिकोण तथा उसी पक्ष की ही बात मिलती है, अत: सुविज्ञ संशोधक के लिये विश्वसनीय अशासकीय आधार-सामग्री की खोज, उसका अध्ययन और उपयोग अनिवार्य हो जाता है। व्यक्तिगत संग्रहों में सुरक्षित ऐसी आधार-सामग्री विषयक सूचनाओं के संकलन के सम्बन्ध में कहा जा चुका है। पुन: ऐतिहासिक घटनाओं तथा समकालीन जीवन व संस्कृति के मूलभूत पंजर को मांस-मज्जा दे सकने वाला हिन्दी आदि प्रादेशिक भाषाओं तथा क्षेत्रीय बोलियों में उसी समय या कुछ काल बाद लिखा गया साहित्य, जो आज भी पूर्णतया हस्तलिखित ग्रन्थों में ही सुलभ है, अनिवार्यरूपेण अध्ययनीय है।

मध्यप्रदेश में सर्वत्र बिखरी हुई यह अनमोल सांस्कृतिक तथा साहित्यिक निधि स्वाधीनता प्राप्ति के रजत-जयती-वर्ष के बाद भी अब तक पूर्णतया उपेक्षित अथवा सर्वथा विस्मृत धूल-धूसरित लाखों दीमकों का उदर-पोषण कर रही है, या रद्दी के मोल बिक कर पंसारियों के उपयोग में आ रही है। 'मध्यप्रदेश साहित्य अकादमी' के विधान का प्रारूप तैयार करने को गठित शासकीय उस समिति और 'मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन' की तदर्थ सम्पर्क-समिति की जून ११, १९६५ ई० की सम्मिलित बैठक में मध्यप्रदेश में प्राप्य प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, संग्रह, संरक्षण, संपादन और प्रकाशन आदि का आयोजन करने का काम भी 'मध्यप्रदेश साहित्य अकादमी' को सौंपने विषयक मेरा प्रस्ताव स्वीकृत हो गया था। परन्तु उक्त संस्था की स्थापना का समूचा आयोजन ही पूर्णतया स्थगित या समाप्त हो गया, और उसके बाद आने-जाने वाले किसी भी मंत्री-मंडल का ध्यान उस ओर नहीं गया है। किंतु बीतते समय के साथ ही हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, संग्रह और समुचित संरक्षण की समस्या अधिकाधिक उत्कट, बहुत ही गम्भीर और सर्वथा अविलम्बनीय होती जा रही है। अत: मैं आज इस प्रश्न को विशेष रूप से यहां उठा रहा हूं कि उसकी ओर शीघ्रातिशीघ्र ध्यान दिया जा सके। ऐसे सांस्कृतिक व साहित्यिक निधि-संग्रहों की

सुव्यवस्था आदि विषयक अपने महत्त्वपूर्ण उत्तर-दायित्त्व को क्या कोई भी जन-तंत्रीय समाजवादी शासन अस्वीकार कर सकता है ?

इन दुःखद प्रसंगों की चर्चा करते-करते मैं अनायास ही इतना अधिक अभिभूत हो गया हूं कि भरसक प्रयत्न करने पर भी अपने मस्तक में बरसों से घनीभूत हो रही पीड़ा को अब उमड़ने से नहीं रोक पा रहा हूं। अपने मन की निरन्तर बढ़ रही उस उत्कट व्यथा को यहां आपके सम्मुख इसी आशा से उंडेल रहा हूं कि कदाचित् आप सब भी उसके सुस्पष्ट दुःखद कारण को दूर करने में अत्यावश्यक सहयोग देवें। आज देश के साथ ही प्रदेश में सर्वत्र अनेक प्रकार के जो संकट व्याप्त हैं, उनमें सबसे शोचनीय तथा घातक संकट है, शिक्षा के पवित्र क्षेत्र में भी भ्रष्टाचार का प्रवेश और उसका सतत बढ़ता प्रस्तार, जो राष्ट्र की आधार-भूत भावी आशाओं के मूल तक को विषाक्त कर रहा है।

कुछ ही सप्ताह पहिले एक पड़ोसी राज्य के एक सुज्ञात परंतु अब व्याधि-ग्रस्त विश्वविद्यालय का जो विवरण भारत भर में अधिकतम प्रसार वाले एक सुविख्यात अंग्रेजी साप्ताहिक में प्रकाशित हुआ था, उससे शिक्षा के निरंतर गिरते जा रहे स्तर और छात्रों में नित्य प्रति बढ़ती जा रही अनुशासन-विहीनता के कारणों आदि पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। परीक्षाओं के विशेष आर्थिक लाभप्रद धंधे के रूप में जो वाणिज्यवाद शिक्षा के क्षेत्र में आज सर्वत्र अधिकाधिक पनपता जा रहा है,उसके फलस्वरूप वर्तमान राष्ट्र-व्यापी उत्कट चारित्र्य संकटकाल में जो खेदजनक परिणाम सामने आए हैं, उनकी चर्चा करते हुए उक्त साप्ताहिक में लिखा गया है—"परीक्षा में सफल होकर उपाधि प्राप्त कर लेना ही प्रमुख उद्देश्य तथा एकमात्र उत्कट लालसा रह गई है। परीक्षकों को तदर्थ (परीक्षा में सफलता-प्राप्ति के हेतु) घूंस देने तथा यों पटाए गए सौदों के बारे में अपने मित्रों के साथ विचार-विमर्श करने में भी साधारण व्यक्ति को कहीं कोई हिचक नहीं होती है।" उनके ऐसे नैतिक पतन की गाथाओं के प्रसार से आदरणीय गुरु-जन के प्रति छात्रों के मनों में अवज्ञा के अंकुरों का फूटना अनपेक्षित नहीं है। पुनः स्थानीय वस्तु-स्थिति से सुपरिचित एक सुयोग्य शिक्षा-शास्त्री ने कुछ समय पहिले यह चेतावनी भी दी थी कि "प्राध्यापक वर्ग की विद्या-मूलक योग्यता के स्तर यदि ऊंचे नहीं उठाए जावेंगे तो उनके और छात्रों के बीच पारस्परिक प्रति-कूलता उत्पन्न होना सर्वथा अनिवार्य ही है।" परंतु उसकी भी उपेक्षा अनुशासन-विहीनता की आग में घी का काम करती रही है।

सुदूर पहाड़ों पर जलती आग हर किसी को देख पड़ती है, किन्तु सर्वत्र ज्योति प्रसारित करने वाला दिया स्वयं भी 'दिया तले अंधेरा' से अनभिज्ञ ही रहता है। त्रेतायुग से प्रारम्भ आक्षेपों की धोबी-प्रवृत्ति आज तो अत्यधिक उभर रही है। तथापि सब ही विश्वविद्यालयों से सैकड़ों कोसों दूर देहात में बैठा, और सच-झूठ के चार अंगुल के अंतर वाले तथ्य से सुपरिचित मुझ-सा व्यक्ति तत्संबंधी कोई अनधिकार चर्चा कैसे करे ? परन्तु स्पष्ट

तथा इस अति विस्फोटक परिस्थिति में समय की मांग यही है कि विद्या-मूलक ज्ञान-साधना के अनुकूल समुचित स्थिति-निर्माण के हेतु हम सब आत्म-निरीक्षण कर अधिकतम त्याग-बलिदान से भी नहीं हिचकें। देश तथा भावी पीढ़ी का ही नहीं हमारा अपना सही हित भी इसी में है।

तत्संबंधी कुछ विशिष्ट ब्योरों या कई एक छोटी-मोटी बातों को लेकर थोड़ा-बहुत मतभेद हो सकता है, परन्तु यह एक सर्वमान्य कठोर तथ्य है कि शिक्षा के स्तर वस्तुत: निरन्तर गिरते जा रहे हैं, जिसके फलस्वरूप वर्तमान शिक्षार्थियों में ही नहीं इस पिछले युग भर में शिक्षा-प्राप्त होनहार नव-युवकों में भी आत्मविश्वास की बड़ी कमी पाई जाती है। इस वस्तु-स्थिति का जो स्थायी दुष्प्रभाव इतिहास के अध्ययन, अध्यापन तथा ऐतिहासिक शोध पर भी पड़ रहा है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है, क्योंकि यों ऐतिहासिक ज्ञान-गंगा का पवित्र प्रवाह अवरुद्ध ही नहीं होने लगा है, वह अधिकाधिक कलुषित भी होता जा रहा है, तथा तत्संबंधी ज्ञान-साधना अधिकतर ऊपरी दिखावा अथवा धोखा-धड़ी मात्र बनती जा रही है। इस शोकपूर्ण निराशाजनक परिस्थिति से मुक्ति पाने के लिये हमें पूर्ण परिश्रम गहरी लगन तथा एकनिष्ठ समर्पित भावना के साथ ज्ञान-साधना में शीघ्रातिशीघ्र जुट जाना चाहिये।

अपने जीवन के अंतिम संदेश में पूज्य ज्ञान-साधक आचार्य यदुनाथ सरकार ने जो अतिप्रेरक उद्बोधन दिया था उसमें प्रस्तुत ज्वलंत अनुकरणीय आदर्श को आत्मसात् कर उसे यथासंभव क्रियान्वित करने के लिये हमें तत्काल कटिबद्ध हो जाना चाहिये। आचार्य यदु-नाथ सरकार का निर्देशन था—

"हमारे लिये सबसे अधिक आवश्यक है सत्य-निरूपण की सुमुज्ज्वल ज्योति तथा अपने लक्ष्य के प्रति कीर्ति और आर्थिक लाभ से सर्वथा विरक्ति पूर्ण मतांध एकनिष्ठा, जो सच्चे ज्ञान-साधक के लक्षण हैं। ऐसा ही ज्ञान साधक अपने देश वासियों की सहज सुलभ प्रशंसा से संतुष्टि हो जाने अथवा यत्र-तत्र स्थापित किये जा रहे छोटे-मोटे विश्वविद्यालयों से सम्मान प्राप्त करने के प्रलोभनों से ऊपर उठ सकेगा। सच्चा ज्ञान-साधक ज्ञान:संसार के उस लोकतन्त्र का नागरिक है, जो देशों, प्रांतों और भाषाओं की संकीर्ण सीमाओं से आबद्ध नहीं होता है, और सर्व श्रेष्ठ विद्वानों के अधिकरण से ही अपने विद्यार्थियों का परीक्षण करवाता है। उसी अधिकरण से मान्यता प्राप्त करना ही प्रत्येक संशोधक की गूढ़तम मह-त्वाकांक्षा होनी चाहिये।"

× × ×

यों यहां कहने को तो और भी बहुत कुछ है। परन्तु पहिले ही मैंने आपका बहुत समय ले लिया है, अत: अब यहीं अपनी बात को समाप्त कर देना मुझे उचित जान पड़ता

है। तथापि अपना यह भाषण समाप्त करने से पहिले मैं यहां समुपस्थित इतिहासज्ञों, प्राध्यापकगण और अन्य सभी संशोधकों से उन सारी अप्रिय कटु बातों के लिये करबद्ध क्षमा चाहूंगा, जो मैंने यदा-कंदा पहिले कही हैं और जिनसे किन्हीं की भावनाओं को यत्किंचित् भी चोट पहूंची हो। ये वे कुछ बातें हैं, जो बरसों से मेरे मन में सदैव खटकती रही हैं, तथा जिन्हें मैं सच्ची ज्ञान-साधना, ज्ञान-सागर की गहराई में वृद्धि तथा ज्ञान-संसार की परिधि के विस्तार के लिये बहुत ही बाधक और सर्वथा अहितकर मानता रहा हूं। मैं प्रतिज्ञा-बद्ध हूं कि विद्यामूलक बातों में मैं किसी बात पर कदापि यत्किंचित भी समझौता नहीं करूंगा। अतः उस पुरातन वाक्य 'दोषाः वाच्याः गुरोरपि' को क्रियान्वित करने में मैं कभी बिल्कुल हिचकिचाता नहीं हूं। यही कारण है कि इस उपयुक्त अवसर पर मैंने उन्हीं सारी बातों को आपके सम्मुख रखना अत्यावश्यक समझा, और यहां उनकी चर्चा कर दी है।

अन्त में अपने समुत्साही नवयुवा साथियों को भी सही दिशा में आगे बढ़ने को पूर्णतया प्रोत्साहित करते हुए उनसे मैं यही अनुरोधपूर्ण आग्रह करूंगा कि मुझ से विद्यार्थी-संशोधकों की भूलों और त्रुटियों को सुधार सकने के लिये अत्यावश्यक योग्यता प्राप्त कर इस ज्ञान-यज्ञ में समुचित योग-दान दे सकने की क्षमता तथा अधिकार वे अवश्य ही प्राप्त कर लें। कालांतर में यह भार उन्हें ही उठाना है। मैं तो बहुत ही इच्छुक हूं कि वे मेरी चुनौती स्वीकार कर दुगने-चौगुने उत्साह से अत्यावश्यक सूझ-बूझ, पूरी लगन और अधिकतम तत्परता के साथ ज्ञान-साधना में लग जावें और उनके इन सारे सत्प्रयत्नों में उन्हें स्वयं मेरा हार्दिक सहयोग तथा भरपूर क्रियात्मक समर्थन प्राप्त हो सकेगा। अपने प्रियतम शिष्य को भी मैंने सदैव यही कहा है कि शोध और इतिहास के क्षेत्र में मुझ से भी आगे बढ़ जाने के प्रयत्नों में वह यत्किंचित् भी नहीं हिचके। उसके हाथों मेरी पराजय ही मेरी श्रेष्ठतम चिरस्थायी गौरव पूर्ण विजय होगी। मैं तो सदैव समुत्सुक हो 'शिष्यात् इच्छेत् पराजयम्'। इससे अधिक मैं उन्हें और क्या आश्वासन दे सकता हूं?

रघुवीर निवास, सीतामऊ

'रूपगंधा'

डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' की नवीन काव्य-कृति
प्रकाशक : संघी प्रकाशन, उदयपुर, पृष्ठ ८० मूल्य १० रु०

डॉ० दिनेश ने साहित्य की सभी विधाओं में सफलतापूर्वक लिखा हैं। अब तक उनके लगभग ६० ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। काव्य के क्षेत्र में उनकी 'सारथी' (महाकाव्य) मधुरजनी, जलती रहे मशाल, अहं मेरा गेय आदि १४ कृतियां प्रकाश में आई हैं। 'रूपगंधा' इसी श्रृंखला की आगे की कड़ी है। यह डॉ० दिनेश का तीसरा काव्य है जिसे राजस्थान साहित्य अकादमी ने एक हजार रुपयों के काव्य-पुरस्कार से इस वर्ष सम्मानित किया है।

'रूपगंधा' में डॉ० दिनेश की ४१ कविताएं संकलित हैं। इस पुस्तक के प्रथम खण्ड 'रूपगंधा' में २८ सुमधुर गीत हैं और द्वितीय खण्ड "नई सुबह की धूप" की १३ कविताओं में कुछ गीत तथा कुछ मुक्त-छंद कविताएं हैं। 'रूपगंधा' नामक प्रथम गीत के आधार पर इस संग्रह का नामाकरण किया गया है किन्तु यह शब्द अपने अर्थ की सुमधुर गन्ध लेकर सभी कविताओं में समाया हुआ है।

कवि आस्था और विश्वास का स्वर लेकर अपनी अनुभूतियों में प्रवेश करता है। वह प्रकृति के माध्यम से जीवन के शाश्वत संगीत की तलाश करता है और उस संगीत में जीवन की जिजीविषा को ध्वनित कर उठता है। प्रेम और सौन्दर्य की मधुर भूमिका पर वह जीवन के शाश्वत तत्वों का साक्षात्कार करता है। उसकी आस्था अरूप है, किन्तु आत्मा में गन्ध रूप में वही व्याप्त हो रही है। प्राणों में उसी की महक समा रही है कामना में वही श्वास-चंदन बनकर रमी हुई :—

> तुम महकती प्राण में
> मन में सिहरती हो
> × × श्वास-चंदन बन रमी हो
> कामना में तुम।

'रूपगंधा' का भाव-पटल बहुत व्यापक और विस्तीर्ण है। जीवन और प्रकृति की सहज और मन-मोहक छवियों के जैसे चित्र 'रूपगंधा' में मिलते हैं, वैसे चित्र गत दस वर्षों की हिन्दी कविता में दुर्लभ हैं। आज जब गीत की काव्य-क्षेत्र में सर्वत्र उपेक्षा हो रही है, उसे पुन: प्रतिष्ठा देने के लिए जो कतिपय नए प्रयास सामने आए

हैं, उनमें डॉ० दिनेश का यह संग्रह एक संग्रहणीय कृति माना जाएगा। सरल शब्दावली में जीवन और प्रकृति के विविध रूपों को बांध लेने वाली ऐसी प्रभाव-पूर्ण अभिव्यंजना हिन्दी-काव्य-धारा के लिए गर्व का विषय बन जाती है। कुछ पंक्तियां देखिए :—

बासंती डालियों से
झूलती हवाएं,
फूलों के पास, चलो—
गन्ध में नहाएँ।

किरणों के जालों में
काँप रहे रंग।
आओ कुछ देर उड़ें
परियों के संग।

यौवन के भार झुकी
झूमती लताएँ।

द्वितीय खण्ड 'नई सुबह की धूप' में सामयिक जीवन की विविध समस्याओं से उत्पन्न चिन्ता ने कवि की अनुभूति को अभिव्यक्ति दी है। 'घेरावों का वेद' 'बम की गुफाओं में', 'दुर्भिक्ष यात्रा', 'उठो आग के मेघ', आदि कविताएँ युगीन संघर्ष-जन्य मार्मिक वेदना का आस्था-मय आख्यान हैं। अत्यन्त सरल शब्दावली में कवि सामयिक परिवेश को गहन वेदना के साथ प्रस्तुत करता है और मानव की नियति से उसके भविष्य का साक्षात्कार करता है। उसकी पीड़ा है कि :—

यह चूल्हा कल से जला नहीं
इस घर से निकला धुंआ नहीं
चक्की ही आटा खा बैठी
पानी सारा पी गए कुएं।

रूप की गंध का अगर गायक जब युग की गहन वेदना को वाणी देने लगता है, तब उसकी लेखनी की शक्ति स्पष्ट हो उठती है। वह जीवन के माधुर्य का गायक है और नहीं चाहता कि मानव-जिजीविषा अभावों और विवशताओं के अंधेरे में समाप्त हो जाए। 'रूपगंधा' की कविताएं 'जिजीविषा' के इन्हीं आयामों की शाश्वत उपलब्धियां हैं। भाव, विचार, अभिव्यंजना, शिल्प और भाषा—सभी स्तरों पर इतना सशक्त एवं सु-संघटित काव्य किसी भी भाषा के साहित्य का गौरव-ग्रन्थ कहा जा सकता है।

पुस्तक की छपाई एवं आकार सुन्दर है। मूल्य १० रुपये हैं, जो आज की महंगाई को देखते हुए ठीक ही है।

डॉ० पृथ्वीराज मालीवाल
४, अशोक नगर, उदयपुर (राज०)

संस्थान का नवीनतम प्रकाशन

महाकवि रणछोड़ भट्ट प्रणीतम्

राजप्रशस्तिः महाकाव्यम्

सम्पादक—डॉ० मोतीलाल मेनारिया

यह विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में महाक वि रणछोड़ भट्ट द्वारा संस्कृत भाषा में लिखा गया २४ सर्गों का ऐतिहासिक महाकाव्य है, जो प्रसिद्ध झील राजसमन्द के नोचौकी घाट पर २५ प्रस्तर शिलाओं पर उत्कीर्ण है। इस प्रकार यह भारत भर में स से बड़ा शिलालेख तथा शिलाओं पर खुदा हुआ सबसे बड़ा ऐतिहासिक महाकाव्य है।

इस महाकाव्य का मुख्य विषय मेवाड़ के महाराणा राजसिंह (वि० सं० १७०९-१७३७) का जीवन-चरित्र है। प्रथम पांच सर्गों में मेवाड़ का प्राचीन इतिहास भी दिया गया है। महाराणा राजसिंह के शासन प्रबन्ध एवं समकालीन ऐतिहासिक व सांस्कृतिक स्थितियों के अध्ययन की दृष्टि से ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं संग्रहणीय है। संस्कृत भाषा व साहित्य की दृष्टि से भी ग्रन्थ का अपना विशिष्ट स्थान है।

ग्रन्थ के मूलपाठ के साथ-साथ हिन्दी में भावार्थ भी दिया गया है। प्रारम्भ में विस्तृत भूमिका व अन्त में परिशिष्ट ग्रन्थ की अन्य विशेषताएं है।

वर्तमान स्वरूप में ग्रन्थ का यह प्रथम प्रकाशन है।

पृष्ठ ३४२

मूल्य ४०) रुपये

प्राप्ति स्थान:—

साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर

साहित्य संस्थान राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर के लिये उमाशंकर शुक्ल अध्यक्ष, साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर द्वारा प्रकाशित एवं नारायणलाल गुर्जरगौड़ द्वारा विद्यापीठ प्रेस, उदयपुर में मुद्रित।